द्वितीय खण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन ।

श्रीश्रीविश्वनाथकी अपार कृपासे 'प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत' का यह द्वितीय खण्ड भी प्रकाशित हो गया। विषयके गुरुत्वके कारण इसके प्रकाशनमें कुछ कालविलम्ब होनेपर भी हिन्दी साहित्य-जगत् तथा आधुनिक शास्त्रजगत्में यह एक अभिनव वस्तु बन गयी है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसमें प्राचीन नवीन सभी प्रकारके विचार तथा दोनोंका सामञ्जस्य सुन्दरताके साथ दिखाया गया है और वर्त्तमान धर्मसंकटके समय हिन्दु-जाति तथा उसके नेताओंका क्या क्या कर्त्तव्य होना चाहिये उसपर भी विशेष विवेचन किया गया है। राजनैतिक जगत्में अनेक आन्दोलनोंके घात प्रतिघातसे कैसी सङ्कटमय स्थिति आज कल हो रही है, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। इसलिये पूज्यपाद महर्षियोंकी भविष्यत् धारणापर ध्यान रखते हुए इस कठिन समस्याके समाधानकी भी विशेष चेष्टा की गयी है। सामाजिक संस्कार नामक प्रबन्धमें यद्यपि सभी विषय बहुत ही विचार तथा दूरदर्शिताके साथ लिखा गया है तथापि सम्भवतः सनातनधर्मजगत्में कहीं कहीं उसकी सब बातें अभी स्वीकृत नहीं होंगी। इस कारण उस प्रबन्धमें वर्णित सिद्धान्तोंके लिये ग्रन्थकार ही उत्तरदायी हैं, श्रीभारतधर्म-महामण्डल अथवा अन्य कोई सम्मिलित संस्था नहीं, यही तथ्य समझने योग्य है। पहिले खण्डमें ही बताया गया है कि, यह ग्रन्थ बी० ए० क्लासके शिक्षार्थियोंके धार्मिक पाठ्यपुस्तकरूपसे प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके मनोयोगके साथ स्वाध्याय तथा मनन द्वारा समस्त हिन्दु-जनता विशेष लाभवान् हो सकेगी इसमें सन्देह नहीं है। सहृदय पाठकवर्ग ग्रन्थकी आवश्यकताको समझकर इसे यदि ध्यान देकर पढ़ेंगे, तो ग्रन्थकार अपने विपुल परिश्रमको सफल समझेंगे।

काशीधाम
कार्त्तिकी पूर्णिमा
सं १९८२ वि

निवेदक—
श्रीकवीन्द्र नारायण सिंह,
अध्यक्ष, श्रीभारतधर्ममहामण्डल।

विषय-सूची।

प्रवीणा दृष्टिमें नवीन भारत

नारी-धर्म ।

आर्य जातिकी जातीय मौलिकताको रक्षाके लिये वर्ण धर्म एवं आश्रम धर्मकी तरह नारी धर्मके भी अक्षुण्ण रखनेका विशेष प्रयोजन है इसलिये प्रकृत ग्रन्थके प्रथम खण्डमें वर्ण धर्म और आश्रम धर्मपर विशेष रूपसे विचार करनेके अनन्तर अब द्वितीय खण्डमें नारी धर्मपर विचार किया जायगा।

विशेषतः पूर्वापर कारण और नारी-धर्मका मौलिक रहस्य जितना ही सोचा जायगा उतना ही निश्चय होगा कि चाहे वर्ण धर्म हो चाहे आश्रमधर्म हो, या चाहे आर्य जातिकी पवित्रताकी सुरक्षा हो यह सभी बातें नारी जातिके स्वधर्म पालन तथा पवित्रता रक्षापर ही निर्भर रहती हैं। यही कारण है कि वर्णधर्म और आश्रमधर्मके अध्याय वर्णनके अनन्तर तथा इस खण्डके प्रारम्भमें ही इस अध्यायका वर्णन किया जाता है।

नवीन भारतमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिके सदृश नारीधर्मके विषयमें भी नाना सन्देह तथा अज्ञान उत्पन्न हो रहे हैं। कोई तो स्त्री पुरुषके भेदहीको भूलकर दोनोंका आचार तथा अधिकार एक कर देना चाहते हैं, कोई शिक्षा, विवाह, संस्कार आदि अनेक विषयोंमें नवीन विदेशीय प्रथाओंका प्रचलन करना चाहते हैं। इस प्रकारसे अनेक सन्देहजालका विस्तार होनेके कारण वर्तमान देशकालपर ध्यान रखते हुए पूज्यपाद प्रवीण पितामह ऋषि महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार नारीधर्मके सभी अङ्गोंका पूर्ण विवेचन तथा तत्त्वनिर्णय नवीन भारतमें

अत्यावश्यक जान पड़ता है। इसलिये सृष्टिके आदि कारण प्रकृति पुरुषके मौलिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए नीचे क्रमशः नारीधर्मका विस्तृत स्वरूप बताया जाता है।

धर्मचन्द्रिका नामक ग्रन्थमें नारीधर्म पर संक्षेपमें कुछ विवेचन किया गया है जिसके पाठ करनेसे इस विशेष धर्मके गंभीर तत्वका कुछ अनुभव अवश्य ही हो जायगा। स्त्रीकी आदि सत्ता प्रकृति और पुरुषकी आदिसत्ता अनादि पुरुष ब्रह्म हैं। आर्यशास्त्रमें प्रकृतिकी सत्ता अनादि पुरुष ब्रह्मसे पृथक् नहीं मानी गयी है। जैसे कोई व्यक्ति और उसके बोलनेकी शक्तिमें भेद नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म और उसकी शक्तिरूपिणी मूलप्रकृति महामायामें भेद नहीं हो सकता। पूर्ण प्रकृति परमात्मामें विलीन रहती है। सृष्टिदशा परिणाम दशा है इसलिये अपूर्णदशा है। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

सृष्टिके समय परमात्मा अपने शरीरको द्विधा विभक्त करके आधेमें पुरुष बने और आधेमें स्त्री बनकर और प्रकृतिमें ही विराट् सृष्टिकी लीला विस्तार की। श्रुति भी ऐसी ही आज्ञा करती है कि सृष्टिके पहले परमात्मा एक ही रहते हैं और सृष्टिदशामें उनमेंसे ही प्रकृति निकलकर समस्त सन्तान प्रसव करती है और अन्तमें लीलाकी पूर्णता होनेपर पुनः परमात्मामें लय हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि:—

सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत् । स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ । स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवताम् । तस्मादिदमर्द्धबृगलमिव स्व इति

सोऽयमिदं याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः। स्त्रिया पूर्य्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।

सृष्टिके पहले आत्मा एक ही थे इसलिये रमण न कर सके। एकाकी रमण नहीं हो सकता है इसलिये उन्होंने द्वितीयकी इच्छा की और स्त्री पुरुष जैसे साथमें मिलकर रहते हैं ऐसा सङ्कल्प किया। उससे परमात्मा द्विधा विभक्त हो स्त्री व पुरुष बन गये। इसलिये यह शरीर अर्द्धचणककी तरह रहता है। विवाहके द्वारा स्त्री इसे पूर्ण करती है जिससे सृष्टि होने लगती है। संसार प्रकृति पुरुषात्मक है। पुरुषमें परमात्माकी सत्ता और स्त्रीमें प्रकृतिकी सत्ता विद्यमान है। पुरुषसे पृथक् होनेपर ही प्रकृतिमें परिणाम हुआ करता है। जबतक प्रकृतिपरिणाम है तभी तक सुख दुःख मोहात्मक संसार है, प्रवृत्तिका लीलाविलास है और सर्व्वत्र ही अपूर्णता है। जब तक प्रकृति पुरुषसे पृथक् रहती है तब तक अपूर्ण ही रहा करती है। इस अपूर्ण जीवप्रकृतिको पूर्ण करके परमात्मामें लय करनेके लिये ही जीवसृष्टिका विस्तार है। प्रकृतिका यह संसार पुरुषमें लय होनेके लिये ही अग्रसर होता है इसलिये प्रकृतिका वही धर्म्म है कि जिससे पुरुषमें लय हो सके। इस गम्भीर विज्ञानको स्मरण करके ही महर्षियोंने नारीधर्म्मका उपदेश किया है। स्त्रीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रकृति पुरुषसे ही अर्द्धाङ्गिनी रूपसे निकलती है और पुरुषमें ही लयको प्राप्त होती है। अर्द्धाङ्गिनी होनेसे ही दोनोंमें समान शक्ति है। शक्तिकी समानता होनेसे ही शक्ति सङ्घर्ष द्वारा उत्तम धर्ममयी सृष्टि हो सकती है और अन्तमें प्रकृति पुरुषमें लय हो सकती है। लय होनेके लिये जो कुछ उपाय है वही धर्म्म है। इसलिये जिन जिन उपायोंसे नारी अपनेको उन्नत करती हुई पुरुषमें लयको प्राप्त हो सकती है वे ही सब उपाय नारी धर्म्म हैं। किसीमें किसी वस्तुको लय करदेनेके लिये "तन्मयता" चाहिये; अर्थात्

"तन्मयता" न होनेसे कोई अपनेको दूसरेमें लय नहीं कर सकता है क्योंकि अपनी पृथक् सत्ताका ज्ञान जबतक रहे तबतक कोई दूसरेमें लय नहीं हो सकता है। इसलिये जो धर्म नारीको पुरुषमें "तन्मय" होना सिखावे वही नारीधर्म है। पातिव्रत्यधर्म ही स्त्रीको पूर्ण उन्नत करता हुआ अन्तमें पतिमें तन्मयता प्राप्त करा सकता है इसलिये पातिव्रत्य धर्म ही स्त्रीका एकमात्र धर्म है।

पूर्वोक्त प्रकृतिपुरुषविज्ञानपर संयम करनेसे और भी सिद्धान्त निश्चय होगा कि पुरुषके धर्मके साथ स्त्रीके इस धर्मका विशेष अन्तर है। पुरुष पूर्ण है इसलिये परिणामहीन है और प्रकृति अपूर्ण है इसलिये चञ्चला और परिणामिनी है। पूर्ण पुरुषमें अपूर्ण प्रकृतिका आवरण ही पुरुषका बन्धन है। प्रकृतिके साथका सम्बन्ध त्याग करके उसके आवरणसे मुक्त होना ही पुरुषके लिये मुक्ति है इसलिये त्यागमूलक यज्ञधर्म ही पुरुषका धर्म है। कर्ममीमांसा और गीतामें कहा है कि—

यागपरः पुरुषधर्मः (कर्ममीमांसा)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् (गीता)

पुरुषधर्म यज्ञप्रधान है। यज्ञमें अधिकारवान् प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने पहले उनको यज्ञकी ही आज्ञा की थी। उन्होंने उनको कह दिया था कि तुम्हारी उन्नति व मनोरथपूर्त्ति यज्ञसे ही होगी। पुरुष यज्ञ द्वारा अपनी सत्ताको विराट्से मिलाते हुए स्थूल-सूक्ष्म शरीरावच्छिन्न सुखदुःखादि भोगोंको त्याग करके प्रकृतिसे-पृथक् हो सकते हैं। अपूर्ण प्रकृतिका आवरण इस प्रकारसे नष्ट होनेपर पुरुष अपने ज्ञानमय पूर्णस्वरूपमें प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। यही पुरुषकी मुक्ति है। परन्तु प्रकृतिकी मुक्ति इस प्रकारसे नहीं हो सकती है क्योंकि जिसकी सत्ता ही अपूर्णतामय है वह किसीसे

पृथक् होकर मुक्त नहीं हो सकती है अपिच पूर्णमें लय होकर ही मुक्त हो सकती है। अपूर्ण वस्तु पूर्णमें लय होकर ही पूर्ण हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती। अपूर्ण व्रजगोपियाँ पूर्ण भगवान्में तन्मय होती हुई उनमें लय होकर ही पूर्ण होगयी थीं। अपनी सत्ताको भूल कर जब अपनेको कृष्ण समझने लग गयी थीं तभी उनको पूर्ण पुरुष कृष्णका दर्शन हुआ था। तैलपायी कीट (तिलचट्टा) भ्रमरकीट (कुम्हार) में तन्मय होकर जब अपनी सत्ताको भूल जाता है तभी भ्रमरकीट बन सकता है। इसलिये अपूर्ण नारी पूर्ण पुरुषमें तन्मय व लय होकर ही पूर्णताको प्राप्त कर सकती है अतः जो धर्म नारीको पुरुषमें तन्मय व लय होना सिखावे वही यथार्थ नारीधर्म्म है और उससे विपरीत हो तो नारीके लिये अधर्म्म है। तपःप्रधान पातिव्रत्य धर्म्म ही नारीको पुरुषमें तन्मयता व लय होना सिखता है। स्वाभाविक चञ्चल इन्द्रियवृत्तियोंको विषयोंसे रोकनेको तप कहते हैं। नारी तपोमूलक पातिव्रत्य धर्म्मके द्वारा अपनी समस्त चेष्टाओंको अन्य ओरसे "प्रत्याहार" करके पतिमें ही लय कर देती है इसलिये तपोमूलक पातिव्रत्य धर्म्म ही नारीका एकमात्र धर्म्म है। कर्म्ममीमांसामें लिखा है कि:—

तपःप्रधानो नार्य्याः ।

तपःप्रधान पातिव्रत्य ही नारीको पूर्णताके लिये एकमात्र धर्म्म है। यही पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता है कि पुरुषका धर्म्म यज्ञप्रधान और नारीका धर्म्म तपःप्रधान है।

तपस्विनी न होनेसे स्त्री अपने धर्म्मको नहीं पालन कर सकती है। चण्डी (सप्तशती) में देवीकी स्तुति करते हुए देवताओंने कहा है कि:—

विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकलाः जगत्सु ।

समस्त विद्या व समस्त स्त्रियाँ प्रकृतिमाताकी ही रूप हैं। देवी-भागवतमें कहा है कि:—

या याश्च ग्रामदेव्यः स्युस्ताः सर्वाः प्रकृतेः कलाः।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः॥

सभी ग्रामदेवियाँ और समस्त विश्वस्थिता सभी स्त्रियाँ प्रकृतिमाताकी अंशरूपिणी हैं। प्रकृतिके दो रूप हैं, यथा-विद्या और अविद्या। देवीभागवतमें लिखा है कि:—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव !।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः॥

प्रकृतिके विद्या और अविद्या दो रूप हैं। विद्याके द्वारा जीवोंकी मुक्ति व अविद्याके द्वारा बन्धन होता है। प्रत्येक स्त्री जब प्रकृतिकी रूप हैं तो स्त्रीमें भी विद्या और अविद्या दो भाव हैं। विद्या सत्त्वप्रधान भाव और अविद्या तमःप्रधान भाव है। विद्याभाव की पुष्टि होने से स्त्री साक्षात् जगदम्बा हो सकती है; किन्तु अविद्याभावकी पुष्टिसे स्त्री पापिनी व तमोमयी बनकर संसारमें अनर्थ करती है और अपना भी इहलोक व परलोक बिगाड़ती है। देवीभागवतमें लिखा है कि:—

सत्त्वांशाश्चोत्तमा ज्ञेयाः सुशीलाश्च पतिव्रताः।
अधमास्तमसश्चांशा अज्ञातकुलसम्भवाः॥
दुर्मुखाः कुलटा धूर्ताः स्वतन्त्राः कलहप्रियाः।
पृथिव्यां कुलटा याश्च स्वर्गे चाऽप्सरसां गणाः।

प्रकृतिके सत्त्वांश या विद्याभावसे उत्पन्न स्त्रियाँ उत्तमा हैं। वे सुशीला व पतिव्रता होती हैं। परन्तु तम या अविद्याके अंशसे उत्पन्न स्त्रियाँ अधमा हैं। उनके कुलका ठिकाना नहीं रहता है वे दुर्मुखा, कुलनाशकारिणी, धूर्ता, स्वतन्त्रा व कलहप्रिया होती हैं।

ऐसी स्त्रियाँ पृथ्वीमें कुलटा और स्वर्गमें अप्सरागण हैं। ये विद्या और अविद्यारूप प्रधान दो भाव प्रत्येक स्त्रीमें अन्तर्निहित हैं। धर्म्मका लक्ष्य जब जीवको अभ्युदय व निःश्रेयस देना है तो स्त्रीके लिये वही धर्म्म होगा जिससे उसके अन्तर्निहित विद्याभावकी वृद्धि व अविद्याभावका नाश हो। तपोमूलक पातिव्रत्यधर्म्म ही स्त्रीमें विद्या भावकी पूर्णता और अविद्याभावका नाश कर सकता है इसी लिये पातिव्रत्यधर्म्मको इतनी महिमा महर्षियोंने वर्णन की है। तपस्विनी पतिव्रता सती अपने शरीर, मन, प्राण व आत्माको समस्त संसारकी वस्तुओंसे हटाकर पतिमें ही लवलीन करती हुई पूर्णताको प्राप्त कर सकती है। यही नारीजातिके लिये परम पवित्र पातिव्रत्यधर्म्म है।

इसलिये ही नारीजातिके लिये पातिव्रत्यधर्म्मकी ऐसी तपोमूलक कठिन आज्ञा महर्षियोंने दी है। बिना इस धर्मके पूर्णपालन किये स्त्री जाति न तो पुरुष योनि ही प्राप्त कर सकती है और न मुक्ति-पदको ही पा सकती है। अतः इस पातिव्रत्यके अनुकूल जो कुछ शिक्षा व विधि है वही नारीकेलिये धर्म्म है और उससे विपरीत जो कुछ है सो अधर्म्म है। पिता माता व पति आदि सभीका कर्त्तव्य है कि नारीको कन्या दशासे लेकर मृत्युपर्य्यन्त ऐसी ही शिक्षा देवें। आर्य्यशास्त्रोंमें कन्याके लिये पालनीय जो कुछ विधि बतायी गयी है और युवती स्त्री व वृद्धाके लिये भी जो कुछ उपदेश किया गया है सभी इस विज्ञानके अनुकूल हैं। इन सबोंका वर्णन क्रमशः नीचे किया जाता है।

नारीजीवनको साधारणतः तीन अवस्थाओंमें विभक्तकर सकते हैं। यथा—*कन्या, गृहिणी व विधवा।* नारीका एकमात्र धर्म्म पातिव्रत्य होनेसे इसी व्रतकेलिये शिक्षासे लगाकर पूर्त्ति तक उक्त तीनों अवस्थाएं हुआ करती हैं। कन्यावस्थामें पातिव्रत्यकी शिक्षा, गृहिणी अवस्थामें उसकी चरितार्थता और विधवावस्थामें चरम परीक्षा द्वारा उसका उद्यापन होता है।

कन्यावस्थाके कालके विषयमें शास्त्रोंमें कहा है कि:—

> यावन्न लज्जिताऽङ्गानि कन्या पुरुषसन्निधौ।
> योन्यादीनि न गूहेत तावद्भवति कन्यका॥
> यावच्चैलं न गृह्णाति यावत् क्रीडति पांशुभिः।
> यावद्दोषं न जानाति तावद्भवति कन्यका॥

जबतक पुरुषके निकट आनेमें लज्जिता होकर स्त्री अपने अङ्गों-को आवृत न करे तभीतक कन्यावस्था समझनी चाहिये। जब तक स्त्री वस्त्र ग्रहण नहीं करती है, धूलि आदिसे खेलती रहती है और कामादि विषय दोष कुछ भी नहीं जानती है तभीतक उसकी कन्या-वस्था है। इस अवस्थामें माता पिताका कर्त्तव्य है कि कन्याको इस प्रकारकी शिक्षा देवें जिससे वह भविष्यत्‌में पतिव्रता, सती, अच्छी माता व धार्मिक रमणी बन सके। सकल शास्त्र ही स्त्रियों की शिक्षाके लिये आज्ञा देते हैं। यथाः—

> कन्याऽप्येवं पालनीया शिक्षणीयाऽतियत्नतः।

पुत्रकी तरह कन्याको भी अतियत्नसे पालन व शिक्षादान करना चाहिये। परन्तु शिक्षा देनेके पहले कौनसी शिक्षा कन्याके लिये अनुकूल हो सकती है सो अवश्य विचार करने योग्य है क्योंकि अविचारके साथ विपरीत शिक्षा देनेसे हानि हो सकती है। अतः इस विषयमें विचार किया जाता है।

यह बात पहले ही कही गयी है कि उन्नति बीजवृक्षन्यायसे हुआ करती है। जिस प्रकार बीजमें भावी वृक्षके समस्त उपादान सूक्ष्म-रूपसे रहते हैं, केवल अनुकूल भूमिमें रोपण होनेसे वे सब उपादान परिस्फुट होकर पूर्णशरीर वृक्षको उत्पन्न करते हैं; ठीक उसी प्रकार संसार प्रकृति पुरुषात्मक होनेसे प्रत्येक पुरुषमें पुरुषशक्तिका बीज और प्रत्येक स्त्रीमें प्रकृति शक्तिका बीज निहित रहता है। स्त्री व पुरुषोंकी उन्नति उसी अन्तर्निहित बीजको वृक्षरूपमें परिणत करनेसे

ही होती है। शिक्षाका लक्ष्य उसी उन्नतिका सम्पादन करना है इस-लिये पुरुषकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे पुरुषके अन्तर्निहित पुरुषत्वबीज वृक्षरूपमें परिणित हो और स्त्रीकी भी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे उसके अन्तर्निहित प्रकृति शक्तिका बीज वृक्षरूपेण परिणत हो। दोनों शक्ति पृथक् पृथक् हैं इसलिये शिक्षा भी पृथक् पृथक् होनी चाहिये। पुरुषमें पुरुषभावकी पूर्णता करना पुरुषशिक्षाका लक्ष्य है; उसी प्रकार स्त्रीमें स्त्रीभावकी पूर्णता करना स्त्रीशिक्षाका लक्ष्य होना चाहिये। स्त्रीको पुरुषप्रकृति बनाना या पुरुषको स्त्री-प्रकृति बनाना शिक्षाका लक्ष्य नहीं होना चाहिये क्योंकि प्रकृतिके प्रतिकूल होनेसे ऐसा करना अधर्म व असम्भव है। माताको पूर्ण माता बनाना ही माताकेलिये शिक्षा है, उसको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता व अधर्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" होजायगा क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि प्रकृतिविरुद्ध व संस्कार विरुद्ध होनेसे वह स्त्री पुरुषभावको तो कभी प्राप्त कर नहीं सकेगी अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खोदेगी जिससे उसके व संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभावमें तन्मयताही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकरही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्री-प्रकृतिसे विरुद्ध है इसीलिये मनुजीने कहा है कि:—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि स्त्रियोंको सदाही अधीन रक्खें । उन्हें स्वतन्त्रता न देवें । गृहकार्य्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्यावस्थामें पिताके अधीन रहती है । यौवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है । कभी भी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है । मनुजीके कथित इस प्रकृति पुरुषके गूढ विज्ञानका रहस्य पहलेही कहा गया है । पुरुषधर्म्मके साथ स्त्रीधर्म्मकी यह और भी एक विशेषता है कि दर्शनशास्त्रके सिद्धान्तानुसार पुरुषकी मुक्ति प्रकृतिसे पृथक् होने पर तब होती है; परन्तु प्रकृतिकी मुक्ति पुरुषमें लय होनेसे ही होती है । इसीलिये पुरुषका धर्म्म स्त्रीसे स्वतन्त्र रहना और उसके वशमें न होना ही है, स्त्रैण पुरुष बद्ध है, मुक्तिलाभ नहीं कर सकता है; परन्तु स्त्रीका धर्म्म सर्वथा पुरुषके वश व अस्वतन्त्र होना ही है क्योंकि उपासक उपास्य देवके वश होकर उनमें लय होनेसे ही मुक्तिलाभ कर सकता है, उनसे पृथक् होनेपर नहीं करसकता है । पतिदेवताके साथ स्त्रीका उपास्य-उपासकभाव है । यही पातिव्रत्यधर्म्म है । इसमें स्वतन्त्रताभाव कभी नहीं आसकता है । स्वतन्त्रताभाव आजाने से पातिव्रत्यधर्म्म नष्ट होता है और स्त्रीकी अधोगति होती है । इसमें और भी एक सांख्यदर्शनमूलक वैज्ञानिक कारण है कि पुरुषके स्वरूपमें लिन होनेसे ही प्रकृतिका लय होता है, बद्ध पुरुषकी प्रकृति लय नहीं होती है । स्त्रीमें स्वतन्त्रता पुरुषमें बन्धन उत्पन्न करती है । स्वतन्त्र स्त्री पुरुषको आधीन कर लेती है । अतः ऐसी दशामें पुरुष व स्त्री किसीकी भी मुक्ति नहीं होगी, दोनों ही बद्ध रहेंगे । स्त्री पुरुषके आधीन रहे तभी सब ओर कल्याण है । इसलिये स्त्री स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिये और बृहदारण्यक उपनिषद्का प्रमाण देकर पहले ही कहागया है कि प्रकृति पुरुषकी इच्छासे ही पुरुषसे उत्पन्न होती है । जिसकी उत्पत्ति जिसके अधीन है वह उससे स्वतन्त्र नहीं होसकता है। इसलिये पुरुषके

अधीन होना ही स्त्रीके लिये स्वाभाविक धर्म है। स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उसमें स्वतन्त्रभ्रमण, स्वतन्त्र-प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्रताके भाव आजायँगे क्योंकि पुरुषके लिये जो शिक्षा है उसमें स्वतन्त्रताका भाव भरा हुआ है। उससे पुरुषको तो लाभ है, परन्तु स्त्रीकी बहुत हानि है। अतः इस प्रकारकी शिक्षा कभी नहीं देनी चाहिये। इससे और भी एक हानि है। स्त्रीजाति स्वभावतः अभिमानिनी हुआ करती हैं। उनका यह अभिमान यदि पातिव्रत्य-मूलक हो तो इससे स्त्रियों का बहुत ही कल्याण होता है। "मेरा शरीर मन व प्राण पतिके ही चरणकमलोंमें समर्पित है, मेरा जीना उन्हींके लिये है, मैं कभी उनके सिवाय दूसरे पुरुषकी चिन्ता स्वप्नमें भी नहीं करसकती हूँ, मेरे लिये पतिके सिवाय संसारमें और कोई पुरुष ही नहीं है" इत्यादि पातिव्रत्यमूलक अभिमान जिसको "सौभाग्यगर्व" कहते हैं, स्त्रीजातिके लिये बहुत ही उन्नतिकर है। परन्तु स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उस प्रकारका अभिमान नष्ट होकर पुरुषोंके साथ बराबरी करनेका अभिमान स्त्रियोंमें होजायगा। "मैं उनसे कम किस लिये होऊँगी, उनमें मुझसे अधिक योग्यता क्या है, मैं भी विश्वविद्यालयमें परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रतिष्ठा पासकती हूँ और सब काम पुरुषकी तरह कर सकती हूँ, मुझे घरमें बाँध रखनेका उनको क्या अधिकार है" इत्यादि पातिव्रत्यधर्म्म-नाशकारी अभिमान उस प्रकारकी शिक्षाके फलरूपसे स्त्रियोंके चित्तको ग्रास करलेगा जिससे उनमें नारीभावकी सत्ता नाश होकर उनकी अधोगति होगी। अतः स्त्रीजातिको पुरुषकी तरह शिक्षा कभी नहीं देनी चाहिये। आजकल बहुत लोगोंकी प्रवृत्ति जो स्त्रियोंको इस प्रकार पुरुषकी तरह शिक्षा देनेकी ओर झुकी हुई है सो सब ऊपर लिखित कारणोंसे भ्रमयुक्त समझनी चाहिये। उनको स्त्रीप्रकृतिके साथ पुरुषप्रकृतिके प्रभेदका ज्ञान होता तो ऐसा भ्रम नहीं करते। कइयोंने तो इतना अनर्थ करना प्रारंभ कर दिया है कि

स्त्रियोंको पुरुषोंकी तरह व्यायाम आदि सिखाने लगे हैं। ऐसा करना उनके सम्पूर्ण प्रमादका परिचायक है। व्यायाम करना अच्छा है क्योंकि उससे स्थूलशरीरकी स्वास्थ्यरक्षा होती है, परन्तु स्त्रीशरीर पुरुषशरीरसे भिन्न प्रकृतिका होनेके कारण पुरुषके लिये जो व्यायाम है उससे स्त्रियोंको कोई लाभ नहीं होसकता है। उनसे स्त्रियोंको उलटी हानि होती है। वीर्य्यप्रधान व कठिनशरीर पुरुषके लिये जो व्यायाम है उसको रजःप्रधान व कोमलशरीर स्त्रीके लिये विहित करनेसे उसको संतानादि होनेमें बाधा व गर्भाशय आदि स्थानोंमें कई प्रकारकी बाधा व पीडा हो जासकती है जिससे नारी नारीधर्म्मको ही पालन नहीं करसकेगी और यही बात शुश्रुत आदि चिकित्साशास्त्रोंमें भी बतायी गयी है। अत: इस प्रकारकी शारीरिक व्यायामशिक्षा स्त्रियोंको कभी नहीं देनी चाहिये। उनका व्यायाम गृहकार्य्य ही होना चाहिये। घरमें कई प्रकारके कार्य होते हैं जिनमें स्त्रीजातिके उपयोगी पूरे व्यायामका फल स्त्रियोंको प्राप्त होसकता है और शारीरिक हानि भी कुछ नहीं होती है। ये ही सब उनकी प्रकृतिके अनुकूल हैं अत: धर्म्म है।

स्त्रियोंको कन्यावस्थामें किस प्रकार शिक्षा देनी चाहिये सो शिक्षादर्श नामक प्रबन्धमें पहले ही बताया गया है। पहले ही कहा गया है कि कन्याको ऐसी शिक्षा होनी चाहिये कि जिसमें वह भविष्यत्में अच्छी माता व पतिव्रता बन सके, क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानोंकी प्राथमिक शिक्षाके लिये पितासे भी माताका सम्बन्ध अधिक रहता है। वीर माताकी वीर सन्तान और धार्मिक माताकी धार्मिक संतान प्रायः हुआ करती है। ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, महाराणा प्रतापसिंह, नैपोलियन, जोसेफ मेज़िनी, जार्ज वाशिंगटन आदि महापुरुष व शक्तिमान् पुरुषोंकी जीवनीको ढूँढकर देखाजाय तो पता लगेगा कि उनके असाधारण चरित्रका बीज बाल्यावस्थामें माता के द्वारा ही उनके हृदयमें अंकुरित हुआ था। इसलिये कन्याओंको ऐसी ही शिक्षा

देनी चाहिये जिससे वे माता बनकर आदर्शसंतान उत्पन्न करसकें। प्रत्येक कन्याको हिंदूधर्मको सारभूत बातें सरलरीतिसे मौखिक उपदेश व देशी सरलभाषामें बनायी हुई पुस्तकोंके द्वारा सिखानी चाहिये। रामायण व महाभारतमेंसे उपदेशपूर्ण सारभूत विषय, मनु आदि स्मृतियों व भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंसे अच्छे अच्छे उपदेश एवं सदाचारके विषय अवश्य सिखाने चाहिये। साधारणरूपसे संस्कृतकी भी शिक्षा देना अच्छा है। इसके सिवाय यदि किसी स्त्रीमें विशेष संस्कार देखनेमें आवे तो उसे विशेषरूपसे संस्कृत विद्या, दर्शन, स्मृति व उपनिषद् आदि भी पढ़ासकते हैं। प्राचीनकालमें गार्गी मैत्रेयी आदि ऐसी असाधारण विदुषी स्त्रियाँ हो गयी हैं। परंतु स्मरण रहे कि ऐसा अधिकार असाधारण है अतः सभी स्त्रियोंके लिये नहीं है। गार्गी व मैत्रेयी एकआध ही हुआ करती हैं। सभीको गार्गी बनानेकी चेष्टा करनेसे विफलता होगी जिसका फल खराब होगा। स्त्रियोंका आदर्श गार्गी नहीं है बल्कि सीता व सावित्री हैं, इसलिये उनकी शिक्षा सीता व सावित्रीके आदर्श पर ही होनी चाहिये। शोभा प्रकृतिराज्यकी वस्तु है और ज्ञान पुरुषराज्यकी वस्तु है। ज्ञानकी पूर्णतामें पुरुषकी पूर्णता होती है परन्तु प्रकृतिकी पूर्णता ज्ञानकी पूर्णतासे नहीं होसकी है। प्रकृतिकी पूर्णता मातृभावकी पूर्णतामें है। पूर्ण प्रकृति जगदम्बा है। प्रकृति जगदम्बा होकर ही पूर्ण शोभाको प्राप्त करती है, ज्ञानी बनकर शोभा-को नहीं प्राप्त करती है। उसका ज्ञान मातृभावमूलक है, मातृभावको नष्ट करनेवाला नहीं है। ऐसा होना अप्राकृतिक है अतः शोभाको विगाड़नेवाला है। इसलिये सीता व सावित्री आदि ही आदर्श-नारियाँ हैं, गार्गी आदर्शनारी नहीं है, इस विचारको हृदयमें धारण करके कन्याओंको शिक्षा देनी चाहिये। उनको शिवपूजा आदि पूजा और संस्कृत व भाषामें अच्छे अच्छे स्तोत्र सिखाने चाहियें। जो स्वाभाविकी भक्ति स्त्रियोंके चित्तमें है उसको बिगाड़ना नहीं चाहिये,

परन्तु उनके अधिकारके अनुसार विविध प्रकारके व्रत व पूजा आदि के द्वारा उसे पुष्ट करना चाहिये। सीता, सावित्री व राजपूतानेकी पद्मिनी आदि सतियोंके मनोहर चरित्रोंकी पुस्तक बनाकर उनको पढ़ना चाहिये और सतीधर्मके गौरव व उसके उन्नत सुफके भावों को उनके बालहृदयमें रचित करदेना चाहिये। यही सब स्त्रियोंके लिये कन्यापनमें देने योग्य धार्मिक शिक्षा है।

इनके सिवाय उनको साहित्यकी शिक्षा भी देनी चाहिये। साधारण संस्कृत साहित्यकी शिक्षा और अपने अपने देशकी भाषा व उन्नतमें बने हुए साहित्यकी शिक्षा देनी चाहिये। साधारणरूपसे उनको इतिहास व भूगोलकी भी शिक्षा देनी चाहिये। गृहिणीधर्म पालनकेलिये आवश्यकीय पदार्थविद्या (सायन्स) की शिक्षा भी अवश्य ही देनी चाहिये। यह बात पहले ही कही गयी है कि हिंदु-शास्त्रोंमें जितने प्रकारके आचार व नित्य गृहकृत्य बताये गये हैं, सबके मूलमें सायन्सके गूढ़ रहस्य भरे हुए हैं। इसलिये जब गृहस्थाश्रममें शान्ति, नीरोगता व उन्नतिका भार गृहिणी पर ही है तो उसको सदाचार आदि सब विषयोंका ज्ञान अवश्य रहना चाहिये इसलिये इस ज्ञानकी शिक्षा कन्यावस्थामें देना परम आवश्यकीय है। किस ओर और कैसे घर बनने चाहिये, उनमें द्वार खिड़की आदि कैसे लगाने चाहिये, शारीरिक स्वास्थ्यके लिये घरके वायुको किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये, घर भीतर बाहर कैसा शुद्ध चाहिये, वस्त्र शय्या या अन्य पदार्थ कैसे होने चाहिये, कूप आदि जलाशय घरसे कितनी दूर पर व कैसे होने चाहिये, बच्चोंको सुबहसे शाम तक क्या क्या करना चाहिये, भोजन किस प्रकार से बनाना चाहिये, किस देश कालमें कौन कौन चीज खानी चाहिये, जब देशमें बीमारी फैल जाय तो उस समय कौन कौन चीज नहीं खानी चाहिये, रोगियोंको सेवा किस प्रकारसे करनी चाहिये और घरमें कोई रोगी होने पर कैसी व्यवस्था रखनी चाहिये जिससे रोगीको आराम व

साहस रहे इत्यादि इत्यादि गार्हस्थ्य सायन्सकी बातें कन्याओंको सिखाना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि गृहिणी बननेके बाद इन सब बातोंको जानती हुई रहनेसे वे गृहस्थाश्रमका पालन ठीक ठीक कर सकेंगी, अन्यथा नहीं कर सकेंगी। साधारण जड़ी बूटी आदि की दवाइयाँ या साधारण रोगमें देने योग्य औषधियाँ उनको अवश्य ही सिखानी चाहिये जो कि गृहस्थाश्रममें प्रायः सर्वदा काममें आती हैं, क्योंकि साधारण बच्चोंके रोगोंमें हर समय वैद्य या डाकृर बुलाना कठिन व व्ययसाध्य भी है। इसलिये साधारण चिकित्सा का ज्ञान माताको ही रहना चाहिये। इसके सिवाय गणितशास्त्रकी भी साधारण शिक्षा कन्याको देनी चाहिये जिससे गृहिणी-अवस्थामें गृहस्थाश्रममें नित्य खर्चका हिसाब व चीज़ोंके लेन देनका हिसाब माता ख़ुदही रख सके। साधारण शिल्पशास्त्रका ज्ञानभी कन्याओंको देना उचित है जिससे आगे जाकर उनके अवकाशका समय वृथा उपहास व गल्प-कथाओंमें नष्ट न होकर अच्छे व गृहस्थके लिये आवश्यकीय कार्य्योंमें बीत सके। कपड़े आदि सीनेका काम, मोजा टोपी आदि बच्चोंके लिये आवश्यकीय चोज़ोंके बनानेका काम और चित्रकारी का काम आदि शिल्पविद्या अवश्य उनके लिये सीखने योग्य है। मातृत्वका प्रधान अङ्ग बच्चोंका पालन करना है। पालन करनेके साथ अन्न भोजनका सम्बन्ध रहना है। इसलिये रसोई बनानेके साथ मातृत्वका सम्बन्ध अवश्य है। अच्छी माताको अच्छी रसोई बनानेवाली होना चाहिये और इसमें उसको अपना गौरव भी समझना चाहिये। गृहस्थाश्रममें भोजन एक नित्ययज्ञ है, माताएं अन्न-पूर्णा की तरह इस नित्ययज्ञमें अधिष्ठात्री देवी हैं और सब लोग यज्ञभाग लेनेवाले देवता हैं। यज्ञीय देवता अशरीरी होनेके कारण अपना सन्तोष परोक्षरूपसे ही प्रायः प्रकट करते हैं, परन्तु भोजन रूपी नित्ययज्ञके देवता लोग प्रत्यक्षरूपसे सन्तोष असन्तोष उसी समय प्रकट करते हैं इसलिये इस नित्ययज्ञकी अधिकारिणी कन्या

कालसे ही माताओंको यनना चाहिये। उन यज्ञमें—सामग्री कैसी अच्छी होनी चाहिये, यज्ञीय द्रव्योंको किस प्रकार पवित्र होकर तय्यार करना चाहिये और किस प्रकार प्रीति और भक्तिके साथ सबको परोसना चाहिये, इत्यादि विषय कन्याओंको अवश्यही सिखाये जायें; तभी आगे जाकर उनमें भगवतीका भाव प्रकट होगा जिससे गृहस्थाश्रममें सदाही लक्ष्मी व शान्ति विराजमान रहेगी। कन्याओंको इन सब ऊपरलिखित विषयोंकी शिक्षा देनेका भार यदि माता पिता लेवें तो बहुतही अच्छा है, किन्तु यदि किस कारणसे ऐसा होना असम्भव हो तो बालिकाविद्यालयमें उनको भेजकर सब प्रकारकी शिक्षा दिलवानी चाहिये। अवश्य विद्यालय की व्यवस्थाको विचारके साथ जाँच करके यदि विश्वासके योग्य हो तभी कन्याओंको वहां भेजना चाहिये। अन्यथा, व्यवस्थाहीन बलिर विद्यालयमें भेजनेसे हानिकी बहुत सम्भावना रहेगी। कन्याके विवाहके या रजस्वला होनेके अनन्तर उसको विद्यालयमें कभी नहीं भेजना चाहिये। उस दशामें उसका धर्म आदिकी शिक्षा देना पतिका कर्त्तव्य है और गृहस्थकी बातोंकी शिक्षा देना सास आदि का कर्त्तव्य है।

मनुजीने पुरुष प्रकृति व स्त्रीप्रकृति पर सयम करके दोनोंका प्रभेद देख कर स्त्रीके लिये निम्नलिखित रूपसे संस्कारोंकी आज्ञा की है। यथाः—

> अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
> संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥
> वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
> पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

शरीरकी शुद्धिकेलिये यथाकाल व यथाक्रम जातकर्मादि सभी संस्कार स्त्रियोंके लिये भी कराने चाहिये, परन्तु उसके संस्कार

वैदिकमन्त्ररहित होने चाहियें । सभी संस्कार कहनेसे यदि स्त्रियों के लिये उपनयन संस्कारकी भी आज्ञा समभी जाय, इस सन्देहको सोचकर मनुजी दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि स्त्रियोंका उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये । विवाह संस्कार ही स्त्रियोंका उपनयन संस्कार है । इसमें परमगुरु पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या व प्रातःकालमें हवनरूप अग्निपरिचर्य्या है । यही स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कार है । द्विजबालकोंकी तरह उपनयन संस्कार स्त्रियोंके लिये नहीं है । ऐसी अमन्त्रक क्रिया व उपनयन न करनेकी आज्ञा मनुजीने क्यों की है इसका उत्तर मनुजीने ही अपनी संहिताके नवम अध्यायमें दिया है । यथाः—

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्ज्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्य्याञ्च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥
नाऽस्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्म्मव्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥

शय्या आसन व अलङ्कार आदि विषयोंमें प्रीति, काम, क्रोध कुटिलता, परद्रोह व कदाचार सभी स्त्रीके साथ सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं । स्त्रीजातिके जातिकर्म्मादि कोई भी संस्कार वैदिकमन्त्रोंसे नहीं होते हैं, ऐसी ही शास्त्रकी विधि है । वेद आदि शास्त्रोंमें इनका अधिकार नहीं है और वैदिक मन्त्रोंमें भी इनका अधिकार नहीं है इसलिये स्त्रीजाति हीनयोनि है । श्रीभगवान्‌ने भी स्त्रियोंको गीताजीमें पापयोनि कहा है । इनके इस प्रकार हीनयोनि होनेके कारण मन्त्रहीन जातकर्म्मादि संस्कारकी आज्ञा और उपनयन संस्कारका निषेध किया गया है । शरीरकी शुद्धि स्त्री व पुरुष दोनोंके लिये ही परमावश्यकीय है इसलिये मनुजीने दोनोंके लिये ही जातकर्म्मादि संस्कारोंकी आज्ञा दी है, परन्तु उपनयनकी जो आज्ञा नहीं दी है इसका कारण उपनयनानन्तरके कर्त्तव्यकी ओर दृष्टिपात करनेसे ही

ज्ञात होगा। आचार्य्य-कुलमें जाकर वेदाभ्यास व गुरुको आत्मसमर्पण करना ही ब्रह्मचारीका धर्म्म बताया गया है। स्त्रीके लिये सिवाय पतिके और कहीं आत्मसमर्पण करना पातिव्रत्यधर्म्मके अनुकूल नहीं होगा, क्योंकि पतिमें तन्मय होनेसे ही स्त्रीकी मुक्ति हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती है। पति ही उसका परमगुरु है इसलिये पतिकी सेवा ही उसका गुरुकुलवास है अतः उपनयनके द्वारा गुरुकुलवास स्त्रियोंके लिये निरर्थक है। इसके सिवाय रजोधर्मके कारण प्रतिमास तीन दिन स्त्रीजातिका शरीर अपवित्र रहनेसे ब्रह्मचर्य्याश्रममें नित्य पालनीय अग्निपरिचर्य्यादि कर्म इनसे नियमित होना असम्भव है। अतः इसमें प्रत्यवाय सम्भावना होनेके कारण महर्षियोंने साधारणतः निषेध किया है।

स्त्रियोंकी नीचयोनि है, इसलिये ही मनुजीने उनके लिये वेदपाठका निषेध किया है, क्योंकि महाभाष्यके प्रमाणानुसार, यदि स्वर या वर्णसे वेदमन्त्रका अशुद्ध उच्चारण हो तो वह मन्त्री यजमानका कल्याण न करके उलटा उसका नाश करता है। स्त्री-शरीर द्विजशरीरसे छोटे अधिकारका होनेके कारण स्त्रीके द्वारा स्वरतः वर्णतः वैदिकमन्त्रोंका ठीक २ उच्चारण असम्भव है और इस कारण हानिकी सम्भावना है, इसीलिये मनुजीने स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारका पूरा निषेध और जातकर्म्मादिमें वैदिक मन्त्रोच्चारणका निषेध किया है। साधारण विचारसे ही ज्ञात हो सकता है कि स्त्रियोंके कण्ठ व जिह्वा असम्पूर्ण हैं। उनमें उदात्त और अनुदात्त आदि वैदिक स्वरोंका ठीक ठीक प्रकट होना असम्भव है। उनका स्वर प्रायः एक ही ढंगका होता है उसमें गुरु लघु भेद कम होता है जो कि मन्त्रोंके उच्चारणके योग्य नहीं है। असम्पूर्ण स्वर व शरीरके द्वारा पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे कल्याण व शुभफलके बदले हानि व अशुभफल प्राप्त होता है इसलिये मनुजीने ऐसी आज्ञा स्त्रियोंके लिये की है। अब इस साधारण विधिका उल्लंघन केवल दो

असाधारण दशामें हो सकता है। एक विवाह और दूसरी ब्रह्मवादिनी स्त्रीदशा है। स्त्रियाके जातकर्म्मादि संस्कारोंमें वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होने पर भी विवाह-संस्कारके समय जो मन्त्रोच्चारणकी आज्ञा की गयी है उसका उद्देश्य बहुत गंभीर है। मन्त्र दो प्रकारके होते हैं। एक शक्तिप्रधान और दूसरा भावप्रधान। निरुक्तमें भी वर्णन है कि:—

अर्थाऽपि केस्यचिद्भावस्याऽऽचिख्यासा।

शक्तिप्रधान मन्त्रोंके अतिरिक्त कोई कोई मन्त्र भावप्रधान भी होते हैं। शक्तिप्रधान मन्त्रोंके साथ स्थूलशरीरका और भावप्रधान मन्त्रोंके साथ चित्तका सम्बन्ध प्रधानतः रहता है। जातकर्म्मादि संस्कारों-में जो वैदिक मन्त्र आते हैं वे सब शक्तिप्रधान होनेके कारण उन्नत स्थूल शरीरवाले द्विजपुरुषोंके लिये ही विहित हो सकते हैं, अनुन्नत स्थूलशरीर स्त्रियोंके लिये विहित नहीं होसकते हैं। परन्तु विवाह-संस्कारके जितने मन्त्र हैं सभी भावप्रधान हैं। विचारवान् पुरुष, सप्तपदीगमनके जितने मन्त्र पढे जाते हैं, उनपर ध्यान देनेसे ही इस बातका अच्छी तरह अनुभव करेंगे। अतः विवाहसस्कार मन्त्रोंमें भावप्राधान्य होनेसे भावशुद्धिके समय स्त्री पुरुष दोनों ही उन मन्त्रों-को पढ़ सकते हैं, अन्य समय नहीं पढ सकते। आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह सस्कार अन्यदेशीय विवाहसंस्कारसे कुछ विलक्षण ही है। आर्य्य-विवाह कामभोग द्वारा पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है परन्तु अद्वितीय परमात्माके वाम-अङ्गसे जिस प्रकृतिने सृष्टिके समय निकलकर संसार-में स्त्री पुरुषरूपी द्वितीयताको फैला दिया था, उस प्रकृतिका परमात्मा-में पुन. लय साधनकरके उसको उसी अद्वितीय भावमें लानेके लिये है। विवाहके सब मन्त्र इसी भावको सूचित करते हैं। यजुर्वेदमें पाणिग्रहणका एक मन्त्र मिलता है जिसका अर्थ यह है कि "मैं लक्ष्मीहीन हूँ तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारे विना मैं शून्य हूँ तुम मेरी लक्ष्मी हो, मैं सामवेद हूँ तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ तुम पृथ्वी

हो और तुम व मैं दोनों मिलकरही पूर्ण हैं", "तुम्हारा हृदय मेरा हो जाय और मेरा हृदय तुम्हारा हो जाय ", "अन्नरूप पाश व मणितुल्य प्राणसूत्रद्वारा और सत्यरूप ग्रन्थिसे तुम्हारे मन व हृदयको मैं बन्धन करता हूँ", "तुम्हारे केश नेत्र हस्त व पद आदि शरीरके अङ्गोंमें यदि कोई दोष हो तो मैं उसे पूर्णाहुति व आज्याहुतिके द्वारा नष्ट करता हूँ", इत्यादि इत्यादि विवाहसंस्कारके मंत्रोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विवाहकालमें स्त्री पुरुष दोनोंकी ही विशेष भावशुद्धि और पातिव्रत्यका लक्षण व पतिमें तन्मयताकी प्राप्ति स्त्रीको उस समय होती है; अतः पुरुषका अधिकार, भावप्रधान वैदिकमन्त्रोंका उच्चारण, उस समय स्त्री कर सकती है । यही कारण है कि अन्य संस्कारोंमें स्त्रियोंके लिये वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहके समय वैवाहिक मन्त्रोंके उच्चारणके लिये आज्ञा की गयी है ।

मन्त्रोच्चारणमें दूसरा अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंका है । स्त्रीमें ज्ञानमय पुरुषका भाव कम और तमोमयी प्रकृतिका भाव अधिक होनेसे ज्ञानशक्तिका विकाश स्त्री जातिमें साधारण ही होता है, विशेष नहीं होता है । इनकी प्रकृति तन्मयतामूलक होनेसे इनमें भक्तिभाव अधिक रहता है; परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा एक असाधारण दशा है जिसमें ज्ञानशक्तिका विकाश विशेष होता है। वर्णधर्मनामक अध्यायमें कहा गया है कि आरूढ़पतित मनुष्यमें या पशु आदि तकमें भी साधारण प्राकृतिक नियमसे उन्नत मनुष्य या पशु आदिकी अपेक्षा विशेष योग्यता देखनेमें आती है; इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा भी आरूढ़पतित दशा समझनी चाहिये। साधारण रीतिसे प्रकृतिके प्रवाहमें क्रमोन्नति प्राप्त स्त्रीमें ज्ञानशक्तिका इतना विकाश कभी नहीं हो सकता है क्योंकि साधारण स्त्रीमें प्रकृतिभाव प्रधान होनेसे अज्ञानभाव प्रधान रहेगा। असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा तभी प्राप्त हो सकती है जब किसी विशेष

ज्ञानशक्तिसे युक्त पुरुपको पूर्व्वजन्मके किसी स्त्रीयोनिप्रद प्रयल नीचकर्म्मके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो। त्रिगुणमयी मायाके लीलाविलासमय संसारमें ऐसा होना असम्भव नहीं है क्योंकि भरत ऋपि आदि महत्पुरुपोंमें भी जब मोहके सम्बन्धसे मृगयोनिकी प्राप्ति होना आदि देखा जाता है तो अच्छे पुरुपके द्वारा भ्रान्तिसे स्त्री-संस्कार-प्रधान कुकर्म्म होना कुछ भी असम्भव नहीं है और इसी प्रकारके कर्म्मोंसे स्त्रीयोनिकी प्राप्ति होना भी निश्चय है। कात्यायनसंहितामें लिखा है कि:—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्वं भार्य्या पतिविमानिता।
त्रीणि जन्मानि सा पुँस्त्वं पुरुपः स्त्रीत्वमर्हति॥
यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्य्यां कथञ्चन।
सा स्त्री सम्पद्यते तेन भार्य्या वाऽस्य पुमान्भवेत्॥

यदि निर्दोपा माननीया भार्य्या पतिके द्वारा अपमानिता होकर मरे तो तीन जन्म तक वह स्त्री पुरुपयोनिको और पुरुप स्त्रीयोनिको प्राप्त होता है। जो पुरुप अपने अग्निहोत्रके द्वारा किसी तरहसे अपनी पत्नीका दाह करता है वह स्त्री होता है और उसकी स्त्री पुरुपयोनिको प्राप्त होती है। दक्षसंहितामें भी लिखा है कि:—

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च वन्ध्यात्वञ्च समाप्नुयात्॥

निर्दोपा और निष्पापा भार्य्याको जो गृहस्थ यौवनकालमें परित्याग करता है वह मृत्युके अनन्तर दूसरे जन्ममें वन्ध्या स्त्री होता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है कि—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥

मृत्युके समय जिस भावसे चित्त भावित होता है, मृत्युके बाद

गति भी तदनुसार प्राप्त होती है। इसका दृष्टान्त भागवतके पुरञ्जनाख्यानमें मिलता है। यथा—

शाश्वतीरनुभूयार्त्तिं प्रमदासङ्गदूषितः।
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा॥

पुरञ्जन प्रमदासङ्गदोषसे दूषित होनेके कारण बहुत दिनों तक दुःख अनुभव करके मृत्युके समय अपनी पतिव्रता स्त्रीको स्मरण करते करते मरगये और इसी कारण उनको उत्तम स्त्रीयोनि प्राप्त हुई। इन सब प्रमाणोंके द्वारा पुरुषकी स्त्रीयोनिप्राप्ति सिद्ध होती है; अत: इस तरहसे यदि कोई ज्ञानराज्यमें उन्नत पुरुष भावविकारके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त होजाय तो पूर्व संस्कार ज्ञानप्रधान होनेसे वह स्त्री साधारण स्त्रियोंसी नहीं होगी, परन्तु असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्री होगी और असाधारण होनेसे उसका अधिकार भी असाधारण होगा। इसलिये उन ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये शास्त्रोंमें उपनयन संस्कार और वेदपाठका भी विधान किया गया है। महर्षि हारीत ने कहा है कि—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाऽध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या।

दो प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं। यथा-ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। इनमेंसे ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये उपनयन अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और निज गृहमें भिक्षाचर्य्या विहित है। सद्योवधू स्त्रियोंके लिये ऐसी विधि नहीं है। उनके लिये विवाह ही उपनयन संस्कार और पतिसेवा गुरुकुलवास आदि धर्म्म हैं जैसा कि मनुजी ने बताया है। प्राचीन कालमें ज्ञानकी प्रधानता थी इसलिये ज्ञानोन्नत पुरुष अनेक थे और इसी कारण उक्त प्रकारकी आरूढ़पतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी मिलती थीं एवं उसीलिये उन स्त्रियोंके अर्थ उपनयन और वेद पाठ आदिका विधान भी था। अब इस युगमें ज्ञानका ह्रास

हो गया है अतः विशेष ज्ञानोन्नत पुरुष विरले ही मिलते हैं और आरूढ़पतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी नहीं मिलती हैं। आजकल भाव-विकारसे कोई पुरुष स्त्री भी हो जाय तथापि पूर्वजन्ममें ज्ञानका संस्कार कम होनेसे ब्रह्मवादिनीकी अवस्थाको नहीं पा सकता है अतः स्त्रियोंके लिये कलियुगमें उपनयन और वेदपाठ आदि निषिद्ध हैं। महर्षि यमने भी लिखा है कि:—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्य्या विधीयते।
वर्ज्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥

पूर्व्व कल्पमें कुमारियोंका मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन व सावित्री-वचन इष्ट था। पिता पितृव्य या भ्राता उनको वेद पढ़ाते थे। दूसरे किसीको अधिकार उनको वेद पढानेका नहीं था। अपने ही घरमें भिक्षाचर्य्याकी व्यवस्था थी। उनके लिये मृगचर्म्म, कौपीन व जटा-धारणकी आज्ञा नहीं थी। यह सब पूर्व्वयुगके लिये व्यवस्था है जैसा कि महर्षि यमने कहा है और यह भी व्यवस्था ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये है, सद्योवधू-साधारण स्त्रियोंके लिये नहीं है जैसा कि कारण बताकर पहले कहा गया है। विधि साधारण प्रकृतिको देखकर ही हुआ करती है, असाधारणको देखकर नहीं हुआ करती है। कहीं भी एक दो स्त्री ब्रह्मवादिनी निकलें और वे वेदपाठ आदि-की शक्ति रखती हों, इससे यह नियम सबके लिये नहीं हो सक्ता है। सबके लिये असाधारण नियमकी आज्ञा होनेसे पूर्व्व सिद्धान्तानुसार अनधिकारी व्यक्तिके शक्तिमान् वैदिक मन्त्रादि पढ़नेपर कल्याण न होकर विशेषरूपसे अकल्याण ही होगा। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब सिद्धान्तोंपर विचार करके सावधान रहना चाहिये।

मनुजीने जो उपनयन आदिका एकदम निषेध किया है सो साधारण विधिके विचारसे ही किया है और हारीत व यम ऋषिने साधारण व असाधारण दोनों अधिकारोंका ही विचार करके कलियुगकी स्त्रियोंके लिये साधारण विधि ही समीचीन बतायी है। पहले ही कहा गया है कि स्त्रीजाति पतिमें तन्मय होकर ही अपनी योनिसे मुक्त हो सकती है। इस प्रकारकी ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी आगामि जन्ममें अवश्य स्त्रीयोनिसे मुक्त होती हैं, परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्री होनेके कारण उनकी मुक्ति सबके पति, परमपति ब्रह्ममें ही तन्मय होकर होती है। यह मुक्ति असाधारण है। साधारण मुक्ति लौकिकपतिमें तन्मय होकर ही होती है जैसा कि पहले कहा गया है। पूर्व्वकथित मीमांसा द्वारा सद्योवधू स्त्री व ब्रह्मवादिनी स्त्री दोनोंके विषयमें अलग अलग सिद्धान्त निश्चय किये गये हैं। उक्त दोनों प्रकारके सिद्धान्तोंका तात्पर्य्य यह है कि स्त्रीजातिका साधारण अधिकार सद्योवधूका अधिकार समझना चाहिये और कहीं कहीं स्त्रीमें बहुत ही योग्यता देखनेसे असाधारण ब्रह्मवादिनीके धर्मकी शिक्षा देनी चाहिये।

इस प्रकार कन्याको उसके अधिकारानुसार आवश्यकीय शिक्षा दान करके यथाकाल योग्य पात्रमें दान करना चाहिये। पात्रके विषयमें पिताको अवश्य विचार रखना होगा कि पात्र अपने पुत्रसे रूप, गुण, कुल व शील आदिमें कम न हो। पुत्र न हो तो और किसी आत्मीयसे अथवा कमसे कम अपनी कुलमर्य्यादाके साथ पात्रकी तुलना कर लेनी चाहिये, क्योंकि कन्यादान समान घरमें ही होना चाहिये। ऐसा न होनेसे प्रायः कुटुम्बमें परस्पर विरोध, दाम्पत्य प्रेममें न्यूनता और संसारमें अशान्ति रहती है। वर कन्याके विवाहकालके विषयमें शास्त्रोंमें मतभेद पाया जाता है अतः यह विषय विचार करने योग्य है। यह बात पहले ही अध्याय में कही गयी है कि विवाह-का प्रथम उद्देश्य सुपुत्र उत्पन्न करके पितरों का ऋणशोध और

दूसरा, पवित्र दाम्पत्यप्रेमके द्वारा स्त्रीपुरुष की पूर्णता प्राप्ति है। मनुसंहितामें भी कहा है कि:—

अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराऽधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्चह॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म्मकार्य्य, सेवा, उत्तम अनुराग और पितरोंकी तथा अपनी स्वर्गप्राप्ति, ये सब स्त्रीके अधीन हैं। अतः विवाहकालके विचारमें भी उपर्य्युक्त दोनों उद्देश्य लक्ष्यीभूत रखने होंगे, अन्यथा संसाराश्रममें स्त्री पुरुषको कदापि शान्ति नहीं मिलेगी। आर्य्यजातिकी और जातियोंसे यही विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्य को मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूल शरीरको ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार हैं वे आर्य्यभावरहित हैं अतः इस जातिके लिये हानिकर व जातित्वनाशक हैं। इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पतिकी भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाहकालके विषयमें केवल इस प्रकारका विचार आर्य्यजातिके अनुकूल नहीं होगा परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा। आर्य्यजातिके लिये उपयोगी व पूर्ण विचार तभी होगा जब विवाहकालके विषयमें ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाहसे उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्म्मिक भी हो तथा दाम्पत्यप्रेम, संसारमें शान्ति व सबसे बढ़कर पातिव्रत्यधर्ममें किसी प्रकार का आघात न लगे। वर कन्याके विवाहकालके लिये इतना विचार करनेपर ही वह विचार आर्य्यजातिके लिये उपयोगी व पूर्ण विचार होगा।

अब विवाहकाल के विषयमें स्मृति आदिमें जो प्रमाण मिलते हैं उनपर विचार किया जाता है। मनुने कहा है कि:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः॥

तीस वर्षका पुरुष अपने चित्तकी अनुकूला बारह वर्षकी कन्यासे

विवाह करे, अथवा चौबीस वर्षका युवक आठ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और धर्म्महानिकी यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सक्ते हैं। यमसंहितामें लिखा है कि:—

> प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
> मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥

कन्याकी आयु बारह वर्षकी होनेपर भी जो पिता उसका विवाह नहीं करता है उसको प्रतिमास रजोजनित रक्तपानका पाप होता है।

> प्रदानं प्राग्ऋतोरप्रयच्छन्दोषी (गौतमः)
> अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम् (आश्वलायनः)
> अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ (याज्ञवल्क्यः)

इन वचनोंसे सिद्ध है कि रजस्वला होनेसे पहले ही कन्यादान को आज्ञा दी गयी है। अतः इन सब प्रमाणोंसे कन्याकी आयुके विषयमें सामान्यतः आठ वर्षसे लेकर बारह वर्ष तककी आज्ञा और विशेषतः कहीं आठ वर्षमें विवाह होनेकी प्रशंसा, कहीं दस वर्षमें विवाह होनेकी प्रशंसा और उससे अधिक वयःक्रममें विवाह होनेकी निन्दा तथा कहीं कहीं बारह वर्षमें विवाह होनेकी आज्ञा और उससे अधिक आयुमें विवाहकी निन्दा की गयी है; परन्तु सर्वत्र ही एकमतसे ऋतुकालसे पहले ही कन्यादानकी आज्ञा है। वास्तवमें कितने वर्षकी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये इसका निश्चय कभी नहीं हो सकता है, केवल रजस्वला होनेके पहले होना चाहिये यही साधारणतः निश्चय हो सकता है। इसका कारण क्या है सो बताया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

> स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च।
> स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥

स्त्रीकी सुरक्षासे निज सन्तति, चरित्र, वंशमर्य्यादा, आत्मा और स्वधर्मकी रक्षा होती है इसलिये स्त्रीकी रक्षा सर्व्वथा करणीया है। अब यह रक्षा कैसे हो सकती है सो विचार करने योग्य है। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक स्त्रीके साथ प्रत्येक पुरुषका जो भोग्यभोक्ता सम्बन्ध स्वाभाविक है उसको अनर्गल होनेसे रोककर एक सम्बन्ध ही में संस्कार व भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुषको बाँधकर प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे निवृत्तिमें लेजाना ही विवाहका लक्ष्य है। इसलिये स्त्रीका व पुरुषका विवाह उसी समय होना चाहिये जिस समय उनमें भोग्य व भोक्ता भावका उदय हो, क्योंकि उससमय विवाह संस्कार न करानेसे प्रवृत्ति अनर्गल अर्थात् अनेकोंमें चञ्चल होकर अधोगति करा सकती है। यही स्त्री व पुरुष दोनोंके लिये साधारण धर्म्म है।

अब उक्त सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखते हुए स्त्री व पुरुष दोनोंकी आयु समान होनी चाहिये या असमान होनी चाहिये और किसकी कितनी होनी चाहिये सो विशेष धर्म्मके विचारसे तत्त्व निर्णय किया जाता है। पहलेही कहा गया है कि स्त्रीमें प्रकृतिभावकी प्रधानता और पुरुषमें पुरुषभावकी प्रधानता होनेसे स्वभावतः ही स्त्री अज्ञान-मयी व पुरुष ज्ञानमय होता है। मनुजीने कहा है कि—

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्व्वते॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति॥

पान, दुर्ज्जनका सङ्ग, पतिसे विरह, इधर उधर घूमना, असमयमें निद्रा व दूसरेके घरमें वास, स्त्रियोंके ये स्वाभाविक छः दोष हैं। स्त्री जाति रूप या उमरका कुछ भी विचार नहीं करती है, सुन्दर हो या न हो, पुरुष मिल जानेसे ही सम्बन्ध करती है। पुरुषको देखते ही कामेच्छा, स्वाभाविक चित्त चाञ्चल्य और स्नेह हीनताके कारण वे पतिके द्वारा सुरक्षित होने पर भी व्यभिचार करती हैं। विधाताने स्त्रीजातिकी प्रकृति ही ऐसी बनायी है, इस प्रकार जानकर उनकी रक्षा करनेमें पुरुषको सदा ही यत्नशील होना चाहिये। यही स्त्री प्रकृतिमें तमोमयी अविद्याका भाव है। इसके अतिरिक्त उनमें सत्त्वगुणमयी विद्याका भी भाव है जिससे, जैसा कि पहले कहा गया है, पुरुषसे भी अधिक धैर्य्य, पातिव्रत्य, तपस्या और तन्मयता आदि सद्गुण उनमें प्रकट होते हैं। अत. जिस आयुमें विवाह करानेसे स्वाभाविक अविद्याभावका उदय न हो और विद्याभावकी ही दिन पर दिन पुष्टि हो, उसी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये। कन्याकालके विषयमें पहले ही कहा गया है कि जब तक स्त्री पुरुषके सामने लज्जिता होकर वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आवृत न करे और कामादि विषयोंका ज्ञान जब तक उसको न हो तभी तक स्त्रीका कन्याकाल जानना जाहिये। इस प्रमाणके अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्रीमें स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य व स्त्रीभावका विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूँ, वह पुरुष है और हम दोनोंका भोग्य भोक्ता सम्बन्ध विवाहके द्वारा होता है" उसी समय कन्याका विवाह अवश्य होना चाहिये, क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुषके साथ अपना स्वाभाविक भोग सम्बन्ध समझने लगती है; उसी समय विवाह कर देनेसे एकही पुरुषके साथ नैसर्गिक प्रेमप्रवाहका सम्बन्ध बँध जायगा, जिससे पातिव्रत्यधर्ममें, जोकि स्त्रीकी उन्नतिके लिये एकमात्र धर्म्म है, कोई हानि नहीं होगी। अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्तको निरङ्कुश छोड़ देनेसे

बहुत पुरुषोंमें चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्यकी गम्भीरता नष्ट हो सकती है और ऐसा होनेका अवसर देना स्त्रीकी सत्ता नाश करना है। अतः विवाहका वयःक्रम इन्हीं विचारोंके साथ पिता माताको निर्द्धारण करना चाहिये। इसमें कोई नियमित वर्ष नहीं हो सकता है क्योंकि देश काल पात्रके भेद होनेसे सभी स्त्रियोंके लिये स्त्रीभाव-विकाशका एकही काल नहीं हो सकता है। परन्तु साधारणतः ८ वर्षसे लेकर १२ वर्ष तक, इस प्रकार स्त्रीभाव-विकाशका काल है। इसीलिये मनु आदि महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञा दी है। विचारमें मतभेद होनेका कारण यह है कि जिस देश कालको मुख्य रखकर जिस स्मृतिमें विवाहके कालका विधान किया गया है उस देश कालमें कन्याभाव कब तक रह सकता है और नारीभाव कब होने लगता है उसीके ही विचारसे कन्याके विवाहका वयःक्रम निर्द्धारित किया गया है। कलिकालमें जितने वर्षमें स्त्रीभावका विकाश होगा, सत्य आदि युगोंमें साधारणतः इससे अधिक वर्षमें स्त्रीभावके विकाश होनेकी सम्भावना है क्योंकि सत्त्वगुण-प्रधान देश काल व सङ्गके प्रभावसे स्त्री व पुरुषमें वैषयिकभावका विकाश भी अपेक्षाकृत कम होगा इसमें सन्देह नहीं। उसी प्रकार त्रेता व द्वापरयुगमें भी सत्ययुग व कलियुगके साथ देशकालके तारतम्यसे होगा। प्रत्येक स्मृति भिन्न भिन्न युग या युगविभागके देश कालपर विचार रखती हुई धर्म्मानुशासन को बताया करती है, क्योंकि देश कालके विरुद्ध अनुशासन धर्म्मानुशासन नहीं हो सकता है। परन्तु जो अनुशासन स्वर्गापवर्गप्रद धर्म्मको लक्ष्यीभूत रखकर देश कालकी प्रकृतिके साथ मिलाकर कहा जाता है वही अनुशासन यथार्थमें धर्म्मानुशासन कहलाने योग्य है। इसी प्रकार पात्र (वर) के विषयमें भी समझना चाहिये। स्त्रीभावके विकाशका तारतम्य स्थूलशरीरकी प्रकृतिसे बहुत सम्बन्ध रखता है। सात्त्विक स्थूलशरीरमें स्त्रीभावका विकाश देरसे होता है परन्तु तामसिक कामज शरीरमें स्त्रीभावका विकाश शीघ्र होता

है। जिस प्रकार पुरुषशरीर कामज होनेसे उसमें ब्रह्मचर्य्यधारणकी शक्ति कम होती है और थोड़ी उमरमें ही यौवन-सुलभ सभी बातें आजाती हैं उसी प्रकार स्त्रीका भी शरीर कामज होनेसे उसमें नारी-भावका विकाश व चाञ्चल्य शीघ्र होने लगता है। गर्भाधान संस्कार ठीक ठीक होनेसे सात्विक शरीर होता है और उसमें नारीभाव भी देरसे उत्पन्न होता है परन्तु जहाँ धार्मिक प्रजोत्पत्तिका लक्ष्य न होकर केवल पाशविक सम्बन्धसे सन्तान होती है वहां स्त्री अथवा पुरुषका शरीर व मन भी निकृष्ट होगा इसमें सन्देह ही क्या है? इसलिये युग युगमें मनुष्योंके स्वभाव व धर्म्मभाव पृथक् पृथक् होनेसे सृष्टिकी धारा भी भिन्न भिन्न होती है जिससे धर्म्म व आचारकी व्यवस्था, विवाह व प्रजोत्पत्तिका नियम और वर्ण व आश्रमका अनुशासन सभी युगानुसार भिन्न भिन्न होते हैं। यही सब कारण हैं जिससे महर्षियोंने कन्याके विवाहकालके विषयमें भिन्न भिन्न मत बताये हैं, परन्तु ऊपरके प्रमाणोंसे सिद्ध होगा कि विवाहकालके विषयमें महर्षियोंके मतोंमें भेद होनेपर भी रजस्वला होनेके पहले विवाह होना चाहिये, इस विषयको सभी महर्षियोंने एक मत होकर स्वीकार किया है और इसमें कभी किसीने मतभेद प्रकाश नहीं किया है। ऋग्वेदमें लिखा है कि—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

चन्द्र देवताने स्त्रीको प्रथमतः प्राप्त किया, द्वितीयतः गन्धर्व्व व तृतीयतः अग्निने प्राप्त किया और चतुर्थतः मनुष्यपतिने स्त्रीको प्राप्त किया। इस मन्त्रके भावार्थको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने इसे नियोगपर ही लगा दिया है और किसीने इसको विवाह-कालमें लगाकर रजस्वला होनेके बाद विवाह होना चाहिये ऐसा अर्थ करनेका यत्न किया है। परन्तु वास्तवमें इसका भावार्थ न नियोगका ही है और न विवाहकाल निर्णय करनेके लिये ही यह मन्त्र है। इसके

द्वारा स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी अवस्था व क्रममात्र ही बताये गये हैं। समष्टि व व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड व पिण्ड एकरूप होनेसे जितनी दैवीशक्तियाँ ब्रह्माण्डमें कार्य्यपरिचालन करती हैं उन सबोंका केन्द्र व्यष्टि सृष्टि अर्थात् जीव शरीरमें भी विद्यमान है। जीवशरीरमें दैवीशक्तियोंके केन्द्रस्थान रहनेसे ही जीवशरीरके भी सृष्टि, स्थिति व प्रलय हुआ करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र शक्ति ही जीवशरीरमें इन तीनों क्रियाओंको यथावत् सम्पादन करती हैं। इन तीनों मूल-शक्तियोंके अतिरिक्त इनके अधीनस्थ अनेक देवताओंकी शक्तियाँ शरीरमें अधिष्ठान करती हैं जिनके रहनेसे शरीरकी सब प्रकारकी नैसर्गिक उन्नति व परिवर्त्तन हुआ करते हैं। ऋग्वेदमें जो मन्त्र बताया गया है सो इसी भावके स्पष्ट करनेके लिये है। रजस्वला होने तक स्त्रीशरीरकी तीन अवस्थाएँ होती हैं जिनके करनेवाले तीन देवता हैं, सोम, गन्धर्व्व व अग्नि। इन तीनोंके द्वारा रजस्वला पर्य्यन्त स्त्रीशरीर पूर्ण होनेपर तब स्त्री गर्भाधानकी योग्या होती है जिसके करनेका भार मनुष्य पतिपर है। इसमें विवाहके वय:क्रमका कोई निर्देश नहीं है। केवल कन्यापनसे लेकर गर्भाधानकाल तक स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी तीन दशाएँ बतायी गयी हैं। अतः इससे विवाहसंस्कारका काल निर्णय नहीं करना चाहिये। विवाहसंस्कार-का सम्बन्ध भावराज्य व सूक्ष्मशरीरके साथ है और गर्भाधानका सम्बन्ध स्थूलशरीरसे अधिक है। दोनोंमें बहुत प्रभेद है। अतः दोनोंको एकहीमें मिलाना नहीं चाहिये और नियोगके लिये जो इस मन्त्रको किसी किसीने लगाया है सो सर्व्वथा मिथ्या है, क्योंकि इस मन्त्रसे नियोगका कोई भाव सिद्ध नहीं होता है। अब इस मन्त्रके द्वारा स्त्रीशरीरकी कौन कौन उन्नति किस किस देवताके अधिष्ठान-से होती है सो बताया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने अपनी संहितामें लिखा है कि—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां गिरम्।

पावकः सर्व्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

चन्द्र देवताने स्त्रियोंको शुचिता, गन्धर्व्वने मधुरवाणी व अग्नि देवताने सबसे अधिक पवित्रता दी है, इसलिये स्त्री पवित्र वस्तु है। इस श्लोकमें देवताओंके अधिष्ठानसे स्त्रियोंको मधुरवाणी आदिका लाभ होता है ऐसा कहा गया है। गोभिलीय गृह्यसंग्रहमें लिखा है कि—

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्व्वो रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः ॥

स्त्रीलक्षणोंके विकाश होते समय चन्द्रदेवका अधिकार, स्तनविकाशके समय गन्धर्व्वोंका अधिकार और रजस्वला होनेके समय अग्निका अधिकार रहता है। इन तीनों दैवीशक्तियोंके प्रभावसे ही कन्याकालके बाद रजस्वला तक स्त्रियोंकी सर्व्वाङ्गपूर्णता हुआ करती है और इसके अनन्तर ही गर्भाधानसंस्कार होता है जो कि मनुष्यपतिका कर्त्तव्य है। परन्तु विवाहसंस्कार इन तीनों लक्षणोंके विकाशके पहले ही होना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध पातिव्रत्यभावसे है, शरीरसे नहीं है और इसीलिये गोभिल ऋषिने पूर्व्वोक्त श्लोकके द्वारा स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी दशाओंको बताकर पश्चात् कहा है कि—

तस्माद्व्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम् ।
अभुक्ताञ्चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते ॥

इसलिये स्त्री-लक्षण-विकाशरूप पयोधर व रजस्वला होनेके पहले ही या चन्द्रादि देवताओंके कार्य्यके पहले ही कन्याका विवाह होजाना प्रशंसनीय है। यही सर्व्ववादिसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है। स्मृतियोंमें कहीं कहीं रजस्वलाके बाद विवाहके वचन जो देखे जाते हैं वे सब आपद्धर्म-विषयक हैं और उन सब श्लोकोंके पूर्व्वापर मिलानेसे आपद्धर्म्मका ही तात्पर्य्य निकलेगा। यथा-मनुसंहिता में कहा है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती ।
ऊर्द्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥
पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥

ऋतुमती होने पर भी यदि माता पिता कन्याको योग्य पात्रको दान न करें तो वह कन्या ऋतुके बाद तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके पश्चात् स्वयं ही योग्य पति निर्व्वाचित कर सकती है। इस प्रकारकी अवहेलासे पिता माताके द्वारा नहीं दान की हुई स्वयंवरा कन्याको कोई पाप नहीं होता है और उसके पतिको भी कोई पाप नहीं होता है। यदि धन लेकर कन्यादानरूप असुरविवाह हो, तथापि इस प्रकारसे माता पिताकी अवहेलासे ऋतुमती कन्याको जो पुरुष विवाह करेगा उसको कन्याके पिताको कुछ भी धन नहीं देना पड़ेगा। क्योंकि ऋतुरोधसे अपत्यरोध करके पिताने इस प्रकारका कन्याके ऊपर अपना जो आधिपत्य था उसे नष्ट कर दिया है। इन श्लोकोंके द्वारा यदि पिता, माता या आत्मीय व कुटुम्बी कोई विवाह न करावें तब तीन वर्षतक ऋतुके बाद रहनेकी और स्वयंवरा होनेकी आज्ञा मनुजीने की है। यह आपद्धर्म्म है। इसको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने साधारण विवाहकालके लिये इस श्लोकको लगा दिया है सो उनकी भूल है। इन श्लोकोंसे पतिनिर्व्वाचनमें पिता का ही अधिकार है, कन्या या वरका नहीं है, कन्याका अधिकार केवल आपत्कालमें ही है ऐसा भी पूर्णरीत्या सिद्ध होता है, इसके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। इसी आपद्धर्म्मके सिद्धान्तको और भी कई महर्षियोंने स्वीकार किया है। यथा वशिष्ठसंहितामें लिखा है कि:—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम् ।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ॥

अविवाहिता अवस्थामें ऋतुमती होने पर कन्या तीन वर्षतक पिताकी प्रतीक्षा करके चौथे वर्षमें योग्य पति स्वयं ढूंढ़ ले सकती है। ये सब आपद्धर्मकी विधियां हैं। केवल इतना ही नहीं, आपद्धर्ममें तो मनुजीने यावज्जीवन कुमारी रखनेकी भी आज्ञा दी है। यथाः—

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥
काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

उत्तम कुल-शीलवान् योग्य वर मिलने पर विवाहयोग्या न होने पर भी कन्याको ऐसे पात्रमें यथाविधि दान करे और ऋतुमतीको यावज्जीवन घरमें रखना भी अच्छा है, तथापि गुणहीन पात्रमें समर्पण करना उचित नहीं है। इस प्रकार आपद्धर्मकी बातें अन्यान्य महर्षियोंने भी कही हैं अतः इन सब वचनोंको साधारण विवाह-विधिमें भी नहीं लगाने चाहिये । अब स्मृतिकारोंने कन्या विवाहकालके विषयमें इतनी सावधानताका अवलम्बन क्यों किया है सो बताया जाता है। यदि महर्षि लोग स्त्रीको केवल सन्तान उत्पन्न करनेका यन्त्रमात्रही समझते तो इतनी बातें कभी नहीं बताते। परन्तु वे इस बातको निश्चित जानते थे कि स्त्रीमें पतिप्रेम, पातिव्रत्य धर्म्म तथा तपस्याभावकी थोड़ी भी न्यूनता होनेसे सन्तति धार्म्मिक और आर्य्यभावापन्न नहीं होती। इसलिये उन्होंने बहुत विचार करके ऐसी ही विधि बतायी है कि जिससे दाम्पत्यप्रेमके द्वारा संसारमें शान्ति रहे, दम्पतिकी शारीरिक और मानसिक कुछ भी हानि न हो और सन्तति भी धार्मिक तथा स्वस्थशरीरवाली उत्पन्न हो।

अब महर्षियोंके द्वारा विहित विवाहसे उक्त बातोंकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो बताया जाता है। यौवनके प्रथम विकाशके साथही साथ स्त्री और पुरुषमें जो भोग्यभोक्ताका ज्ञान होता है यह स्वाभाविक बात है, परन्तु इस स्वभावके अतिरिक्त स्त्रियोंमें जो रजोधर्म्मका विकाश होता है यह बात साधारण और विशेष है। रजोधर्म्म प्रकृति की विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारणयोग्या होजाती है, यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गितके कारण रजस्वला होनेके समय अर्थात् ऋतुकालमें स्त्रियोंकी कामचेष्टा बहुतही बलवती हुआ करती है अतः उस समय स्त्रियोंमें विशेष चाञ्चल्य होना स्वाभाविक है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये ही महर्षियोंने रजस्वलाके पहले विवाहकी आज्ञा की है क्योंकि ऐसा न होनेसे नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहां तहां फैलकर पातिव्रत्य में बहुत हानि कर सकती है। और जहां एक वार निरंकुशताका अभ्यास पड़ा, तहां पुनः उसे रस्ते पर लाना बहुतही कठिन होजाता है क्योंकि स्त्री-प्रकृति चञ्चल होनेसे थकती नहीं है, अविद्याभाव-के विकाशके लिये थोड़ा भी अवसर मिलनेसे उसी भावमें रमजाती है और उसमें पुनः विद्याभावका विकाश करना बहुतही कठिन हो जाता है। परन्तु पुरुषकी प्रकृति ऐसी नहीं है, उसमें यौवन-सुलभ साधारण काम भाव रहता है, उसमें रजस्वला-दशाका विशेष भाव नहीं है। अतः उस साधारण भावका विकाश भी साधारणतःही होता है एवं विशेष प्राकृतिक प्रेरणा स्त्रियोंकी तरह नहीं होती है इसलिये स्त्रियोंकी तरह, यौवनके उदयसे भोग्यभोक्ताभाव होतेही, उसी समय विवाह करनेकी प्रबल आवश्यकता उनके लिये नहीं होती है। इसके सिवाय पुरुषके चाञ्चल्यकी सीमा है और उसमें थकान है जिससे स्वभावतः ही पुरुष निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें आ सकता है। इसी प्रकारको विशेष धर्मकी विभिन्नताके कारण ही महर्षियोंने स्त्री तथा पुरुषके विवाहकालमें भी भेद रक्खा है। द्वितीयतः पुरुषमें ज्ञान-

शक्तिकी अधिकता होनेसे साधारण काम-भावको विचार द्वारा पुरुष रोक सकता है; परन्तु स्त्रीमें अज्ञानप्रभावकी अधिकता होनेसे असाधारण प्राकृतिक प्रेरणाको रोकना बहुत ही कठिन होजाता है। तृतीयतः यदि रोक भी न सकें तथापि पुरुषके व्यभिचारसे समाजमें और कुलमें इतनी हानि नहीं पहुँचती है जितनी हानि स्त्रीके व्यभिचारसे पहुँचती है। पुरुषके व्यभिचारका प्रभाव अपने शरीरही पर पड़ता है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे वर्णसङ्कर उत्पन्न होकर जाति, समाज कुलधर्म सभीको नष्टकर देता है। इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रीके लिये रजस्वला होनेसे पहले ही विवाहकी आज्ञा की गयी है और पुरुषके लिये अधिक वय:क्रम पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यासकी आज्ञा दी गयी है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रह सकें तो "धर्म्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्म्म हानिकी सम्भावना होने पर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजीने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक और सामाजिक बातों पर विचार करनेसे महर्षियोंकी आज्ञा युक्तियुक्त मालूम होगी। पातिव्रत्यधर्म्मके पालन किये विना स्त्रीका अस्तित्वही वृथा है इसलिये जिन कारणोंसे पातिव्रत्यपर कुछ भी धक्का लगनेकी सम्भावना हो उनको पहलेसे ही रोककर जगदम्बाकी अंशस्वरुपिणी स्त्रीजातिकी पवित्रता और सत्वगुणमय विद्याभावका मर्य्यादाकी ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा।

आर्य्यशास्त्रोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका साधन स्थूलशरीरको भी माना जाता है। स्थूलशरीरकी रक्षाके विना आध्यात्मिक उन्नतिमें भी असुविधा होती है इसलिये स्त्रीजातिके लिये पातिव्रतधर्म्मके साथही साथ स्थूलशरीरकी रक्षा और उन्नति हो इसमें ध्यान रखना योग्य है। माता पिताका शरीर स्वस्थ न होनेसे सन्तति भी दुर्बल तथा रुग्ण होती है इसलिये जिससे सन्तति भी अच्छी हो ऐसा यत्न होना चाहिये। गर्भाधान कालके विषयमें सुश्रुतमें लिखा है कि—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

पचीस वर्षसे कम आयुका पुरुष यदि सोलह वर्षसे कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान करे तो गर्भमें सन्तानको विपत्ति होती है और यदि इस प्रकारसे सन्तान उत्पन्नभी हो तोभी या तो वह अल्पायु होती है या दुर्बलेन्द्रिय होती है इसलिये कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये। इस प्रकारसे सुश्रुतमें जो गर्भाधान कालका निर्णय किया गया है सो अवश्य माननीय है। किसी किसी अर्वाचीन पुरुषने सुश्रुतके इस वचनको विवाहकालके लिये लगादिया है सो उनकी भूल है क्योंकि इन श्लोकोंमें ही कहा गया है कि यह विषय गर्भाधानका है। अब विचार करनेकी बात यह है कि कम आयुमें विवाह व गर्भाधान करनेसे सन्तति दुर्बल होती है और रजस्वला हो जानेके बाद विवाह करनेसे पातिव्रत्य धर्ममें बाधा होती है अतः ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिससे सन्तान भी अच्छी हो और पातिव्रत्यधर्म भी पूरा बना रहे सो कैसे हो सकता है यह बताया जाता है। साधारण रजःकालके विषयमें सुश्रुतमें कहा है कि:—

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥

साधारणतः १२ वर्षकी आयुसे रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्षकी आयुमें वार्द्धक्य आनेपर समाप्त होता है। बारह वर्षका काल रजोदर्शनका साधारण काल है। इससे कम आयुमें या अधिक आयुमें भी विशेष कारण होनेपर रजोदर्शन हो सकता है। गर्भा-

धान संस्कारके साथ इस प्रकारके विशेष कारणका क्या सम्बन्ध है सो पहले बताया गया है। प्रकृतिके वैलक्षण्यसे भी विशेष कारण होजाता है ऐसा वैद्यकशास्त्रका सिद्धान्त है। यथा वातप्रधान शरीरमें १२ वर्षमें और पित्तप्रधान शरीरमें १४ वर्षमें प्रायः रजोदर्शन होता है। इसके सिवाय असमयमें रजोदर्शनके और भी कईएक कारण हैं। यथा-अस्वाभाविक बलप्रयोग, उत्तेजक औषधिसेवन, रतिविषयक चिन्ता और काव्य या कथोपकथन इत्यादि। अतः विवाहके पहले पिता माताको सदाही सावधानतापूर्वक देखना चाहिये जिससे ऊपर लिखे हुए दोष कभी कन्यामें न होने पावें। इस प्रकारसे पालन की हुई कन्यामें जब स्वाभाविकरूपसे स्त्रीभाव विकाशकी सूचना होने लग जाय तब उसका विवाह योग्य पात्रमें करदेना चाहिये। विवाह कर देनेके बादही स्त्री पुरुषका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। पातिव्रत्यकी सुरक्षाके लिये कन्याके चित्तको पतिरूप केन्द्रमें बाँध दिया इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि चाहे रजोदर्शन हुआ हो या नहीं हुआ हो उस कन्याके साथ उसी समयसे पाशविक व्यवहार शुरू हो जाय। शास्त्रमें रजोदर्शनके पहले स्त्रीगमनको ब्रह्महत्याके समान पापजनक कहा गया है। यथा—स्मृतिमें—

> मार्ग्रजोदर्शनात्पत्नीं नेयाद्गत्वा पतत्यधः।
> व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

रजोदर्शनके पहले स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे पुरुषका अधःपतन होता है और इस प्रकार वृथा शुक्रनाशसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। अतः विवाहके अनन्तर जबतक स्त्री रजस्वला न हो तबतक कभी उसके साथ सम्बन्ध पतिको नहीं करना चाहिये। कन्यापनमें जो कुछ अपने अधिकारके अनुसार शिक्षा कन्याको प्राप्त हुई थी उसके अनन्तरकी शिक्षा पति उसे दिया करे। पातिव्रत्यकी महिमा, स्त्रीके लिये

अनन्य धर्म्म पातिव्रत्य है, श्री, लज्जा, आज्ञाकारिणी होना, आलस्य-त्याग और तपस्या आदि, स्त्रीके लिये आवश्यक शिक्षा योग्य जो धर्म्म हैं सो सब बातें सिखाया करे। उसके साथ कामकी बातें कभी नहीं किया करे, परन्तु उसके चित्तमें विशुद्ध प्रेमका अंकुर जमाया करे। इस प्रकार रजस्वला होनेके पहले तक स्त्रीके साथ बर्त्ताव होना चाहिये। पश्चात् रजस्वला होनेके बाद भी कुछ समय तक पतिपत्नीको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। यह बात सत्य है कि रजस्वला स्त्रीमें गमन न करना भ्रूणहत्याके पापके समान है ऐसा महर्षियोंने वर्णन किया है। यथा व्याससंहितामें:—

> भ्रूणहत्यामवाप्नोति ऋतौ भार्य्यापराङ्मुखः।
> सा त्ववाप्याऽन्यतो गर्भं त्याज्या भवति पापिनी॥

ऋतुकालमें अपनी स्त्रीमें गमन न करनेसे पुरुषको भ्रूणहत्याका पाप होता है और यदि ऋतुमती स्त्री दूसरे पुरुषसे गर्भोत्पादन करावे तो वह पापिनी तथा त्याज्या होती है। स्त्रीको ऋतु होना सृष्टिविस्तारके लिये प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा है क्योंकि उसी समय पुरुषका बीज मिलनेसे स्त्री सन्तान उत्पन्न करसकती है। इसलिये ऋतुकालमें गमन न करनेसे स्वाभाविक सृष्टिकार्य्यमें बाधा होनेके कारण पाप होता है, परन्तु यह धर्म्म साधारण है क्योंकि यह प्रकृतिके साधारण सृष्टिप्रवाहका विषय है। विशेष धर्मको आश्रय करके यदि स्त्री व पुरुष दोनों ही कुछ दिनोंतक ब्रह्मचारी रह सकें तो कोई हानि नहीं है। प्रवृत्ति सर्व्वसाधारणके लिये धर्म्म होने पर भी निवृत्ति सदा ही आदरणीय है। गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुषका साधारण धर्म्म है कि ऋतुकालमें सम्बन्ध करके सृष्टि विस्तार करें, परन्तु यदि कोई गृहस्थ नरनारी निवृत्तिके विशेष अभ्यासके लिये ब्रह्मचर्य्य धारण करें तो उससे अधर्म्म नहीं होगा, अधिकन्तु धर्म्म ही होगा और ब्रह्मचर्य्य धारण होनेसे आगेकी सन्तति अच्छी होगी। इसी सिद्धान्त-

के अनुसार यदि प्रकृतिका वैचित्र्य, गर्भाधान संस्कारकी न्यूनता अथवा और किसी कारणसे जितनी आयुमें शरीरकी पूर्णता होनेसे अच्छी सन्तति होसकती है उसके पहले ही किसी स्त्रीको रजोदर्शन होजाय तो जबतक शरीर पूर्ण व गर्भाधानके योग्य न हो तबतक दम्पतिके ब्रह्मचर्य्य धारण करनेमें कोई दोष नहीं होगा। सुश्रुतमें जो १२ वर्षमें रजोदर्शनकी सम्भावना बताकर १६ वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा दी गई है उसका यही तात्पर्य्य है और इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा अन्यान्य शास्त्रोंमें भी मिलती है। यथा-कातीय गृह्यसूत्रमें :—

त्रिरात्रमक्षाराऽलवणाऽशिनौ स्यातामधः
शयीयातां संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्।

तीन रात्रि तक लवण व किसी प्रकारका क्षार द्रव्य दम्पति नहीं खावें, भूमिशय्या पर सोवें और एक वर्ष तक संसर्ग न करें इत्यादि। इसी प्रकार संस्कारकौस्तुभमें शौनकने भी कहा है कि:—

अत ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रं तौ द्वादशाऽहमथाऽपि वा।
शक्तिं वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरन्तौ दम्पती व्रतम॥
अक्षारलवणाऽऽहारौ भवेतां भूतले तथा।
शयीयातां समावेशं न कुर्य्यातां वधूवरौ।

विवाहके अनन्तर ३ तीन रात्रि, १२ बारह दिन और यदि शक्ति हो तो वर्ष पर्य्यन्त दम्पति निम्नलिखित व्रतका पालन करें। क्षार द्रव्य व लवण नहीं खावें, भूमिशय्या पर सोवें और संसर्ग न करें। ब्रह्मपुराणमें भी लिखा है कि:—

कृते विवाहे वर्षैस्तु वास्तव्यं ब्रह्मचारिणा।

विवाह होनेके बाद बहुत वर्ष तक दम्पतिको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। एतद्देशमें जो कहीं कहीं द्विरागमन की प्रथा है उससे

भी ऊपर लिखित भावोंका आभास पाया जाता है; अर्थात् कन्याका विवाह रजस्वला होनेसे पहले शास्त्रोक्त समय पर करदेने पर भी कन्याको पिता अपने घरमें ही रक्खें और कुछ समयके अनन्तर कन्याको पतिसङ्गके उपयोगी समझने पर उसका द्विरागमन (गौना) कर देवें। यह उत्तम रीति अब भी बहुत देशोंमें प्रचलित है। इस रीतिका संस्कार करने पर सब ओरका कल्याण होसकता है। पति पत्नीका एक जगहमें रहकर ब्रह्मचर्य्य रखना कलियुगमें कुछ कठिन है; परन्तु यह रीति सब तरहसे सुगम व सुफल देनेवाली है। अतः विवाह होने पर भी जबतक स्त्रीका शरीर पूर्ण न हो तबतक गर्भाधान करना ठीक नहीं है।

अब प्रश्न होसकता है कि यदि रजस्वलाके बाद भी कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य्य पालन होना ही ठीक है तो अविवाहिता अवस्थामें ही रजस्वला होने पर दो तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य पालन कराकर तब कन्याका विवाह कर देनेमें हानि क्या है? इसका यह उत्तर है कि जाति या वंशकी पवित्रता व शुद्ध सृष्टि विस्तारके साथ जिसका सम्बन्ध जितना अधिक है उसकी पवित्रता रक्षाके लिये भी उतना ही अधिक प्रयत्न होना चाहिये और जिस कार्य्यसे अपवित्रताकी थोड़ी भी सम्भावना हो उससे सदाही दूर रहना चाहिये। पुरुषमें व्यभिचार दोष हो तो उसका फल पुरुषके अपनेही शरीर व मन पर पड़ता है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचारदोषका प्रभाव समस्त कुल समाज व जाति पर पड़ता है। उच्च कुलकी स्त्री यदि कदापि व्यभिचारसे नीच कुलका वीर्य्य अपने गर्भमें लावे अथवा आर्य्य स्त्री व्यभिचारसे अनार्य्य वीर्य्यको गर्भमें लावे तो उससे समस्त कुल समाज व जाति कलङ्कित होजाती है। इसलिये पुरुषसे भी स्त्रीकी रक्षा अधिक प्रयोजनीय है। रजस्वला एक ऐसी दशा है जिसमें प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा होनेके कारण बहुतही सावधान होनेकी दशा है। उसमें ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा होसके तो अच्छी बात है परन्तु

होनेकी अपेक्षा न होनेकी सम्भावनाही अधिक है। श्रीगीताजीमें कहा है कि:—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

विद्वान् विचारवान् और इन्द्रियनिग्रहमें यत्नशील पुरुषकी भी इन्द्रियाँ प्रमत्त होकर चित्तको विषयोंमें आसक्त कर देती हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार साधारण दशामें भी जब इन्द्रियदमन कठिन है तो सन्तान-उत्पत्ति करनेके लिये स्वयं प्रकृतिकी ओरसे रजस्वला-दशामें स्त्रीके चित्तमें कामकी इच्छा उत्पन्न होती है उसको रोककर ब्रह्मचर्य्य धारण करना साधारण स्त्रीके लिये कदापि सम्भव नहीं होसकता है। इसमें चाञ्चल्य, पुँश्चलीवृत्ति, अनेक पुरुषोंमें चित्तकी आसक्ति और व्यभिचारदोषकी बहुतही सम्भावना रहती है जिससे संसारमें घोर अनर्थ, वर्णसङ्कर व अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर हिन्दू-जाति नष्ट होसकती है। इसलिये पहलेहीसे सावधान होनेके लिये महर्षियोंने रजस्वलाके पहले विवाह करानेकी आज्ञा देकर पश्चात् पतिके साथ ब्रह्मचर्य्यपालनकी आज्ञा दी है। इससे यदि पति धार्मिक व विचारवान् हो तो गर्भाधान न करके और तरहसे साधारण प्रीतिके साथ निभा सकता है और यदि ब्रह्मचर्य्य धारण करना कभी असम्भवही हो जाय तो पतिके मौजूद रहनेसे अन्य पुरुषोंमें चित्त जानेकी सम्भावना कम रहेगी। अतः विवाहके पहले ब्रह्मचर्य्य धारणकी अपेक्षा स्त्रीकेलिये विवाहके बाद ही ब्रह्मचर्य्य धारण करना युक्तियुक्त है। सबसे बड़ी बात यह है कि आदर्श सतीका श्रेष्ठ लक्षण जो आर्यशास्त्रमें कहागया है कि अपने पतिके सिवाय और पुरुषको पुरुषही न समझे, रजस्वलाके अनन्तर विवाह होने पर उस स्त्रीमें आदर्श सती-धर्मका यह लक्षण प्रकट होही नहीं सकता है; क्योंकि रजस्वला होतेही स्त्री पुरुषदर्शनकी इच्छा करेगी।

उस समय पतिरूप दुर्ग द्वारा उसका अन्तःकरण सुरक्षित न रहने-से उसके चित्तपर अनेक पुरुषोंकी छाया स्वतःही पड़ेगी सो इस दशामें वह स्त्री आदर्शसती होने के अयोग्य हो जायगी। इसीलिये शास्त्रोंमें महर्षियोंने सर्व्वत्र रजस्वला होनेके पहले विवाहका आदेश किया है।

अब बाल्यावस्थामें स्त्री व पुरुषका विवाह होनेसे क्या लाभ और क्या हानि है इसपर विचार किया जाता है। विवाह संस्कारके प्रयोजन-वर्णनके प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि आर्य्यशास्त्रमें सभी कार्य्य आध्यात्मिक लक्ष्य अर्थात् मुक्तिको लक्ष्यीभूत रखकर अनुष्ठित होनेके कारण विवाहविज्ञानके भीतर स्त्री व पुरुष दोनोंकी ही मुक्तिका गम्भीर तत्त्व निहित है इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्त्रीको मुक्ति पातिव्रत्यके पूर्ण अनुष्ठानद्वारा पतिमें तन्मय होकर अपनी सत्ताको पतिमें विलीन कर देनेसे और पुरुषकी मुक्ति प्रकृतिको देखकर और उससे अलग होकर अपने ज्ञानमय स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेसे सिद्धहोती है। विवाह सस्कारके द्वारा ये दोनों ही बातें सिद्ध होती हैं इसलिये विवाह संस्कार पवित्र है। परन्तु यह पवित्रता और इसके द्वारा लक्ष्य सिद्धि तभी ठीक ठीक होसकती है जब वयःक्रमकी विवेचनापूर्व्वक विवाह हो, अन्यथा लक्ष्यमें सिद्धिलाभ होना कठिन होजाता है। जब अपनी सत्ताको पतिमें लय कर देना ही पातिव्रत्यका लक्ष्य है तो यह बात अवश्य माननी होगी कि अधिक आयुमें कन्याका विवाह होनेसे पातिव्रत्य धर्मका पूर्ण अनुष्ठान बहुत ही कठिन होजायगा। मायामय संसारमें समस्त मायिक सम्बन्ध अभ्यासके द्वारा बद्धमूल होते हैं। सतीके चित्तमें पतिके प्रति प्रेम, रस व उत्तापके संयोगसे कमलकी तरह रूपासक्ति, गुणासक्ति आदिके द्वारा धीरे धीरे विकाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके विकाशकी सम्भावना बालिकावस्थाके प्रेममें जितनी है युवावस्थाके कामभूलक प्रेममें उतनी कदापि नहीं होसकती है। अच्छा देखेंगे इस प्रकारकी इच्छा चित्तमें होनेसे ही अच्छा देखा

जाता है । मायाकी लीला ऐसी ही है । नवदम्पतिको प्रेमसूत्रमें बांधने के लिये पिता माता पुत्रके सामने वधूकी प्रशंसा करेंगे और श्वसुर व सास वधू (कन्या) के सामने जामाता (पुत्र) का प्रशंसा करेंगे। इस प्रकारसे दम्पतिके चित्तमें परस्परके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा। वधू अपने जीवनको पतिके लिये समर्पण करनेकी शिक्षा लाभ करेगी। अनुराग कल्पतरुकी तरह शाखा पल्लवसे सुशोभित होकर शान्तिरूपी अमृतफल प्रसव करेगा। इस प्रकारके दाम्पत्य प्रेम-की सम्भावना बालिका-विवाहमें ही अधिक है । युवावस्थामें कन्या का विवाह होनेसे यह भाव नहीं उत्पन्न होसकता है क्योंकि उस समय कामभावकी वृद्धि होनेसे सात्त्विक प्रेमका प्रभाव चित्तपरसे न्यून होजाता है । उस समय चित्तकी कोमलता नष्ट होजाती है, अभ्यास बँध जाता है, प्रकृति बहुपुरुषोंके भावमें भावित होजानेसे एकमें स्थिरता अवलम्बन नहीं कर सकती है, पिताके गृहमें स्वतन्त्रता अधिक व लज्जा-शीलता कम होनेसे अधिक आयुमें पतिके अधीन व लज्जा शालिनी होना बहुत ही कठिन होजाता है इत्यादि इत्यादि बहुत कारणोंसे अधिक आयुके विवाहमें पातिव्रत्यधर्मकी हानि होती है जिससे संसारमें नित्य अशान्ति, दम्पतीकलह, अनाचार आदि सभी दुर्गुण भर जाते हैं और इस प्रकार दाम्पत्य प्रेमकी न्यूनतासे पाति-व्रत्यमें हानि होनेसे स्त्रीकी अधोगति होती है और विवाह-संस्कार-का लक्ष्य असिद्ध रह जाता है। इसलिये महर्षियोंने रजस्वलाके पहले बालिकावस्थामें ही विवाहकी विधि उत्तम मानी है। विचार करनेकी बात है कि जिस देशमें अधिकवयस्का स्त्रियोंकी विवाहविधि है, विवाहोच्छेद (divorce) का भी नियम उसी देशमें अवश्य है। यदि अधिक आयुके विवाहमें शान्ति रहती तो इस प्रकार विवाहो-च्छेदका नियम नहीं रहता । इससे संसारमें अशान्ति व दाम्पत्यप्रेम-में न्यूनता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । अतः स्त्रीको उन्नति व मुक्तिकेलिये बालिकाविवाहकी रीति ही उत्तम है और इस विषय-

को लक्ष्यीभूत रखते हुए किस समय कन्याका विवाह होना चाहिये सो पहले ही बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु पुरुषके विवाहमें ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। जब प्रकृतिको त्रिगुणमयी लीलाको देखकर उससे अलग हो स्वरूपस्थित होना ही पुरुषकेलिये विवाहका लक्ष्य है तो इस प्रकार देखनेकी शक्ति उत्पन्न होनेके पहले विवाह करनेसे प्रकृतिके द्वारा बन्धन होजाने की बहुत सम्भावना रहेगी। बालकपनके विवाहसे पुरुषमें निर्वीर्य्यता, दुर्बलता, कठिनरोग, स्त्रैणता आदि बहुत दोष होजाते हैं। ब्रह्मचर्य्य पुष्ट होनेके पहले ही ब्रह्मचर्य्य नष्ट होनेका कारण होजानेसे पुरुषकी बड़ी ही दुर्दशा होजाती है। वे धातुदौर्बल्य, वीर्य्यतारल्य, स्नायविक तेजोहीनता, क्षयरोग, पक्षाघात, अजीर्णता व उन्माद आदि बहुतरोगोंसे ग्रस्त होजाते हैं। उस दशामें जो सन्तति होती है सोभी रोगी, अल्पायु व दुर्बल होती है। वीर्य्यके दुर्बल होनेसे प्रायः कन्या उत्पन्न होता है और नपुंसकता आदि भी होकर कुलकलङ्की सम्भावना बढती है। मन, बुद्धि व स्मृतिशक्ति आदि नष्ट होकर विद्याप्राप्ति व सांसारिक जीवनमें क्षति होती है। चित्तकी अपक्वदशामें वैषयिक बातें बढ जानेसे चित्तविक्षेप आदि दोष होजाते हैं जिससे संसारमें ऐसे मनुष्यसे किसी प्रकारकी उन्नति नहीं प्राप्त होसकती है इत्यादि इत्यादि हजारों दोष बाल्यविवाहके द्वारा उत्पन्न होते हैं। निस्तेजमन व निस्तेजवीर्य्य पुरुष प्रायः स्त्रैण हुआ करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है जिससे दलदलमें फँसे हुए बूढ़े हाथीकी तरह संसारपङ्कमें आजन्म वे निमग्न रहते हैं। वैराग्यबुद्धि, त्याग व वासनानाश आदि कोई गुण ऐसे पुरुषमें देखनेमें नहीं आते हैं। इन सब कारणों से वानप्रस्थ या तुरीयाश्रमकी योग्यता उनमें कुछ भी नहीं होती है। मनुष्यजन्म मुक्तिका साधक होनेसे सदा ही मिलना दुर्लभ है परन्तु इस प्रकारके हतभाग्य पुरुषोंका मनुष्यजन्म ही वृथा होजाता है। वे जीवन्मुक्त न होकर जीवन्मृत होते हैं। ये ही सब दोष पुरुषके

बाल्यविवाहसे उत्पन्न होते हैं। आजकल भारतवर्षमें बाल्यविवाहकी तो बात ही क्या है, बहुत स्थानोंमें ऐसी कुरीतियाँ चल पड़ी हैं कि वरसे कन्याकी आयु अधिक होती है। भोगशक्ति पुरुषसे स्त्रीमें अधिक होनेके कारण और भोग द्वारा स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषकी हानि अधिक होनेके कारण महर्षियोंने स्त्रीसे पुरुषकी आयु अधिक रखनेकी आज्ञा की है। बाल्यविवाहके द्वारा इस आज्ञाके अन्यथा होनेसे ऊपर लिखे हुए अनर्थ तो होते ही हैं परन्तु कन्याकी आयु वरसे अधिक होनेसे ऐसी कन्या सब प्राणघातिनी हुआ करती है। सिद्धिनीकी तरह ऐसी स्त्री पुरुषकी प्राणशक्तिको पीजाती है अतः इस प्रकारका विवाह कभी नहीं होना चाहिये। इससे अधिक वर्णन क्या करें इस प्रकारके विवाहसे पुरुषकी सत्तानाश होजाती है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा है कि —

अनन्यपूर्व्विकां यवीयसीम्।

अनन्यपूर्व्विका और यवीयसी कन्याके साथ विवाह करना चाहिये। यह कहकर कन्याकी आयु वरसे कम होनी चाहिये ऐसा बताया है। मनुजीने तो कभी अढाईगुणी और कभी तीनगुणी अधिक आयु कन्यासे वरकी होनी चाहिये ऐसा बताया है इसका प्रमाण पहले दिया जाचुका है। स्मृतियोंमें साधारण आज्ञा तो यह है कि:—

वर्षैरेकगुणां भार्य्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम्।

कन्याकी आयुसे तीनगुणी आयु वरकी होनी चाहिये और कहीं कहीं दोगुणी आयु होना भी कहा है। और भी मनुजीने कहा है कि—

धर्म्मे सीदति सत्वरः।

धर्म्मनाशका भय होनेसे और भी शीघ्र विवाह हो सकता है। परन्तु इस प्रकारकी आज्ञा होने पर भी सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार सोलह व पचीसका अनुपात तो अवश्य ही होना चाहिये कि जिससे

पुरुषका वय-क्रम स्त्रीसे इतना अधिक रहे।कि गर्भाधानके कालमें शारीरिक मानसिक या और किसी प्रकारकी न्यूनताकी सम्भावना नहीं हो और सन्तति भी धा नक और तेजस्वी हो सके। यही श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तित वरवधूके विवाहकाल का वर्णन है। इस पर ध्यान रखकर पिता माताको पुत्र कन्याका विवाह संस्कार करना चाहिये।

विवाह संस्कारके अनन्तर ही नारी जीवनकी द्वितीय अर्थात् गृहिणी-अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्थामें पतिदेवतामें तन्मयतामूलक पवित्रतामय सतीधर्मकी जो शिक्षा लाभ हुई थी, गृहिणीअवस्थामें उस सतीधर्म या पातिव्रत्यकी चरितार्थता होती है। जिस प्रकार श्रेष्ठ भक्त भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभीको समर्पण करके भगवद्भावमें तन्मय होकर भगवान्‌को प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार सती भी पतिदेवताके चरणकमलोंमें अपना जो कुछ है सो सभी समर्पण करके उन्हींमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है। वेद मधुरनिनादसे आज्ञा करता है कि:—

अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।
पतिरिव जायामभिनोन्येतु॥
पतिदेवा भव।

यह पतिव्रताके कीर्त्तिकलापका ही गान है। स्मृतियोंके पत्र पत्रमें पतिव्रताकी ही महिमा गाई गई है। स्कन्दपुराणमें लिखा है कि:—

तपनस्तप्यतेऽत्यन्त दहनोऽपि च दह्यते।
कम्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥
यावत्स्वलोमसंख्याऽस्ति तावत्कोटियुगानि च।
भर्त्रा स्वर्गसुखं भुङ्क्ते रममाणा पतिव्रता॥
धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः।

धन्यः स च पतिः श्रीमान् यस्य गेहे पतिव्रता ॥
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयः स्त्रियः।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते ॥

पतिव्रताके तेजसेही सूर्य्य व अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थोंकी ज्योति संसारको आलोकित करती है। पतिव्रता स्त्री अनन्तकाल तक पतिके साथ निज पुण्यबलसे स्वर्गमें दिव्य सुख प्राप्त करती है। जिस संसारमें पतिव्रता सती रहती है वहां माता पिता पति सभी धन्य होते हैं। पतिव्रताके पुण्यसे पितृकुल मातृकुल व श्वशुर-कुल तीनोंही स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं। येही सब सतीकी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित की गई है।

सतीत्वरूपी कल्पतरुका मूल पतिकी अनिष्ट शङ्का है और उसका काण्ड निरन्तर पतिदर्शनलालसा है। "मैं उनके पहले कैसे इहलोक त्याग करूँगी, कदाचित् मुझे उनके पीछे जीती रहनेका दौर्भाग्य भोगना पड़े" इस प्रकारकी आशङ्का सदाही सतीके चित्तमें रहती है। यही सतीत्वरूपी कल्पतरुका मूल है। शास्त्रका सिद्धान्त है कि:—

स्नेहः सदा पापमाशङ्कते ।

स्नेह सदाही अनिष्टकी आशङ्का करता है। "पति प्रसन्न रहेंगे, दीर्घायु व नीरोग रहेंगे व आनन्दसे रहेंगे" इस प्रकारका विश्वास होनेसे सतीके चित्तमें प्रफुल्लता होती है। "कदाचित् उनको कोई कष्ट हो और अप्रसन्नता हो" इस प्रकारकी चिन्ता सतीके चित्तमें सदाही बनी रहती है। पतिचिन्ताके सिवाय सतीके चित्तमें और कोई भी चिन्ता स्थान नहीं पाती है। सतीधर्म्मका मूल यही प्रगाढ़ चिन्ता है और इस प्रकारकी चिन्ता मूलमें होनेसेही सतीधर्म्ममें चिरस्थायी गाम्भीर्य्य भरा हुआ रहता है। सतीके आनन्दमें तर-लता नहीं है और उल्लासमें लघुता नहीं है, गाम्भीर्य्यभरा आनन्द

है। इस प्रकारका गाम्भीर्य्यभाव भी सतीत्वका अन्यतम लक्षण है। सतीत्वरूपी कल्पतरुको मूलभूत उस प्रगाढ चिन्तासे एक अद्भुत काण्ड निकलता है जिसका नाम पतिदर्शनलालसा है। "वे जैसे आनन्द व आराममें थे वैसे ही तो हैं? या उनको कुछ कष्ट हो रहा है" इस प्रकारकी शङ्कासे ही पतिदर्शनलालसा उत्पन्न होती है। पतिके दूर रहनेसे, यहां तक कि आँखके पलकके अन्तरालमें होनेसे सतीके लिये समस्त संसार अन्धकारमय हो जाता है। सतीधर्म्म यथार्थ निष्कामधर्म्म है क्योंकि मुक्तिकामना कामना नहीं है। जिस कामनासे कामनाकी वृद्धि हो वही कामना कामनापदवाच्य है और जिस कामनामें अखिल कामनाका लय हो वह कामना नहीं कहला सकती है। सतीके चित्तमें पतिके चरणकमलोंमें विलीन होकर केवलमात्र मुक्तिलाभकी ही कामना विद्यमान है। सतीकी समस्त सांसारिक कामना इसी पवित्र कामनामें विलीन होनेके कारण सतीधर्म निष्कामधर्म है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। सतीका जीवन पतिके ही सुखके लिये है, अपने लिये नहीं है। यही निष्कामधर्मका सारतत्त्व है। सतीत्वरूपी कल्पतरुका मूल अन्यान्य वृक्षोंके मूलकी तरह सदा ही सतीके हृदयक्षेत्रमें प्रच्छन्न रहा करता है। उस मूलमें कुछ भी आघात लगनेसे समस्त वृक्ष थरथर काँप उठता है परन्तु साधारणतः उस मूलको कोई देख नहीं सकता है, यहाँ तक कि विशेष सूक्ष्मदर्शी व अनुसन्धित्सु न होनेसे पति स्वयं भी उस मूलको देख नहीं सकते हैं; वे केवल पतिदर्शनलालसारूप काण्डको ही देखते हैं और यह भी सत्य है कि उस काण्डका यथार्थ अवयव पतिकी ही दृष्टि में आ सकता है। सतीत्व कल्पतरुकी शाखाप्रशाखा अनेक हैं। यथा–पतिकी मानहानिका भय और अर्थहानिका भय इत्यादि। ये सब शाखाप्रशाखायें सतीके चित्तक्षेत्रमें व्याप्त रहा करती हैं और अन्य लोग भी इन सबोंको देख सकते हैं। सतीत्व कल्पतरु आशीर्ष सुन्दर पत्रोंसे सुशोभित है, सतीके क्रियाकलाप ही वे सब पल्लव हैं, वे सब

असंख्य और विविध हैं, परन्तु एकवर्णात्मक हैं। पतिके सिवाय सतीके लिये द्वितीय देवता और कोई नहीं है। सतीके सभी कार्य्य उसी देवपूजाके लिये हैं। गृहकार्य्य, अपने हाथसे भोजन बनाना, स्वयं परोसना और शरीर पर अलङ्कारभार धारण करना आदि सभी पतिके लिये है। जिस कार्य्यमें पतिपूजा नहीं है उस कार्य्यका कोई स्थान सतीके चित्तमें नहीं है। यही सब सतीत्व कल्पतरुके विविध व एक ही वर्णके पल्लव हैं। इस कल्पतरुके पुष्प कहाँ हैं? यदि आप देखना चाहें तो देखिये। जिस गृहमें सती स्त्रीका आविर्भाव है वहाँ दास, दासी, कुटुम्ब व परिवारवर्ग सभी आनन्दचित्त, कलहशून्य, नम्र व कर्त्तव्यपरायण हैं। वहाँ पुत्र कन्या सभी सरलचित्त, उदार, धार्मिक व ईर्ष्याशून्य हैं। मानो! सतीके गर्भमें रहनेके कारण सभी कल्पतरुके पुष्पसौरभसे आमोदित हो रहे हैं। यही मधुरभाव सतीत्व कल्पतरुका पुष्प है जिसके संस्पर्शसे संसारके लोग भी पवित्र, भक्तियुक्त तथा आर्य्यगौरवसम्पन्न हो जाते हैं।

सती जीवनमें श्रीके साथ ह्री (लज्जा) का भी मधुर विकाश नयनगोचर होता है। चण्डी (सप्तशती) में कहा है कि:—

या देवी सर्व्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।

मनुष्योंमें लज्जा देवीका भाव है। स्त्रीजातिमें देवीभाव नैसर्गिक होनेसे लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्वके उत्कर्षके साथ साथ देवीभावका अधिक विकाश होनेसे ह्रीकी भी पूर्णता होती है। सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जाशीला हुआ करती है। लज्जाका कारण अनुसन्धान करनेसे यही प्रतीत होता है कि पशुधर्मके प्रति मनुष्योंकी जो स्वाभाविकी घृणा है वही लज्जाका कारण है। मनुष्य प्रकृतिमें पशुत्वका आवेश अनुभव करनेसे ही लज्जाका उदय हुआ करता है। पशुप्रकृतिमें लज्जा नहीं है, पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा मैथुनादि करता है। प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदमें स्थित होने पर

भी भेदभावरहित होनेसे लज्जारूप पाश नहीं रहता है। इस सबसे अधम और सबसे उत्तम कोटिके सिवाय बीचकी कोटिमें लज्जाका विकाश रहता है। दिव्यभावके विकाशके साथ साथ लज्जाका आविर्भाव और पशुभावके विकाशके साथ साथ लज्जाका तिरोभाव होता है। आहार, निद्रा, मैथुनादि कार्य्य स्थूलशरीरसे साक्षात्-सम्बन्ध रखनेके कारण पशुभावयुक्त हैं, परन्तु जीवनरक्षा व वंशरक्षा के लिये इन कार्य्योंके अत्यावश्यकीय होनेके कारण आर्य्य महर्षियों ने आध्यात्मिक भावोंके साथ मिलाकर इन कार्य्योंमेंसे पशुभाव का प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न किया है; तथापि दिव्यभावयुक्त प्रकृति में स्वभावतः इन सब कार्य्योंको करते हुए लज्जा आती है। पुरुषमें देवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभावकी अधिकता होनेसे पुरुषको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः लज्जा कम होती है; परन्तु स्त्रीमें पुरुष भावसे देवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होनेसे स्त्रीको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुषप्रकृतिके साथ स्त्रीप्रकृतिका यही भेद है। इसी प्रभेदको रखते हुए दोनों अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें भेदभाव विस्मृत हो लज्जारूप पाशको काट सकता है; परन्तु स्त्रीकी पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक देवीभावको पूर्णता पर पहुँचावेगी। देवीभावकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णतासे होती है इसलिये लज्जाशीलता सतीधर्मका लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं होसकती है। लज्जा स्त्रीजातिका भूषण है, इसके न होनेसे स्त्रीका स्त्रीभाव ही नहीं रहता। लज्जाके बलसे स्त्री अपने पातिव्रत्यधर्मका भी ठीक ठीक पालन कर सकती है। स्त्रीको पुरुषका अधिकार या पुरुषकी तरह शिक्षा देकर अथवा ऐसा ही आचार सिखाकर निर्लज्ज बनानेसे उसकी बड़ी भारी हानि होती है। ऐसी निर्लज्जा स्त्रियोंके द्वारा उत्तम सतीका धर्मपालन होना असंभव होजाता है क्योंकि जो

आचार प्रकृतिसे विरुद्ध है उसके द्वारा कदापि किसीकी उन्नति नहीं हो सकती है, लज्जा जब स्त्री जातिका स्वाभाविक भाव है तो इसके नष्ट करनेसे स्त्रीकी कभी उन्नति नहीं हो सकती अधिकन्तु प्रकृति पर बलात्कार होनेके कारण अवनति होना ही निश्चय है। इसमें और भी बहुत कारण हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं।

) पाश्चात्य देशोंमें स्त्री-पुरुषका एकत्र बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान है इसी कारण वहाँकी स्त्रियोंमें निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्यकी महिमा पर भी दृष्टि कम है। उत्तम सतीका क्या भाव है और पतिके साथ सहमरण कैसा होता है? पाश्चात्य स्त्रियाँ स्वप्नमें भी इन बातोंका अनुभव नहीं कर सकती हैं। आर्य्यशास्त्रोंमें पातिव्रत्यके विना स्त्रीका जीवन ही व्यर्थ है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित किया गया है इसलिये अवरोधप्रथा (Purda System) आदिके द्वारा आर्य्य नारियोंमें लज्जाभावकी रक्षाके लिये भी प्रयत्न किया गया है और इसीलिये स्त्री पुरुषोंका एकत्र भोजन व भ्रमण आदि आर्य्यशास्त्रोंमें विहित नहीं किया गया है। आज कल धर्मशिक्षाहीन पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा विकृतमस्तिष्क कोई कोई मनुष्य अवरोधप्रथाको नष्टकरके स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाना, उनसे पुरुषोंके भीतर निरङ्कुशभावसे भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य व नाटकादि कराना और विदेशीय नर नारियोंकी तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातोंको सभ्यताका लक्षण और स्त्रियों पर दया समझते हैं और इससे विरुद्ध सनातन अवरोधप्रथाको उनपर अत्याचार, अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करनेसे स्पष्टरूपसे सिद्ध होगा कि उन लोगोंकी इस प्रकारकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। किसी पर दया करना सदा ही अच्छा है, परन्तु जिस दयाके मूलमें विचार नहीं है उससे कल्याण न होकर अकल्याण होता है। स्त्री जाति पर दया करना अच्छा है, परन्तु

जिस दयासे पातिव्रत्यका मूलही कट जाय, स्त्री भाव नष्ट होजाय और संसारमें अनर्थ उत्पन्न हो वह दया दया नहीं है अथच वह महापाप है। ज्ञानमय आर्य्यशास्त्र इस प्रकारकी मिथ्या दयाके लिये आज्ञा नहीं दे सकते हैं। और घरकी स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाकर बाहर न निकालनेसे निष्ठुरता होती है इसलिये सनातन अवरोध-प्रथा निष्ठुरतासे भरी हुई है ऐसा जो लाञ्छन लगाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रममूलक है क्योंकि विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्री जातिका जितना गौरव बढ़ाया गया है ऐसा और किसी देश या जाति या शास्त्रमें नहीं है। अन्य देशोंमें स्त्री पुरुषके विषयविलासमें सहचरी है और आर्य्यजातिमें भार्य्या समस्त गार्हस्थ्य धर्ममें सहधर्मिणी व अर्द्धांशभागिनी है। अन्य जातियों में स्त्रीशरीर कामका यन्त्ररूप है और आर्य्यजातिमें स्त्री जगदम्बा-रूपिणी है जिनकी प्रत्येक दशाको दिव्यभावके साथ पूजा करनेसे साधकको मुक्तिलाभ हो सकता है। स्त्रियोंके प्रकृतिरूपिणी होनेसे उनकी प्रत्येक दशाको देवीभावसे पूजनेकी विधि आर्य्यशास्त्रोंमें बताई गई है। दशमहाविद्याकी दशमूर्त्ति दिव्यभावसे स्त्रीकी दश दशाकी ही सूचना करती है और प्रत्येक दशाकी पूजा हुआ करती है। दशमहाविद्याओंमेंसे कुमारी गौरीरूपिणी है, युवती गृहिणी षोडशी व भुवनेश्वरी आदिरूपिणी है और वृद्धा व विधवा धूमावती-रूपिणी है, यहाँ तक कि रजस्वला भी त्रिधारामयी छिन्नमस्ता रूपिणी है ऐसा सिद्धान्त आर्य्यशास्त्रोंका है। देवीमीमांसामें लिखा है कि:—

सर्व्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाऽधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः॥

'कुमारी चाऽष्टवर्षा या वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता॥
कुमारी पूजिता कुर्य्याद्दुःखदारिद्र्यनाशनम्।
शत्रुक्षयं धनाऽऽयुष्यं बलवृद्धिं करोति वै॥

उत्तम मध्यम व अधम सभी स्त्रियाँ प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिमाताकी ही रूप होनेसे स्त्रियोंके निरादर या अवमाननासे प्रकृतिकी अवमानना होती है। पतिपुत्रवती सतीकी पूजासे जगदम्बाकी पूजा होती है। गौरी या कुमारीकी पूजासे प्रकृतिकी पूजा होती है जिससे गृहस्थका 'दुःखदारिद्र्यनाश, शत्रुनाश और धन, आयु व बलकी वृद्धि होती है। आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रियोंका यही स्वरूप वर्णन किया गया है और इसीलिये उनकी रक्षा व गौरववृद्धि करनेकी इतनी विधि बताई गई है। परन्तु जिनको जगदम्बाका रूप समझकर पूजा करनेकी आज्ञा शास्त्र दिया करता है उनको निर्लज्ज होकर बाज़ारमें घूमनेकी आज्ञा या रूप बनाकर पुरुषोंके सामने नाटक करनेकी आज्ञा आर्य्यशास्त्र नहीं दे सकता। ऐसी आज्ञा दया नहीं होगी, परन्तु स्त्रीधर्मकी सत्ताका नाश, पातिव्रत्यरूपी कल्पतरुके मूलमें कुठाराघात और जगदम्बा पर मूर्खतामूलक अत्याचार होगा। प्रकृतिकी पूजा करनेकी आज्ञा देनेवाला आर्य्यशास्त्र ऐसी आज्ञा कभी नहीं कर सकता है। जो वस्तु जिसको प्रिय होती है वह उसकी रक्षा भी यत्नसे करता है। धन और अलङ्कारादि प्रिय वस्तुओंको गृहस्थ लोग बहुत यत्नके साथ छिपाकर ही रखते हैं, बाज़ारमें फेंक नहीं देते हैं। यदि आर्य्यजाति अपनी माताओंको निर्लज्जाकी तरह बाज़ारमें नहीं घुमाती है तो इससे आर्य्यजातिकी माताओंके प्रति उपेक्षा या निर्दयता प्रकट नहीं होती है बल्कि प्रेम और भक्तिभाव' ही प्रकट होता है। द्वितीयतः उनको यदि पुरुष हाथ पकड़कर 'भ्रमण करावे तो इससे स्त्री व पुरुष दोनों

ही की हानि होगी। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

"सङ्गात्सञ्जायते कामः"।

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते"।

काम आदि वृत्तियाँ सङ्गके द्वारा अधिक हुआ करती है, घटती नहीं है। अग्निमें प्रक्षिप्त घृतकी तरह सङ्गद्वारा काम बढ़ता जाता है। इसीलिये स्त्रीके साथ एकत्र रहनेका अवसर जितना अधिक होगा उतनाही दिव्यभाव नष्ट होकर पशुभावकी वृद्धि होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आर्य्यमहर्षियोंने पशुभावको नष्ट करके दिव्य-भावको बढ़ाना ही मनुष्य जन्मका लक्ष्य समझा था इसलिये जिन उपायोंके द्वारा सतीधर्मकी हानि, निर्लज्जताकी वृद्धि व विषया-सक्तिकी सम्भावना है उनको वे तिरस्कार करते थे। धर्मशिक्षा-हीन पाश्चात्यशिक्षाके द्वारा सब पवित्रभाव नष्ट होने लग गये हैं इसलिये अवरोधप्रथाका उठा देना आजकल सभ्यताका लक्षण समझा जाने लगा है। परन्तु सब ओर विचार करके आर्य्यजातिके मौलिक लक्षणों पर ध्यान देनेसे महर्षियोंका सिद्धान्त ही समीचीन व दूरदर्शिता पूर्ण प्रतीत होगा। तृतीयतः यह भी सिद्धान्त पूर्ण सत्य है कि जिस स्त्रीको अनेक पुरुष कामभाव व कामदृष्टिसे देखते हैं उसके पातिव्रत्यमें अवश्य ही हानि होती है। मानसिक व शारीरिक बिजलीकी शक्ति आँखसे, स्पर्शसे या केवल चित्तके द्वारा ही अन्य व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालकर कैसे उसको अभिभूत व मूर्च्छित कर सकती है सो आजकल मेस्मेरिजम व हिप्नोटिजम (Mismrism and hypnotism) आदि विद्याके द्वारा सिद्ध हो चुका है। योगशक्ति के प्रभावसे या तपःशक्तिके प्रभावसे अन्य पुरुषोंकी उन्नति करना, कठिन रोग आराम करना और असाध्य साधन करना ये सभी इसी विज्ञानकी प्रक्रिया है। शक्ति एकही वस्तु है, उसे उत्पन्न करके सात्त्विकभावके द्वारा सात्त्विक कार्य्य किये जा सकते हैं अथवा

तामसिकभावके द्वारा तामसिक कामादि विषयसम्बन्धीय कार्य्य किये जा सकते हैं। स्थूल नेत्र या मन शक्तिके आधार हैं इसलिये नेत्र व मनके द्वारा सात्विक या तामसिक शक्तियां एक स्थानसे अन्य स्थान पर प्रयोग करना विज्ञानसिद्ध है। इस सिद्धान्त पर विचार करनेसे विचारवान् पुरुष अवश्य ही जान सकेंगे कि जिस स्त्रीके शरीर पर कामुक पुरुष कामशक्तिके द्वारा कामभावसे दृष्टि डालेंगे उनके पातिव्रत्यमें धीरे धीरे हानि हो सकती है। अन्य पुरुषके नेत्रकी या मनकी तामसिक शक्तिके प्रभावसे स्त्रीका चित्त-चाञ्चल्य होना व सतीधर्मका गाम्भीर्य्य नष्ट होना अवश्य निश्चित है। इसलिये अवरोधप्रथाको तोड़ कर, स्त्रियोंका निर्लज्ज होकर पुरुषोंके बीचमें रहनेकी और बाज़ारमें घूमनेकी आज्ञा देनेसे आर्य्य-स्त्रियोंमेंसे पातिव्रत्यधर्म धीरे धीरे नष्ट होजायगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पाश्चात्य देशमें इस प्रकार निरङ्कुश घूमनेके कारण ही वहांकी स्त्रियाँ पातिव्रत्यकी महिमाको नहीं जानती हैं। यहाँ भी उसी शिक्षाके प्रभावसे अनर्थ होना प्रारम्भ हो गया है। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब अनर्थकर कारणोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। देवीभागवतके तृतीय स्कन्धके तीसवें अध्यायमें इसी विषयका प्रमाण दिया गया है। वहाँ शशिकला नाम्नी एक कन्या अपने पिताको अपनेको स्वयंवरसभामें भेजनेके लिये मना कर रही है और कह रही है कि स्वयंवरसभामें राजालोगोंके कामभावसे उस पर दृष्टि डालनेसे उसके पातिव्रत्यमें हानि होगी। इसलिये स्वयंवर विवाह भी ठीक नहीं है। यथाः—

तं तथा भाषमाणं वै पितरं मितभाषिणी।
उवाच वचनं बाला ललितं धर्म्मसंयुतम्॥
नाऽहं दृष्टिपथे राज्ञां गमिष्यामि पितः! किल।
कामुकानां नरेशानां गच्छन्त्यन्याश्च योषितः॥

धर्म्मशास्त्रे श्रुतं तात ! मयेदं वचनं किल।
एक एव वरो नार्य्या निरीक्ष्यः स्यान्न चाऽपरः ॥
सतीत्वं निर्गतं तस्या या प्रयाति बहूनथ।
संकल्पयन्ति ते सर्व्वे दृष्ट्वा मे भवतान्त्विति ॥
स्वयंवरे स्रजं धृत्वा यदा गच्छति मण्डपे।
सामान्या सा तदा जाता कुलटेवापरा वधूः ॥
वारस्त्री विपणिं गत्वा यथा वीक्ष्य नरान्स्थितान्।
गुणाऽगुणपरिज्ञानं करोति निजमानसे ॥
नैकभावा यथा वेश्या वृथा पश्यति कामुकम्।
तथाऽहं मण्डपे गत्वा कुर्व्वे वारस्त्रिया कृतम् ॥

पिताजीके इस प्रकार कहनेपर शशिकलाने उनको निम्नलिखित धर्म्ममूलक मधुर वाक्य कहा—"हे पितः! मैं राजाओंके नेत्रोंके सामने नहीं जाऊँगी क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियाँ ही कामुक पुरुषोंकी दृष्टिके सामने आती हैं। धर्मशास्त्रमें मैंने सुना है कि पतिव्रता स्त्री केवल अपने ही पतिको देखेगी और अन्य किसी पुरुषकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करेगी। जो स्त्री अनेक पुरुषोंके दृष्टिपथमें आती है उसका पातिव्रत्य नष्ट होता है क्योंकि उस समय 'यह स्त्री मेरी ही भोग्या बन जाय' ऐसी कामना सभी पुरुष करने लगते हैं। जो राजकन्या हाथमें वरमाला लेकर स्वयंवरसभामें जाती है उसको वेश्याकी तरह सभाकी स्त्री बनना पड़ता है। जिस प्रकार वाराङ्गना दूकानमें जाकर वहाँ समागत पुरुषोंको देखकर उनके गुणागुणका विचार करती है और एक पुरुषपरा न होकर सब कामुकोंकी ही ओर ताकती है; उसी प्रकार स्वयंवरसभामें मुझको भी करना पड़ेगा।" शोककी बात है कि एक क्षत्रियकन्या जिन बातोंको विचार करके निर्णय कर सकती थी आजकलके अनेक पण्डितम्मन्य विद्याभिमानी लोग उनपर

सन्देह करने लग गये हैं और उनके पाश्चात्यविद्याविद्गत-मस्तिष्कमें इस गूढ़ विज्ञानका रहस्य प्रवेश नहीं करता है। आर्य्यसन्तानोंको महर्षियोंके सिद्धान्तोंपर विचार करना चाहिये और धीर होकर सत्यासत्य-निर्णय करके सत्यमार्गपर आरुढ़ होना चाहिये, तभी आर्य्यगौरवकी पुनः प्रतिष्ठा होगी और आर्य्यमाताएँ पुनः सतीधर्म्म-के ज्वलन्त आदर्शको संसारभरकी शिक्षाके लिये प्रकटकर सकेंगी। ऊपरलिखित प्रमाणोंसे केवल अवरोधप्रथाकी ही पुष्टि की गई है ऐसा नहीं है, अधिकन्तु स्वयंवर-विवाहकी भी निन्दा की गई है। स्वयंवर विवाह आदर्श विवाह नहीं है सो सती शशिकला-के वचनोंसे ही बुद्धिमान् पुरुष सोच सकेंगे। आर्य्यशास्त्रोंके अनु-सार ब्राह्म विवाह ही प्रशंसनीय है। अवरोधप्रथाकी पुष्टि वेदादि शास्त्रोंमें भी की गई है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके चौथे अध्यायके २६ वें सूक्तमें लिखा है कि:—

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

अवगुण्ठन वस्त्रद्वारा आवृता वधूकी तरह यज्ञके द्वारा जो आवृत है। इस प्रकार कहकर अवरोधप्रथाका ही समर्थन किया गया है। रामायणके कई एक स्थानोंमें अवरोधप्रथाकी बातें लिखी हुई हैं। यथाः—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके साथ सती सीताको वनवासके लिये राजपथसे जाती हुई देखकर अयोध्यावासियोंने कहा कि "पहले जिस सीतादेवीको खेचर जीव भी देखने नहीं पाते थे उसी माताको आज,राजमार्गके पथिक लोग भी देखने लगे।" मृतपति रावणको देखकर मन्दोदरी विलाप करती हुई कह रही है कि:—

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो ! ॥
पश्येष्टदार ! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्व्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ॥

"हे स्वामिन् ! मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन त्याग करके आज नगरसे बाहर पैदल यहाँ आई हूँ इसको देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है ? यह देखो तुम्हारी सब स्त्रियाँ आज लज्जा व अवगुण्ठनको त्याग करके बाहर आगई हैं, ऐसा देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है ?" इन सब प्रमाणोंके द्वारा प्राचीनकालमें अवरोधप्रथा थी, ऐसा निश्चय होता है। मालविकाग्निमित्र और मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रन्थोंसे भी हजारों वर्षके पहले यहाँ पर अवरोधप्रथा प्रचलित थी ऐसा सिद्ध होता है। सीता, सावित्री व दमयन्ती आदि सतियाँ जो अपने पतिके साथ बाहर गई थीं उसका विशेष कारण था। घटनाचक्रसे उनको ऐसा करना पड़ा था। साधारण प्रथाके अनुकूल यह आचार नहीं था इस लिये अनुकरणीय नहीं है। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य्यजातिमें स्त्रियोंकी शीलरक्षा व स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका निवास और अवरोधप्रथा यथाविधि प्रचलित रहनेपर भी इस समय जो भारतवर्षके किसी किसी देशमें कठिन पर्देकी रीति जेलखानेकी तरह प्रचलित है यह आर्य्यरीति नहीं है। यह कठिन रीति यवन साम्राज्यके कठिन समयमें उनके ही अनुकरणपर प्रचलित हुई थी सो उतनी कठिनता अवश्य त्याग करने योग्य है। और दूसरा आज कल भारतके किसी प्रान्तमें जो अवरोधप्रथामें शैथिल्य देखनेमें आता है वह सब आधुनिक व अनार्य्यभावमूलक है इसलिये वह भी अनुकरण करने योग्य नहीं है। अवरोधप्रथा सम्पूर्ण रूपसे विज्ञानसिद्ध और सतीधर्म्मके अनुकूल है। इसके पूर्णरूपसे पालनकरनेसे

भारतमहिलाओंकी सब प्रकारसे उन्नति और आर्य्यगौरवकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

नारीजीवनकी तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्मके चक्रसे यदि सतीको विधवा होना पड़े तो इस वैधव्य दशामें पातिव्रत्यका उद्यापन होता है। सतीत्वके परमपवित्रभावमें भावित सतीका जो अन्तःकरण गृहस्थ दशामें पतिके साकाररूपमें तन्मय होगया था वही अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यासदशामें परमदेवता पतिके निराकाररूपमें तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्मकी पूर्णताका साधन व उद्यापन कराता है इसीलिये यह तृतीय दशा परम गौरवान्विता व पवित्रतामय है। यह बात पहले ही सिद्ध की गई है कि भगवच्चरणकमलोंमें भक्तोंकी तरह पतिके चरणकमलोंमें लवलीन होनेसे ही स्त्रीको मुक्ति अर्थात् पुरुषयोनि प्राप्त होती है। पतिव्रता सती पातिव्रत्यके प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चम लोकमें जाकर पतिके साथ आनन्दमें मग्न रहती है। इस प्रकारका तन्मयता द्वारा पातिव्रत्यकी पूर्णता होनेसेही पुनः जन्मके समय उसको स्त्रीयोनिमें नहीं आना पड़ता है। वह पापयोनिसे मुक्त हो निःश्रेयसप्रद पुरुषदेहको प्राप्त करती है उद्भिज्जयोनिसे लेकर उसको जो स्त्रीयोनि प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ था, इस प्रकार पातिव्रत्यकी पूर्णतासे वह स्त्रीयोनिका प्रवाह समाप्त हो जाता है। आर्य्यमहर्षियोंने जो स्त्रीजातिकी सकल दशाओंमें ही एकपतिव्रतका उपदेश दिया है उसका यही उपयुक्त कारण है क्योंकि विना एकपतिव्रतके तन्मयता नहीं हो सकती। अनेकोंमें जो चित्त चञ्चल होता है उसमें तन्मयता कभी नहीं आ सकती है और विना तन्मयताके पातिव्रत्यकी पूर्णता नहीं हो सकती एवं विना पातिव्रत्यकी पूर्णताके स्त्रीयोनि समाप्त होकर मुक्तिप्रद पुरुषयोनि प्राप्त-नहीं होसकती है। इसलिये गृहिणी व विधवा सकल दशामें ही महर्षियोंने एकपातिव्रत्यरूप धर्मपर इतना ज़ोर दिया है। इस धर्मके विना स्त्रीका जन्म ही वृथा है।

विवाहके विज्ञान पर संयम करनेसे ज्ञात होगा कि पुरुषशक्तिके साथ स्त्रीशक्तिको मिलाकर नवीन पदार्थको उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह है। इन दोनों शक्तियोंका मेल एक प्राकृतिक व्यापार है इसलिये अणु परमाणुसे लेकर परमात्मा पर्य्यन्त इस प्रकार दोनों शक्तियोंका सम्मेलन देखनेमें आता है। अणुओंमें (Positive and negative power) पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति विद्यमान रहती है। द्व्यणुक आदि क्रमसे स्थूल जगत्की सृष्टि इन दोनों शक्तियोंके सम्मेलन सेही होती है। स्त्रीपरमाणु व पुंपरमाणु मिलकर स्थूल सृष्टिको बनाते हैं। साधारणतः गर्भाधानके समय भी रजोवीर्य्यके मेलके द्वारा दोनों ही शक्तियुक्त परमाणुओंका सम्मेलन सन्ततिके स्थूल शरीर उत्पन्न करनेके लिये होता है। इन्हीं दोनों शक्तियोंका सम्मेलन और उससे सृष्टि उद्भिज्ज जगत्में भी देखनेमें आती है। वृक्ष भी स्त्री व पुरुष दोनों प्रकारके होते हैं जिनके पराग या पुष्परेणु पृथक् पृथक् होते हैं। पुंपरागके साथ हवा या भ्रमरके द्वारा स्त्रीपरागका प्राकृतिकरूपसे सम्बन्ध होनेसे ही उद्भिज्ज सृष्टि होने लगती है। कहीं कहीं एक पुष्पमें भी दो शक्तियाँ रहती हैं। पुंशक्तियुक्त पुंपराग पुष्पके ऊपरके भागमें और स्त्रीशक्तियुक्त स्त्रीपराग पुष्पके गर्भ (बीच) में रहता है। भ्रमर अपने शरीरके ऊपर यह पुंपराग लगाकर पश्चात् पुष्पगर्भस्थ स्त्रीपरागसे पुंपरागको प्राकृतिक रीति पर ही मिलाता है और इसी प्रकारसे उद्भिज्ज सृष्टि होती रहती है। इसी रीति पर स्वेदजयोनिके जीवोंके जो स्थूल शरीर हैं उनकी भी सृष्टि पुंपरमाणु व स्त्रीपरमाणुके सम्मेलनसे होती है। अण्डज व जरायुजमें तो इस प्रकार दो शक्तिके सम्मेलनसे सृष्टि प्रत्यक्ष ही है। अब विचार करनेकी बात यह है कि सर्वत्र सृष्टिमें इस प्रकार दोनों शक्तियोंका सम्मेलन क्यों देखनेमें आता है? इसका कारण यह है कि जब संसारके निदानभूत पुरुष व प्रकृतिमें ही दो शक्तियां विद्यमान हैं तो कार्य्यब्रह्मरूपी विराट् संसारमें इन दोनोंका

सर्व्वत्र ही विकाश रहेगा इसमें सन्देह ही क्या है ? अद्वितीय परमात्मामें प्रलयके बाद जीवोंके कर्म्मानुसार जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तभी परमात्मासे प्रकृतिका विकाश होता है और इस प्रकार पुरुष व प्रकृतिकी दोनों शक्ति मिलकर निखिल सृष्टिका विस्तार करती है। कारणमें दो शक्ति होनेसे कार्य्यरूप संसारके स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सकल राज्यमें ही दो शक्तियां विद्यमान हैं इसमें सन्देह नहीं। सृष्टिधाराके विस्तारके लिये इन दोनों शक्तियोंका सम्मेलन करना ही विवाहका प्रथम उद्देश्य है। विवाहका द्वितीय उद्देश्य वियुक्त दोनों शक्तियोंको संयुक्तकरके अद्वितीय पूर्णता सम्पादन करना है। ब्रह्मभावमें अद्वितीय पूर्णता है। ईश्वरभावमें प्रकृतिशक्ति अलग होकर अनन्त सृष्टिका विस्तार करती है एवं इसीलिये सृष्टिदशामें सर्व्वत्र दोनों शक्तियोंका पृथक् पृथक् कार्य्य देखनेमें आता है। इसी वियुक्त व लीलाविलासशील प्रकृतिशक्तिको पुरुषमें लय करके अद्वितीय पूर्णता स्थापन करना ही विवाह व सृष्टिविस्तारका उद्देश्य है। प्रत्येक सृष्टिके मूलमें ही लयका बीज विद्यमान है। जिस सृष्टिके मूलमें लय नहीं है अथवा जो सृष्टि लयकी बाधक या प्रतिकूल है वह सृष्टि सृष्टि ही नहीं कहला सकती अतः पुरुषशक्ति व प्रकृतिशक्तिके लीलाविलासमय संसारमें सृष्टिविस्तारकारी वही विवाह यथार्थ ज्ञानमूलक होगा जिसके द्वारा प्रकृतिशक्ति पुरुषमें लय होकर अद्वितीय पूर्णता सम्पादन करसके। जो जिससे निकलता है उसका उसीमें लय होना स्वतःसिद्ध है। प्रकृतिशक्ति पुरुषसे निकलती है इसलिये अद्वितीय पूर्णता तभी होगी जब वियुक्त प्रकृति पुरुषमें विलीन हो जाय। आर्य्यजातिका विवाह वही है जिसमें प्रकृति सृष्टिविस्तार करती हुई अन्तमें पुरुषमें ही लय होजाय। इसलिये आर्य्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृतिरूपिणी स्त्रीजातिका वही धर्म्म होगा और वही विवाहका लक्ष्य होगा जिससे स्त्री सृष्टिविस्तार करती हुई अन्तमें पुरुषमें लय होजाय। इस लयसाधनमें बाधक जो कुछ है सो स्त्रीके

लिये धर्म्म नहीं हो सकता। एकपतिव्रत ही स्त्रीको पुरुषमें लय साधन द्वारा मुक्ति प्रदान करा सकता है। स्त्रीका अन्तःकरण एकही पतिमें एकाग्रताके द्वारा तन्मय हो सकता है। अनेक पातमें अन्तःकरण जानेसे एकाग्रता व तन्मयता होना असम्भव होगा इसीलिये एकपतिव्रत ही स्त्रीके लिये एकमात्र धर्म्म हो सकता है। कन्याकाल में इस धर्म्मकी शिक्षा व गृहिणीकालमें इसका अभ्यास होकर विधवाकालमें इसकी समाप्ति होती है। इसलिये वैधव्यदशामें भी पातिव्रत्यका पूर्ण अनुष्ठान होकर मृतपतिकी आत्मामें अपना आत्मा का लय साधन करना ही विधवाका एकमात्र धर्म है। इसके साथ पुरुषधर्म्मकी बहुत विशेषता है। यदि स्त्रीकी मुक्ति पुरुषमें तन्मयता द्वारा न होकर पुरुषकी मुक्ति स्त्रीमें तन्मयता द्वारा होती तो स्त्रीके लिये बहुपुरुषव्रत और पुरुषके लिये एकपत्नीव्रत ही यथार्थ धर्म्म होता; अर्थात् यदि प्रकृति पुरुषसे न निकलकर पुरुष ही प्रकृतिसे निकलता तो भी ऐसा ही धर्म्म होता परन्तु आदिकारणमें ऐसा न होने से कार्य्यमें भी ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। आदिकारणमें परमात्मासे ही उनकी इच्छारूपिणी प्रकृतिमाताकी उत्पत्ति होती है और इसीसे कार्य्यरूप समस्त सृष्टिका विस्तार है। और पहले ही कहा गया है कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसका लय भी उसीमें होता है। अतः पुरुषसे उत्पन्न प्रकृति पुरुषमें ही लय होकर मुक्त हो सकती है। लय होना एकाग्रता व तन्मयता साध्य है इसलिये एकाग्रता व तन्मयतामूलक धर्म्म ही प्रकृतिका धर्म्म है। और इसीलिये एकपतिव्रत ही स्त्रीजातिका धर्म है, बहुपुरुषव्रत धर्म्म नहीं हो सकता है। परन्तु पुरुषकी मुक्ति उनसे निकली हुई और उनको मुग्ध करने वाली प्रकृतिमें सृष्टिविस्तार करते हुए उससे पृथक् होकर स्वरूपमें अवस्थान द्वारा ही हो सकती है, प्रकृतिमें लय होकर या प्रकृतिकी लीलामें बद्ध होकर नहीं हो सकती है। महर्षि पतञ्जलिजीने कहा है कि—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

योगाभ्यासकी परिसमाप्तिमें द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है और अन्य दशामें वृत्तिसारूप्य होता है। इन दोनों सूत्रोंसे महर्षि पतञ्जलिजीने इसी भावको प्रकट किया है कि पुरुष प्रकृतिकी त्रिगुणमयी लीलाओंको देखकर उससे अलग हो स्वरूपमें स्थित होजाते हैं। अतः पुरुषके लिये विवाहकी विधि ऐसी ही होनी चाहिये जिसके द्वारा पुरुष प्रकृतिकी लीलाका दर्शन करता हुआ सृष्टिविस्तारमें सहायक हो। इसीलिये एकपत्नीव्रत पुरुषके लिये धर्म्म नहीं होसकता क्योंकि वंशरक्षाके लिये सृष्टिविस्तार व प्रकृतिसे पृथक् होकर मुक्तिलाभके उद्देश्यसे एकसे अधिक विवाह पुरुषके *लिये शास्त्रानुसार आवश्यक होसकता है। यही विवाहके विषयमें* पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता है।

स्थूल सृष्टिका विस्तार व आध्यात्मिक उन्नतिके द्वारा मुक्ति, इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये ही विवाहके द्वारा पुरुषशक्तिके साथ स्त्रीशक्तिका सम्मेलन होता है। शक्ति पुरुष व प्रकृति दोनोंकीही होनेके कारण आत्मासे लेकर स्थूल शरीरपर्य्यन्त व्याप्त रहती है इसलिये विवाह केवल स्थूल शरीरके साथ स्थूल शरीरके मेलको ही नहीं कहा जाता है; किन्तु विवाहके द्वारा स्त्री और पुरुषके स्थूल शरीरके साथ स्थूल शरीरका, सूक्ष्म शरीरके साथ सूक्ष्म शरीरका, कारण शरीरके साथ कारण शरीरका और आत्माके साथ आत्माका मेल होता है। इस प्रकार उन्नतसे उन्नततर सम्मेलन जीव प्रकृतिराज्यमें अपनी उन्नतिके साथ ही कर सकता है। वृक्षादि स्थूलप्रधान सृष्टिमें स्थूलके साथ ही स्थूलका सम्मेलन और उसीसे सृष्टिविस्तार हुआ करता है। पक्षी, पशु व अनार्य्यजातिमें स्थूलके अतिरिक्त सूक्ष्मका भी कुछ सम्बन्ध रहने पर भी वहाँ सूक्ष्म भी स्थूलभावमूलक होनेसे स्थूलका ही प्राधान्य रहता है। इसलिये पक्षी, पशु व अनार्य्यजातिमें स्त्रियोंके लिये बहुविवाह प्रचलित है क्योंकि जहाँ

केवल स्थूल शरीरके सुखभोगके लिये ही विवाह है वहाँ एक स्थूल शरीरके नष्ट होनेसे दूसरेके साथ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इस प्रकारके विवाहमें जो कुछ क्रिया सूक्ष्म शरीरमें होती है उसका भी पर्य्यवसान स्थूलमें ही जाकर होता है, बल्कि स्थूलको ही लक्ष्य करके होता है इसलिये वहां सूक्ष्मकी गौणता व स्थूलकी मुख्यता है। इस प्रकारका विवाह पशुविवाह या पशुप्रकृत मनुष्यका विवाह है। आर्य्यजाति पशु नहीं है। पशुभाव आर्य्यत्वका लक्षण नहीं है, अनार्य्यत्वका लक्षण है। दिव्यभाव ही आर्य्यका लक्षण है। आर्य्य व अनार्य्यमें जितने भेदके कारण हैं उनमेंसे यह भी एक है। इसलिये आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह स्थूल शरीरके भोगमात्रको ही लक्ष्य करके नहीं रक्खा गया है क्योंकि इस प्रकार करनेसे भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व व मनुष्यत्वतकको नष्ट कर देगी और मनुष्यको पशुसे भी अधम बना देगी। आर्य्यजातिका विवाह भोगको बढ़ानेके लिये नहीं है, किन्तु स्वाभाविक व अनर्गल भोगस्पृहाको घटानेके लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविकी पुरुषभोगेच्छाका अन्य सब पुरुषोंसे हटाकर एकही पतिमें केन्द्रीभूत करती हुई उन्हींमें पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त हो जायगी इसीलिये स्त्रीका विवाह है। पुरुष अपनी स्वाभाविकी अनर्गल भोगेच्छाको एकही स्त्रीमें केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृतिको देखकर उससे अलग हो मुक्त हो जायेंगे इसीलिये पुरुषका विवाह है। स्त्रीके लिये एकहीमें तन्मय होना धर्म है, उसमें एकके सिवाय दूसरा होनेसे एकाग्रता नहीं रहेगी, अत. तन्मयता नहीं होगी और मुक्तिमें बाधा होजायगी इसलिये एकपतिव्रत स्त्रीके लिये परमधर्म है; परन्तु पुरुषका धर्म सृष्टिधाराको अटूट रखना और कुलकी परम्पराको स्थायी रखतेहुए प्रकृतिको देखकर उससे पृथक् हो मुक्त होना है। ये दोनों उद्देश्य यदि एक ही स्त्रीसे हो जायें तो पुरुषके लिये द्वितीय विवाहकी कोई आवश्यकता नहीं होगी बल्कि इस प्रकार होनेपर द्वितीय विवाह करना अधर्म व अनार्य्य विवाह होगा।

और यदि प्रवृत्तिमार्गके, लिये कर्त्तव्यरूप वंशरक्षाकी ओरसे दृष्टि निवृत्तिमार्गकी ओर हो जाय तथा प्रकृतिपरायण भावसमूह परमात्मामें जाकर लयको प्राप्त हो जायँ तो ऐसी दशामें द्वितीय विवाहकी कोई आवश्यकता नहीं होगी, बल्कि इस प्रकारके पुरुषके लिये प्रथम विवाहकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु जहाँपर ऐसा भाव अभी नहीं हुआ है; अर्थात् वंशरक्षाकी प्रवृत्ति है व प्रकृतिसे पृथक् होनेके लिये प्रकृतिको देखनेकी आवश्यकता है वहांपर द्वितीय विवाह पुरुषके लिये विहित होगा। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकारका विवाह प्रकृतिके भोगमें मत्त होनेके लिये नहीं है क्योंकि भोगको लक्ष्य करके जहाँ विवाह होता है वहाँ भोगकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, घृताहुत अग्निकी नाईं भोगसे भोगकी वृद्धि ही होती जाती है। इसलिये वंशरक्षाके साथ साथ यही लक्ष्य होना चाहिये कि स्वाभाविकी भोगेच्छा केन्द्रीभूत होकर धीरे धीरे नष्ट होजाय और अन्तमें पुरुष प्रकृतिसे अलग होकर स्वरूपस्थित होसके। इस प्रकारसे पुरुषका द्वितीय विवाह अधिकारानुसार कल्याणप्रद हो सकता है। और दूसरा आदर्श समस्त कामनाको भगवान्में लय करके निवृत्ति-सेवा करना है ही। परन्तु स्त्रीके लिये इस प्रकारका द्वितीय विवाह धर्म्म नहीं हो सकता क्योंकि स्त्रीकी मुक्ति पुरुषसे अलग होकर नहीं होती है बल्कि पुरुषमें तन्मय व लय होकर ही होती है। यहाँ वही धर्म्म होगा जो लय करानेमें सुविधाजनक हो। एकपतिव्रतके द्वारा एकाग्रता होनेसे ही तन्मयता हो सकती है, अनेक पतियोंमें यह एकाग्रता सम्भव नहीं है, अतः स्त्रीकी मुक्तिके लिये एकपतिव्रत होना ही उसका एकमात्र धर्म्म है, बहुविवाह कदापि धर्म्म नहीं हो सकता है। द्वितीयतः पुरुषकी विषयप्रवृत्ति व स्त्रीकी विषय-प्रवृत्तिमें बहुत अन्तर है। पुरुषकी विषयप्रवृत्तिमें सीमा है इस-लिये आर्य्यविवाहके नियमानुसार भावशुद्धिपूर्व्वक एकसे अधिक विवाह होने पर भी निवृत्ति हो सकती है और पुरुष प्रकृतिसे पृथक्

होकर मुक्त हो सकता है; परन्तु स्त्रीकी विषयप्रवृत्तिमें सीमा नहीं है, वहाँ प्रवृत्तिको "मौक़ा" देना भावशुद्धि व आर्य्यत्वको बिगाड़कर पशुभावको ही बढ़ाना है। जहाँ प्रवृत्तिका असीम होना ही स्वाभाविक है वहाँ भावशुद्धिपूर्ब्वक प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि वहाँ भावमें शुद्धि कभी नहीं रह सकती है। वहाँ निवृत्तिमूलक या तपोमूलक धर्म्मका ही उपदेश होना युक्तियुक्त होगा जिससे नैसर्गिक असीम प्रवृत्तिका विकाश हो ही न सके। एकपतिव्रतके द्वारा ऐसा ही होता है, बहुपुरुषग्रहणसे ऐसा नहीं हो सकता है इसलिये स्त्रीजातिके लिये बहुविवाह अधोगतिकर होगा, उन्नतिकर कभी नहीं होगा।

पहले ही कहा गया है कि प्रकृतिकी जिस अवस्थामें पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्तिका केवल स्थूल सम्बन्ध है यह अवस्था पाशविक व अनार्य्यभाव युक्त है। मनुष्य अनार्य्यभावको परित्याग करता हुआ आर्य्यभावकी ओर जितना अग्रसर होता है उतनी ही स्थूल सम्बन्ध की गौणता और सूक्ष्मकी मुख्यता होती है। आर्य्यस्त्रीके विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म व कारण तीनों शरीर और आत्माका भी होता है इसलिये पतिके परलोक जाने पर भी स्त्रीके साथ संबंध नहीं टूटता है क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका परिवर्त्तन मात्र है। सूक्ष्म व कारण शरीर और आत्मामें परिवर्त्तन कुछ भी नहीं होता है अतः आर्य्यविवाह सूक्ष्मशरीर, कारण शरीर व आत्मा के साथ होनेके कारण पतिके परलोक जानेसे भी नहीं नष्ट हो सकता है। आर्य्यविवाहमें कितना दृढ़ संबंध होता है उसका वर्णन श्रुतिमें किया गया है। यथाः—

प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिर-
स्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति।

प्राणके साथ प्राणका, अस्थिके साथ अस्थिका, मांसके साथ

मांसका और त्वचाके साथ त्वचाका संबंध करते हैं। और भी कहा है कि:—

> गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि-
> र्यथासः । भगोऽर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदु-
> र्गार्हपत्याय देवाः । अमोहमस्मि सा त्वं सात्वमस्य-
> मोहम् । सामाऽहमस्मि ऋक् त्व द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
> ताविह विवहावहै सहरेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै
> पुत्रान् विन्द्यावहै बहून् ।

तुम्हारे सौभाग्यके लिये मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ। तुम इसी भावसे वार्द्धक्य तक पातिव्रत्य पालन करती रहो। गृहस्थाश्रम पालनके लिये भग, अर्य्यमा, सविता व पुरंध्रिनामक देवताओंने तुम्हें मुझे दिया है। मैं "अम" हूँ, तुम "सा" हो, तुम 'सा' हो, मैं "अम" हूँ। तुम ऋग्वेद हो, मैं सामवेद हूँ। मैं द्यौ हूँ, तुम पृथिवी हो। आओ हम दोनों विवाह करें और ब्रह्मचर्य्य धारण करके प्रजा को उत्पन्न करें व बहुत सन्तान प्राप्त होजायें। इस प्रकार आर्य्यजातिके विवाहमें स्थूलशरीरके साथ स्थूलके और अन्तःकरण अर्थात् सूक्ष्मशरीरके साथ सूक्ष्मके सम्बन्ध विधानकी आज्ञा की गई है। इसलिये पतिव्रता सतीका सम्बन्ध पतिकी मृत्युके बाद भी उसके सूक्ष्म शरीर व आत्माके साथ रहता है और तदनुसार कर्त्तव्य और उसका फलनिर्देश भी स्मृतियोंमें किया गया है। मनुसंहिता में लिखा है कि:—

> कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
> न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
> आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
> यो धर्म्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवङ्गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प मूल व फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नामतक नहीं लेवे। सती स्त्रीकी मृत्यु जबतक नहीं हो तबतक क्लेश सहिष्णु, नियमवती व ब्रह्मचारिणी रहकर एकपतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे। अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे दिव्य लोकमें गये हैं। पतिके मृत होनेपर भी उन कुमारब्रह्मचारियोंकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसका पुत्र न होने पर भी केवल ब्रह्मचर्य्यकेही बलसे स्वर्गलाभ होता है। विष्णुसंहितामें लिखा है कि:—

मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य्यं तदन्वारोहणं वा ।

पतिवियोग होनेसे सती स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे अथवा पतिके साथ सहमृता हो। इसी प्रकार हारीतसंहितामें लिखा है कि:—

या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चेद्धव्यवाहने ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा ॥

मृतपतिके साथ जो स्त्री सहमृता होती है उसका वास, लक्ष्मी जिस प्रकार हरिके साथ रहती है उस प्रकार पतिके साथ पतिलोक में होता है। दक्षसंहितामें लिखा है कि:—

मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम् ।
सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते ॥

पतिकी मृत्यु होनेपर जो स्त्री उसका अनुगमन करती है वह सदाचारसम्पन्न कहलाती है व स्वर्गमें देवताओंकी भी पूज्या होती है।

ऊपर लिखित सूक्ष्म विज्ञानपर संयम करनेसे विचारवान पुरुषको अवश्यही विदित होगा कि आजकलका प्रधान आलोच्य विषय नियोग या विधवाविवाह कदापि आर्य्य अधिकारके अनुकूल धर्म्म नहीं हो सकता है। किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन पुरुषोंने नियोगविधि को सर्व्वसाधारणधर्म्म प्रमाण करनेके लिये बहुतही क्लिष्ट कल्पना की है। कहीं कहीं उन्होंने वेद व स्मृत्यादि शास्त्रोंसे भी प्रमाण उठाकर उनके मिथ्या अर्थ किये हैं। परन्तु यदि उनको यह विचार होता कि "स्मृतियोंकी आज्ञा देश, काल व पात्रानुसार लक्ष्य स्थिर रखकर सामञ्जस्यके साथही मानी जा सकती है और आज्ञा यथार्थ होने पर भी यदि देश, काल व पात्र उपयोगी न हो तो उसका उपयोग नहीं हो सकता है" तो उनको इस विषयमें इतना भ्रम नहीं होता। अब नीचे स्मृतिसम्मत नियोगका पालन वर्त्तमान युगमें हो सकता है या नहीं? इसी पर विचार किया जाता है। नियोगके विषयमें मनुजीने कहा है कि:—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताऽक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥

यदि अपने पतिके द्वारा सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो स्त्री देवर अथवा अन्य किसी सपिण्ड पुरुषसे नियोग कराकर सन्तान लाभ करे। रातको सर्व्वाङ्गमें घृत लेपन करके मौनावलम्बनपूर्व्वक सगोत्र नियुक्त पुरुष विधवा स्त्रीमें एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कभी उत्पन्न न करे। इस प्रकार नियोगकी विधि बताकर मनुजीने इसको पशु-धर्म्म कहकर इसकी बड़ी निन्दा की है। यथा:—

नाऽन्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम्॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः ॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करञ्चक्रे कामोपहतचेतनः ॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥

द्विजगणको विधवा या निस्सन्ताना स्त्रीका नियोग कदापि नहीं कराना चाहिये क्योंकि पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषमें नियुक्त होनेसे सनातन एक पतिव्रतधर्मकी हानि होती है। विवाहक्रियाके लिये जितने वैदिक मन्त्र हैं उनमें नियोगकी आज्ञा कहीं नहीं पाई जाती है और इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंमें विधवाविवाह भी कहीं नहीं लिखा है। शास्त्रज्ञ द्विजगण नियोगको पशुका धर्म्म कहकर निन्दा करते हैं। यह विधि पापी महाराजा वेनके राज्यके समय मनुष्योंमें भी प्रचलित हुई थी। महाराजा वेनने समस्त पृथ्वीके अधिपति व राजर्षियोंके भी अग्रगण्य होकर अन्तमें पापासक्त व कामोन्मत्त होकर इस प्रकारकी विधिके द्वारा वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति कराई थी। उसी समयसे जो मनुष्य पुत्रके लिये विधवा स्त्रीका नियोग कराता है, साधुगण उसकी बड़ी निन्दा करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्मृतियोंमें भी नियोगकी अत्यन्त निन्दा की गई है। मनुष्य पशु नहीं हैं इसलिये पशुका जो धर्म है सो मनुष्योंके लिये विहित नहीं हो सकता है। इसके सिवाय मनुष्योंमें श्रेष्ठ जो आर्य्यजाति है उसमें पशुधर्मकी जो आज्ञा देता है उसके सदृश पापी संसारमें और कौन हो सकता है। इन सब विचारोंके अतिरिक्त

नियोगकी विधि वर्त्तमान देश, काल व पात्रमें सम्पूर्ण ही असम्भव होनेसे सर्व्वथा परित्याज्य है । नियोगके लिये घृताक्त होकर सम्बन्ध करनेकी जो आज्ञा मनुजीने की है उसका कारण यह है कि नियोगमें साधारण स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी तरह कामभोगका सम्बन्ध ही नहीं है इसलिये गर्भाधानके अर्थ इन्द्रियके स्पर्श होनेके सिवाय और किसी अङ्गका स्पर्श न हो इस कारण ही घृताक्त होनेकी आज्ञा की गई है । मनुजीने कहा है कि:—

> भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
> यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥

देवरके लिये ज्येष्ठ भ्राताकी स्त्री गुरुपत्नीतुल्या है और कनिष्ठ भ्राताकी स्त्री ज्येष्ठ भ्राताके लिये पुत्रवधू तुल्या है । अतः मनुजीके आज्ञानुसार इनमें कामभोग सम्बन्ध होना अतीव गर्हित व पापजनक है । इसलिये सन्तानके लिये नियोगकी आज्ञा होनेपर भी नियोग में कामका बर्ताव होना सर्व्वथा पापजनक व निषिद्ध है । मनुसंहिता में लिखा है कि:—

> विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि ।
> गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥
> नियुक्तौ यो विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः ।
> तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥

यथाविधि नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भ्राता व भ्रातृवधू पुनः पूर्व्वसम्बन्धके अनुसार बर्ताव करें । नियुक्त ज्येष्ठ व कनिष्ठ भ्राता नियोग विधिको छोड़करके यदि कामका बर्ताव करें तो पुत्रवधूगमन व गुरुपत्नीगमनके कारण दोनों ही पतित हो जाते हैं । अब विचार करनेकी बात है कि इन्द्रियोंका सम्बन्ध करते हुए भी और इस प्रकार स्त्रीके सामने रहते हुए भी पुरुषको काम नहीं होगा ऐसा नियोग इस कलियुगमें सम्भव है या नहीं ? मनुजीने कहा है कि:—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता, भगिनी व कन्याके साथ भी एकान्तमें पुरुषको नहीं बैठना चाहिये क्योंकि बलवान् इन्द्रियसमूह विद्वान्‌के भी चित्तको विषयकी ओर खींच लेते हैं। इस प्रकार कहकर मनुजीने इन्द्रियों की चित्तोन्मादकारिणी भीषण शक्ति बताई है। जब विषयोंके सामने रहनेसे ही इस भय व प्रमाद की सम्भावना है तो विषय-व्यापारको करते हुए कलियुगमें तामसिक शरीर व संस्कारयुक्त विषयपूर्णचित्त मनुष्य अपने धैर्य्यको स्थायी रक्खेंगे यह बात कल्पनामें भी नहीं आ सकती है कलियुगका देशकाल हीन है व गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्ट होनेसे और पिता माताके पाशविक कामोन्मादके द्वारा सन्तानकी उत्पत्ति होनेसे कलियुगमें साधारणतः शरीर कामज होता है। अत. इस प्रकारके शरीरमें स्त्रीसे संबंध करते समय नियोग विधिके अनुकूल धैर्य्य रहना व कामभोगका अभाव होना सम्पूर्ण असम्भव है। इसलिये और युगोंमें नियोगकी विधि प्रचलित थी ऐसा प्रमाण शास्त्रोंमें मिलने पर भी कलियुगमें नियोग नहीं चल सकता है और इसलिये महर्षियोंने नियोगकी निन्दा करते हुए कलियुगमें इसका पूर्ण निषेध किया है। यथा बृहस्पतिजी कहते हैं कि:-

उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः ॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ तेषां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः।
न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

मनुजीने नियोगकी आज्ञा देकर पुनः इसकी निन्दा स्वयं ही

की है क्योंकि युगानुसार शक्तिके ह्रास होनेसे मनुष्य पहलेकी तरह नियोग अब नहीं कर सकते हैं। सत्य, त्रेता व द्वापर युगोंमें मनुष्य तपस्वी व ज्ञानी थे; परन्तु कलियुगमें सत्य त्रेतादि युगों की वह शक्ति नष्ट हो गई है इसलिये महर्षि लोग पहले जिस प्रकार नियोगादिसे सन्तान उत्पन्न करते कराते थे; वह अब शक्तिहीन कलियुगके मनुष्योंसे नहीं हो सकता है। पुराणोंमें भी लिखा है कि:—

देवरेण सुतोत्पत्तिः।

देवरसे सन्तान-उत्पत्ति करना कलिमें निषिद्ध है। इस प्रकार कई एक कार्य्य कलियुगमें त्याग देने योग्य लिखे हैं। यथा आदि पुराणमें लिखा है कि:—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः।
निवर्त्तितानि कार्य्याणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः॥

महात्मागणने संसारकी रक्षाके लिये इसी कारण कलियुगके आदिमें व्यवस्थापूर्वक इन कार्य्योंका निषेध किया है। अतः ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणोंसे कलियुगमें नियोग सर्वथा असम्भव सिद्ध होनेसे परित्याज्य है। नियोग पशुधर्म्म होनेसे निन्दनीय, मनुष्यके अयोग्य और देश काल पात्र अयोग्य होनेसे सर्व्वथा हेय है।

नियोगके विषयमें कहा गया है। अब विधवाविवाहके विषयमें कहा जाता है। पुरुषप्रकृतिसे स्त्रीप्रकृतिकी भिन्नता तथा प्रकृति-राज्यमें दोनोंकी उन्नति व मुक्तिका प्रभेद, जोकि पहले कहा गया है, उस पर विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि स्त्रीकी उन्नति व मुक्ति तथा तन्मयता द्वारा स्त्रीयोनिसे उद्धार होनेके लिये एकपतिव्रतही एकमात्र धर्म्म है। स्त्रियोंको कन्याकालसे ऐसीही शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनके चित्तमें पातिव्रत्यका अङ्कुर जम जाय और उनमें भविष्यत्में वे पूर्ण सती बनकर अपना व संसारका कल्याण कर

सकें। आज कल विधवाविवाहके विषयमें बहुत लोगोंके चित्तमें भ्रम उत्पन्न होरहा है। वे, दोनोंकी प्रकृतिमें क्या क्या भिन्नता है इसको भूलकर स्त्री व पुरुष दोनोंकीही प्रकृति एकसी समझकर दोनोंके लिये एकही प्रकारका धर्म्म बताना चाहते हैं और स्त्रीकी मृत्यु होनेसे जिस प्रकार पुरुषका विवाहमें अधिकार है; उसी प्रकार पतिकी मृत्यु होजानेसे स्त्रीका भी अन्य पुरुषको पतिरुपसे ग्रहण करनेमें अधिकार है ऐसा कहकर विधवाविवाहको चलाना चाहते हैं। अतः नवीन भारतमें यह विषय अवश्य ही विचार्य्य है।

धर्म्म प्रकृतिके अनुकूल होता है इसलिये स्त्री प्रकृति व पुरुष प्रकृतिमें प्रभेद रहनेसे स्त्री व पुरुषका धर्म्म एक नहीं हो सकता है। इस विषयमें पहले अनेक सूक्ष्म विचार किये गये हैं अतः अब इस विषयमें कुछ स्थूल विचार किया जाता है। साधारणतः देख सकते हैं कि स्त्रीके शरीर व पुरुषके शरीरमें आकाश पातालसा अन्तर है। रजःप्राधान्यसे स्त्रीशरीर व वीर्यप्राधान्यसे पुरुषशरीर उत्पन्न होनेसे सृष्टिके मूल अर्थात् आदिकारणमें ही प्रभेद है अतः कार्य्यमें भी विशेष भेद रहेगा इसमें सन्देहही क्या है। इस प्रकारसे धातुगत विभेद होनेसे धर्म्म व सृष्टिके साथके सम्बन्धमें बड़ी विशेषता रहती है। सृष्टिकार्य्यमें पुरुषसे स्त्रीकी "जिम्मेवरी" अधिक है। यथा-यदि कोई पुरुष गर्भाधान करनेके बादही मरजाय तो सन्तानोत्पत्तिमें कोई बाधा नहीं होती है; परन्तु माताको दश महीने तक गर्भमें धारण करनेके लिये जीना पड़ता है और प्रसवके अनन्तर भी कुछ दिन जीये विना साधारणतः सन्तानका प्रतिपालन नहीं होता है। अतः जब सृष्टिकार्य्यमें एककी जिम्मेवरी दो मिनटकी और दूसरेकी एक वर्षकी हुई तो दोनोंके लिये समान धर्म्म नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसी आज्ञा प्रकृति ही नहीं देती है। द्वितीयतः यह भी बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि यदि एक पुरुषकी एकसे अधिक स्त्रियां हों और वे सब सती हों एवं पुरुष भी धार्मिक व ऋतुकालगामी हो तो एक पुरुषके द्वारा ऋतुकालके

अनुसार कई स्त्रियोंका गर्भाधान हो सकता है क्योंकि एक बार गर्भाधानके अनन्तर उस स्त्रीको पतिके साथ उस प्रकारका काम सम्बन्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं होती है; परन्तु स्त्रीका शरीर प्राकृतिक रूपसे ऐसा ही है कि एक स्त्री अपने क्षेत्रमें दो पुरुषकी शक्ति को लेकर कभी सृष्टिविस्तार नहीं कर सकती है, वे एक ही शक्तिको धारणकर सकती हैं, दूसरा कामका वेग उनमें भले ही कुछ हो परन्तु उससे गर्भधारण कार्य्यमें कोई उपकार नहीं हो सकता है। अतः दोनों प्रकृतिमें विशेषता होनेसे धर्म्मकी भी विशेषता अवश्य होगी और दोनोंके लिये एकही धर्म्म नहीं हो सकेगा। तृतीयतः एकपतिव्रत या एकपत्नीव्रत पालन न होकर यदि व्यभिचार ही हो, तथापि दोनोंके व्यभिचारोंमें बड़ा ही अन्तर है। पुरुषके व्यभिचारसे उसका अपना ही शरीर नष्ट होता है और उसे पशुत्व प्राप्ति होती है, उसका प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ती है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचारका प्रभाव समस्त कुल, समाज, जाति व देश पर पड़ता है। दृष्टान्तरूपसे समझा जा सकता है कि यदि कोई स्त्री पांच मिनटके लिये व्यभिचारिणी होकर अपने गर्भमें किसी नीच वर्णसङ्कर प्रजा या अनार्य्यका वीर्य्य लावे तो उस प्रकारके गर्भाधानसे वर्णसङ्कर प्रजा या अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर कुल समाज, जाति व देश सभीको नष्ट करदेगी। अतः जब सृष्टिकी पवित्रता रखनेके लिये पुरुषसे स्त्रीकी "जिम्मेवरी" अधिक हुई तो दोनोंका धर्म्म भी पृथक् पृथक् होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है। चौथी बात यह है कि स्त्रीमें अष्टमधातु अर्थात् रज, पुरुषके सप्तमधातुके अतिरिक्त होनेके कारण और उसमें प्रेरणा भी पुरुषसे विशेष होनेके कारण पुरुषसे स्त्रीमें काम भाव अधिक रहता है। शास्त्रोंमें पुरुषसे स्त्रीका कामभाव आठगुणा अधिक कहा गया है। पुरुष व्यभिचार करने परभी अधिक नहीं कर सकता है क्योंकि शुक्रनाशके द्वारा पुरुष शीघ्रही उस पापके करनेमें असमर्थ होजाता है, प्रकृति उसको रोक देती है; परन्तु स्त्रीकी प्रकृति ऐसी है कि

अनुसार कई स्त्रियोंका गर्भाधान हो सकता है क्योंकि एक बार गर्भाधानके अनन्तर उस स्त्रीको पतिके साथ उस प्रकारका काम सम्बन्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु स्त्रीका शरीर प्राकृतिक रूपसे ऐसा ही है कि एक स्त्री अपने देहमें दो पुरुषकी शक्ति को लेकर कभी सृष्टिविस्तार नहीं कर सकती है, वे एक ही शक्तिको धारणकर सकती हैं, दूसरा कामका वेग उनमें भले ही कुछ हो परन्तु उससे गर्भधारण कार्य्यमें कोई उपकार नहीं हो सकता है। अतः दोनों प्रकृतिमें विशेषता होनेसे धर्म्मकी भी विशेषता अवश्य होगी और दोनोंके लिये एकही धर्म्म नहीं हो सकेगा तृतीयतः एकपति व्रत या एकपत्नीव्रत पालन न होकर यदि व्यभिचार ही हो, तथापि दोनोंके व्यभिचारोंमें बडा ही अन्तर है। पुरुषके व्यभिचारसे उसका अपना ही शरीर नष्ट होता है और उसे पशुत्व प्राप्ति होती है, उसका प्रभाव दूसरों पर नहीं पडती है, परन्तु स्त्रीके व्यभिचारका प्रभाव समस्त कुल, समाज, जाति व देश पर पडता है। दृष्टान्तरूपसे समझा जा सकता है कि यदि कोई स्त्री पांच मिनटके लिये व्यभिचारिणी होकर अपने गर्भमें किसी नीच वर्णसङ्कर प्रजा या अनार्य्यका वीर्य्य लावे तो उस प्रकारके गर्भाधानसे वर्णसङ्कर प्रजा या अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर कुल समाज, जाति व देश सभीको नष्ट करदेगी। अतः जब सृष्टिकी पवित्रता रखनेके लिये पुरुषसे स्त्रीकी "जिम्मेवरी" अधिक हुई तो दोनोंका धर्म्म भी पृथक् पृथक् होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है। चौथी बात यह है कि स्त्रीमें अष्टमधातु अर्थात् रज, पुरुषके सप्तमधातुके अतिरिक्त होनेके कारण और उसमें प्रेरणा भी पुरुषसे विशेष होनेके कारण पुरुषसे स्त्रीमें काम भाव अधिक रहता है। शास्त्रोंमें पुरुषसे स्त्रीका कामभाव आठगुणा अधिक कहा गया है। पुरुष व्यभिचार करने परभी अधिक नहीं कर सकता है क्योंकि शुक्रनाशके द्वारा पुरुष शीघ्रही उस पापके करनेमें असमर्थ होजाता है, प्रकृति उसको रोक देती है, परन्तु स्त्रीकी प्रकृति ऐसी है कि

उसमें व्यभिचारका अन्त नहीं हो सकता। महाभारतमें कहा है कि:—

नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां नाऽऽपगानां महोदधिः।
नाऽन्तकः सर्व्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥

जिस प्रकार काष्ठ कितनाही डालाजाय, कदापि अग्निकी तृप्ति नहीं होती है एवं नदियां कितनी ही समुद्रमें मिल जायँ, समुद्रकी तृप्ति नहीं होती है तथा जीव कितने ही मृत्युके मुखमें आ जायँ, मृत्युकी तृप्ति नहीं होती है; उसी प्रकार कितनेही पुरुष भोग के लिये क्यों न मिल जायँ, उससे स्त्रीकी कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसे और भी अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें मिलते हैं जिससे उक्त बात सिद्ध होती है। अतः जब पुरुषमें व्यभिचार होने पर भी उसकी सीमा है और स्त्रीमें व्यभिचारकी सीमा ही नहीं है तो दोनोंका अधिकार व धर्म्म एकसा नहीं हो सकता है। यह बात पहले ही कही गई है कि स्त्री जाति प्रकृतिका अंश होनेके कारण उसमें विद्या व अविद्या दोनों प्रकृति विद्यमान हैं। अविद्या-भावके कारण पुरुषसे आठगुणा काम अधिक होने पर भी विद्या-भावके कारण उसमें पुरुषसे धैर्य्य अधिक है। अतः जिस प्रकार किसीकी यदि ऐसी प्रकृति हो कि एक छटांक भोजनसे भी निर्वाह कर सकता है और लोभ बढ़ाया जाय तो मन मन भर खिलानेसे भी तृप्ति नहीं होती है तो उसके लिये एक छटांकमें निर्वाह करानेका अभ्यास करानाही बुद्धि व विचारका कार्य्य होगा; व मन मन भर खानेका लोभ दिलाना अविचारका कार्य्य होगा, ठीक उसी प्रकार जब स्त्री जातिकी प्रकृति ही ऐसी है कि एकपतिव्रता होकर तपो-धर्म्मके अनुष्ठान द्वारा उसीमें आनन्दके साथ निर्वाह करके मुक्ति पा सकती है और अनेक पुरुषोंके साथ भोग करनेका लोभ दिलानेसे अजस्र कामभोग करके संसार व अपनेको भ्रष्ट कर सकती है तो स्त्रीके लिये यही धर्म्म व विचारका कार्य्य होगा जिससे उसमें एक-

पतिव्रताका संस्कार बढ़ता रहे एवं अनेक पुरुषोंसे भोगका भाव कुछ भी न हो। विषयसुख एक प्रकारका चित्तका अभिमानमात्र होनेसे पुरानेकी अपेक्षा नवीन वस्तुमें अधिक सुखबोध होने लगता है क्योंकि पुरानी वस्तु अभ्यस्त होनेके कारण उसमें ऐसा अभिमान भी कम हो जाता है। नवीनमें नवीन सौन्दर्य आदिका अभिमान होने से नवीन सुख व आग्रह होने लगता है। यह सब मायाकी ही लीला है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जिसमें काम जितना होगा उसमें नवीन भोगकी लालसा भी उतनी ही होगी। अतः पुरुषसे स्त्रीमें कामका वेग जब आठगुणा अधिक है तो स्त्रीमें नवीन नवीन पुरुष सम्भोगलालसा भी पुरुषसे आठगुणी अधिक होगी। इसी लिये महाभारतमें कहा गया है कि—

न चाऽऽसां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः।
गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम्॥

जिस प्रकार गौ नई नई घास खानेकी इच्छासे एकही स्थान पर न खाकर इधर उधर मुँह मारती रहती है, उसी प्रकार नवीन नवीन पुरुषभोगकी स्पृहा स्त्रियोंमें स्वाभाविक है। उनके हाथमें आया हुआ कोई पुरुष खाली नहीं जासकता है। यही स्वाभाविक नवीन नवीन भोगस्पृहा स्त्रीजातिमें अविद्याका भाव है। पातिव्रत्यके द्वारा इस अविद्याभावका नाश होकर विद्याभावकी वृद्धि होती है; परन्तु विधवा विवाहके द्वारा विद्याभावका नाश होकर अविद्याभाव की ही वृद्धि होगी जिससे स्त्रीजातिकी सत्ता नाश हो जायगी। जिस दिन विचारी अवला स्त्रियोंको यह आज्ञा दी जायगी कि उनके एक पतिके मरनेके अनन्तर नवीन पति उन्हें भोगके लिये मिल जायगा और इस प्रकारसे अनेक पुरुषोंसे भोग करती हुई भी वे धार्मिका रह सकेंगी, उस दिनसे उनके चित्तमें नवीन नवीन पुरुषोंसे भोग की इच्छा कितनी बलवती होजायगी इसको सभी लोग समझ सकते

हैं। धर्मका लक्ष्य कामादि प्रवृत्तियों को रोककर निवृत्तिकी पुष्टि करना ही है; परन्तु जब अनन्त कामभोग करने पर भी पतिव्रता व धार्मिक रह सकती हैं ऐसी आज्ञा उन्हें मिल जायगी तो कौन चाहता है कि कठिन तपश्चर्य्या व एकपतिव्रतको पालन करे, उस समय सभी स्त्रियोंके चित्तमें आठगुणा काम व नवीन पुरुषोंसे भोग करनेका दावानल धकधका कर जल उठेगा जिसके तेजसे संसारकी शान्ति व प्रेम आदि सब कुछ नष्ट होकर संसार भीषण श्मशान रूपमें परिणत हो जायगा। इस प्रकार विधवा-विवाहकी आज्ञाके द्वारा सतीत्व रूपी कल्पतरु, जिसके अमृत फल श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्र, ऋषि, महर्षि व ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि हैं और जिस कल्पतरुके मधुर फल भगवान् शङ्कर व महाराणा प्रताप आदि हैं उसके मूलमें कठिन कुठारका आघात होकर उसे नष्ट कर देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भारतसे सती धर्मका गौरव, जिस गौरवके कारण आज भी भारत इतनी हीन दशा होने पर भी समस्त संसारमें ज्ञानगुरु होकर इतने विप्लवोंको सहन करता हुआ भी अपनी सत्ताको प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुआ है, यह भारत-गौरव रवि चिरकालके लिये अस्त होकर भारतको घोर अज्ञानान्धकार-मय नरक-रूपमें परिणत कर देगा एवं दुःख, दारिद्र्य, अविद्या और अशान्ति आदि पिशाचिनी उस नरकमें नृत्य करेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। संसारमें कितनी ही जातियाँ काल समुद्र पर बुद्बुदकी तरह उठकर पुनः काल समुद्रमें ही विलीन हो गई, आज उनका नाम निशान भी नहीं है; हमारे भारतने केवल माताओंकी ही कृपासे व सती-धर्म्मके बलसे चिरजीवी आर्य्य-पुत्रों को उत्पन्न करके आर्य्य जातिको जीवित रक्खा है। यह महिमा एवं आर्य्य-जातिकी यह चिरायुता पातिव्रत्यके नाशसे पूर्ण नष्ट हो जायगी जिससे आर्य्य-जाति नष्ट हो जायगी। केवल आर्य्य-जाति ही नहीं, परन्तु विधवा-विवाहके प्रचार होनेसे घर घरमें अशान्ति

फैल जायगी। आर्य्य-शास्त्रोंमें सती चार प्रकारकी कही गई है। उत्तम सती वह है जो अपनेपतिको ही पुरुष देखे और अन्य पुरुषों को स्त्री देखे अर्थात् उनमें सतीत्वका भाव इतना उच्च है व धारणा इतनी पूर्ण है कि सिवाय पतिके और किसी मनुष्यमें पुरुष-भावकी दृष्टि ही नहीं होती है। मध्यम सतीका यह लक्षण है कि जो अपने पतिको ही पति समझे एवं अपनेसे अधिक आयुवाले पुरुषको पिता, समान आयुवाले पुरुषको भ्राता व कम आयु वाले पुरुषों को पुत्र समझे। तृतीय श्रेणीकी सती वह है कि जिसमें धारणा इतनी पक्की न होने पर भी धर्म्म व कुल मर्य्यादा आदिके विचारसे जो शरीर व अन्तःकरणको पवित्र रक्खे। और अधम सती वह है कि जो मनके द्वारा परपुरुष चिन्ताको न छोड़ सकने पर भी स्थूल शरीरकी पवित्रता रक्षा करे। इस प्रकारके पातिव्रत्यके प्रभावसे ही ही शास्त्रोंमें कहा गया है किः—

> अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा।
> भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः॥
> सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
> पितरो धर्म्मकार्य्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः॥

संसारमें स्त्री पुरुषको अर्द्धाङ्गिनी रूपिणी व परम मित्ररूपा है। जिनके भार्य्या है उन्हींको सब धर्म्मकार्य्योंमें सफलता व श्रीवृद्धि हुआ करती है। एकान्तमें प्रियवादिनी सखा, धर्म्म कार्य्योंमें पिताके सदृश सहायता देनेवाली और रोगादि क्लेशोंके समय माताकी तरह शुश्रूषा करनेवाली भार्य्या ही हुआ करती है। इस समय संसारमें गृहस्थ पुरुषोंको यदि कोई गार्हस्थ्य शान्ति है तो यही है कि उनके घरमें सम्पत्तिके समय अधिकतर आनन्ददायिनी और विपत्तिके समय पर अर्द्धांशभागिनी रूपसे विपत्तिके भारको कम करके हताश-हृदयमें आशामृत सिञ्चनकारिणी सहधर्म्मिणी है जो कभी स्वप्नमें

भी परपुरुषको नहीं जानती है; परन्तु विधवा विवाहके प्रचारके द्वारा पुरुषके हृदयमें बद्धमूल यह आशालतिका दग्ध होकर हृदयको भीषण मरुभूमिरूपमें परिणत कर देगी क्योंकि पुरुषके चित्तमें सदाही यह संदेह उत्पन्न होता रहेगा कि "न जाने यह मेरी स्त्री मुझे मारकर दूसरेसे विवाह कर लेवे क्योंकि स्त्रीप्रकृति नवीन नवीन पुरुषका चाहनेवाली है, विधवा विवाहके प्रचारसे नवीन नवीन पुरुष प्राप्त करना धर्मरूप होगया इसलिये यह क्यों मेरे जैसे पुरानेके पास रहेगी, अनेक दिनोंका सम्बन्ध होनेके कारण मैं पुराना होगया हूँ, मेरा शरीरभी नाना कारणोंसे उसकी पूर्ण तृप्ति करने लायक नहीं रह गया है" इत्यादि इत्यादि। और इस प्रकारकी चिन्ता उस दशामें स्वाभाविक भी है क्योंकि विधवा विवाहकी आज्ञाको धर्म्म कहकर प्रचार करनेसे स्त्री जातिके चित्तसे सतीत्वका संस्कारही नष्ट हो जायगा जिससे एकपतिमें ही संयमपूर्वक नियुक्त रहनेकी कोई आवश्यकता स्त्रियाँ नहीं समझेंगी और इसका यही फल होगा कि स्त्री-जातिकी स्वाभाविक कामपिपासा व नवीन नवीन पुरुषभोग प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होकर स्त्रीचित्तकी सत्ताको नाश करदेगी। और जहाँ एक बार सतीत्वका बन्ध टूट गया, फिर कहना ही क्या है? उसे कभी रोक नहीं सकते। सिंहको नररक्तका स्वाद मिलने पर उसकी मनुष्य मारनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं नष्ट हो सकती है। अतः इस प्रकारकी आज्ञा देनेका यही फल होगा कि गृहस्थाश्रममें बड़ा भारी अशान्ति फैलेगी, गृहस्थाश्रम श्मशान होजायगा, उसकी गृहलक्ष्मी अपने स्वरूपको छोड़कर व पिशाचिनी बनकर उसी श्मशानमें नृत्य करेगी, प्रेमकी मन्दाकिनी शुष्क होजायगी, कामका हुताशन भीषणरूपसे जलने लग जायगा और पतिका पवित्र देह उसी हुताशनमें आहुतिरूप होजायगा। संसारमें थोड़ी थोड़ी बात परही लड़ाई होगी, लड़ाईमें दाम्पत्यप्रेम नष्टहो जायगा, पति सदाही स्त्रीसे डरने लगेंगे, "क्या जाने वह मुझे मार न देवे, मेरा शरीर बुड्ढ़ा होगया

है, यद्युत सुन्दरसी नहीं है, मैंने आज धमकाया था, उसको क्रोध तो नहीं आगया, शायद क्रोध करके मुझे रातको मार न दे, किसी दूसरेसे गुप्त प्रेम करके मुझे दूधके साथ जहर देकर मार न डाले क्योंकि मेरेसे उसका चित्त नहीं भरता है, मैं पुराना व बुड्ढा हो गया हूँ" इत्यादि इत्यादि सब दुर्दशाएँ गृहस्थाश्रममें होने लग जायँगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। पुरुषको सामान्य रोग होते ही वह आधे रोगमें चिन्ता हीसे पूरा मर जायगा क्योंकि उधर तो अठ गुणी कामकी अग्नि निशिदिन आहुतिके लिये लहलहाती है और इधर रोगसे विषय करनेकी शक्ति कम होगई है अथा इस दशामें व्यभिचारका भय व मार डाले जानेका भय सदैव पुरुषको सताया करेगा और वह सामान्य रोगसे ही दुश्चिन्ताके कारण मर जायगा, सब स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होजायँगी, पतिकी बात नहीं सुनेंगी, पतिको रोटी मिलनी कठिन हो जायगी, वे कुछ नहीं कह सकेंगे, क्योंकि जहाँ कुछ कहें कि वहीं मरनेका डर, विषका डर और हत्या का डर लगेगा, वह स्त्री नाराज होकर सब कुछ कर सकती है, अन्य पुरुषसे मिलकर उसे मार डाल सकती है क्योंकि तब तो अन्य पुरुष से मिलना धर्म होजायगा। यही सब विधवा विवाहका भारतको श्मशान बनानारूप विषमय फल है जिसको विचारवान् व दूरदर्शी पुरुष विचार कर देखनेसे अक्षरशः सत्य जान सकेंगे। क्या यही सब भारतवर्षकी उन्नतिका लक्षण है? इसी प्रकार करनेसे भारतवर्षकी उन्नति होगी? यही सब आर्य्यत्वका लक्षण है? समुद्रके गर्भमें डूब जाय वह भारत और नष्ट होजाय वह आर्य्यजाति जिसमें अपने आर्य्यभावको नष्ट करके इस प्रकारके अनार्य्य आचारको महत्व करनाही उन्नतिका लक्षण हो। प्रमादी हैं वे लोग जो इन सब विषयों को विना सोचेही पवित्र आर्य्यजातिके भौतिकभावोंके उड़ा देनेमें अपना पुरुषार्थ और देशकी उन्नति समझते हैं। उन्नति अपने जातिगत संस्कारोंकी उन्नतिसे हुआ करती है, अपनी संस्कारों नष्ट करके

नहीं होसकती है। भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं होसकता है,—आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं होसकते हैं और आर्य्यसतियाँ विलायती मेम बनकर उन्नत नहीं होसक्ती हैं, परन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत होसकती हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणासे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीयबार विवाह करना मना किया है। यथा—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥

पैत्रिकसम्पत्ति एकही वार विभक्त होती है, कन्या एकही वार पात्रमें दान की जाती है और दान एकही वार सकलवस्तुओंका हुआ करता है, सत्पुरुष इन तीनोंको एकही वार करते हैं। पहले ही मनुजीका मत कहा गया है कि—

न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः ।

विवाह विधिमें विधवाका विवाह कहीं नहीं बताया गया है। ऐसा कहकर मनुजी, वेदमें विधवा विवाह लिखा है कि नहीं इसकी मीमांसा करते हैं। यथा—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाऽकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्म्मक्रिया हि ताः ॥
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥

विवाहके लिये जितने वैदिक मन्त्र मिलते हैं सभी कन्या अर्थात् पहलेसे अविवाहिता स्त्रीके लिये प्रयुक्त हैं, एकबार विवाहिता स्त्रीमें ये सब मन्त्र नहीं लगाये जासकते हैं क्योंकि वे इस प्रकारके कार्य्यसे बहिर्भूत हैं। वैवाहिक मन्त्र सभी भार्य्यात्वके निश्चय करनेवाले हैं और इस प्रकारका निश्चय सप्तपदीगमनके पश्चात्

होता है। मनुजीके इस प्रकारके सिद्धान्तसे यही बात स्पष्ट होती है कि वेदमें विधवा-विवाहकी आज्ञा कहीं नहीं दीगई है। ऐसी आज्ञा वेद कभी देही नहीं सकते हैं क्योंकि वेदके ही आज्ञानुसार कन्या का दान होता है। वैवाहिक मन्त्रोंसे यही बात स्पष्ट होती है। सब स्मृति और मनुजी भी इसमें सहमत हैं। देय वस्तु एकही बार दी जाती है। दी हुई वस्तु उठाकर दूसरेको देना धर्म व विचारसे विरुद्ध कार्य्य है। समस्त स्मृतिकार व मनुजीने यह बात लिखी है और सभी गृहस्थ लोग जानते हैं कि हिन्दुजातिमें विवाहके अनन्तर स्त्रीका गोत्र तक बदलकर पतिके गोत्रकी प्राप्ति स्त्रीको होती है और तदनन्तर श्राद्ध, तर्पण, देवकार्य्य आदि सभी पतिके गोत्रसे होते हैं। ऐसी दशामें दत्ता स्त्रीका पुनर्दान कैसे होसकता है और वेदभी इस अधर्मके लिये कैसे आज्ञा देसकते हैं सो बुद्धिमान् मनुष्यमात्र ही सोच सकेंगे। अर्वाचीन पुरुषोंने मन्त्रोंका मिथ्या अर्थ करके ऐसी कल्पना की है। वेदमें ऐसी आज्ञाएँ कभी नहीं होसकती हैं क्योंकि मनुसंहितामें लिखा है कि—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

जो कुछ धर्म मनुजीने कहा है सभी वेदानुकूल धर्म हैं क्योंकि भगवान् मनु सर्वज्ञ हैं। इसलिये दत्ता कन्याका पुनर्दान व विधवाका विवाह जब मनुजीने निषेध किया है तो वेदमें इसके लिये आज्ञा कभी नहीं हो सकती है। पातिव्रत्यकी महिमा अथर्व आदि श्रुतियोंमें कैसी कीर्त्तन की गई है सो पहले ही कहा गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

अब जो वाग्दत्ता कन्याके विवाहका विषय है सो इस विषयमें भी मनुजीने स्पष्ट विवाह नहीं लिखा है। यथाः—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥

यदि विवाहके पहले वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवरके साथ उसका संसर्ग हो सकता है कि यथाविधि इस प्रकारकी स्त्रीको प्राप्त करके देवर सन्तान होने तक प्रतिऋतुमें उससे संसर्ग करे; परन्तु वह स्त्री शुभ्र वस्त्र पहने हुई व शुचिव्रता होनी चाहिये। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रता होना विधवाका धर्म्म है, सधवाका नहीं है। अतः इस प्रकारकी आज्ञाके द्वारा मनुजी वाग्दत्ताका विवाह नहीं बता रहे हैं। परन्तु केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बता रहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपरके श्लोकोंसे वाग्दत्ताका विवाह समझ लेवे तो इस सन्देहके निराकरणार्थ मनुजी ने पुनः तीसरे श्लोकमें कहा है किः—

न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषाऽनृतम् ।

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगोंको अपनी कन्याको अन्य पात्रमें समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुषको दान करना अङ्गीकार करके दूसरेका देने पर समस्त संसारको प्रतारणा करनेका पाप होता है। मनुजीकी यह आज्ञा उत्तम कोटिकी है क्योंकि शास्त्रोंमें कहा है किः—

यद्वैमनुरवदत्तद्भेषजम् ।

जो कुछ मनुजीने कहा है, मनुष्योंके लिये वह सब ही कल्याणकर है। इसलिये उनकी आज्ञाको मानना ही वेदानुकूल तथा सर्वथा आर्य्यभावयुक्त है। परन्तु भिन्न भिन्न देशकालके विचारसे अन्यान्य स्मृतियोंमें कहीं कहीं अनुकल्प भी देखनेमें आता है। उनमें मध्यम व अधम कोटिकी भी आज्ञाएँ मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पात्रमें समर्पण भी माना जाता है। उनका यह सिद्धान्त है कि

होता है। मनुजीके इन प्रकारके सिद्धान्तसे यही बात स्पष्ट होती है कि वेदमें विधवा-विवाहकी आज्ञा कहीं नहीं दीगई है। ऐसी आज्ञा वेद कभी देही नहीं सकते हैं क्योंकि वेदके ही आज्ञानुसार कन्या का दान होता है। वैवाहिक मन्त्रोंसे यही बात स्पष्ट होती है। सब स्मृति और मनुजी भी इसमें सहमत हैं। देय वस्तु एकही बार दी जाती है। दी हुई वस्तु उठाकर दूसरेको देना धर्म व विचारसे विरुद्ध कार्य्य है। समस्त स्मृतिकार व मनुजीने यह बात लिखी है और सभी गृहस्थ लोग जानते हैं कि हिन्दुजातिमें विवाहके अनन्तर स्त्रीका गोत्र तक बदलकर पतिके गोत्रकी प्राप्ति स्त्रीको होती है और तदनन्तर श्राद्ध, तर्पण, देवकार्य्य आदि सभी पतिके गोत्रसे होते हैं। ऐसी दशामें दत्ता स्त्रीका पुनर्दान कैसे होसकता है और वेदभी इस अधर्मके लिये कैसे आज्ञा देसकते हैं सो बुद्धिमान् मनुष्यमात्र ही सोच सकेंगे। अर्वाचीन पुरुषोंने मन्त्रोंका मिथ्या अर्थ करके ऐसी कल्पना की है। वेदमें ऐसी आज्ञाएँ कभी नहीं होसकती हैं क्योंकि मनुसंहितामें लिखा है कि—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

जो कुछ धर्म मनुजीने कहा है सभी वेदानुकूल धर्म हैं क्योंकि भगवान् मनु सर्वज्ञ हैं। इसलिये दत्ता कन्याका पुनर्दान व विधवाका विवाह जब मनुजीने निषेध किया है तो वेदमें इसके लिये आज्ञा कभी नहीं हो सकती है। पातिव्रत्यकी महिमा अथर्व आदि श्रुतियोंमें कैसी कीर्त्तन की गई है सो पहले ही कहा गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

अब जो वाग्दत्ता कन्याके विवाहका विषय है सो इस विषयमें भी मनुजीने स्पष्ट विधान नहीं लिखा है। यथाः—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥

यदि विवाहके पहले वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवरके साथ उसका संसर्ग हो सकता है कि यथाविधि इस प्रकारको स्त्रीको प्राप्त करके देवर सन्तान होने तक प्रतिऋतुमें उससे संसर्ग करे; परन्तु वह स्त्री शुभ्र वस्त्र पहने हुई व शुचिव्रता होनी चाहिये। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रता होना विधवाका धर्म है, सधवाका नहीं है। अतः इस प्रकारकी आज्ञाके द्वारा मनुजी वाग्दत्ताका विवाह नहीं बता रहे हैं। परन्तु केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बता रहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपरके श्लोकोंसे वाग्दत्ताका विवाह समझ लेवे तो इस सन्देहके निराकरणार्थ मनुजी ने पुनः तीसरे श्लोकमें कहा है कि:—

न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषाऽनृतम्।

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगोंको अपनी कन्याको अन्य पात्रमें समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुषको दान करना अङ्गीकार करके दूसरेको देने पर समस्त संसारको प्रतारणा करनेका पाप होता है। मनुजीकी यह आज्ञा उत्तम कोटिकी है क्योंकि शास्त्रोंमें कहा है कि:—

यद्वैमनुरवदत्तद्भेषजम्।

जो कुछ मनुजीने कहा है, मनुष्योंके लिये वह सब ही कल्याणकर है। इसलिये उनकी आज्ञाको मानना ही वेदानुकूल तथा सर्वथा आर्य्यभावयुक्त है। परन्तु भिन्न भिन्न देशकालके विचारसे अन्यान्य स्मृतियोंमें कहीं कहीं अनुकल्प भी देखनेमें आता है। उनमें मध्यम व अधम कोटिकी भी आज्ञाएँ मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पात्रमें समर्पण भी माना जाता है। उनका यह सिद्धान्त है कि

मन्त्रसंस्कारके अनन्तर सप्तपदीगमन होनेसे ही जब कन्या पर पूर्णतया वरका अधिकार होता है तो केवल वाग्दत्ता होनेसे पूरा दान नहीं हुआ अतः उसका विवाह हो सकता है यह विचार कुछ स्थूल भावमूलक है। मनुजीका विचार स्थूल सूक्ष्म दोनों भावोंको साथ लेकर है इसलिये मनुजीने वाग्दत्ता तकका विवाह निषेध किया है और अन्य महर्षियोंने वाग्दत्ताका पुनर्दान विधान किया है। यथा— वासिष्ठ-संहितामें लिखा है कि:—

> अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताऽथो वरो यदि।
> न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा॥
> यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
> अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥

यदि ऐसा हो कि केवल जलसे या वाक्यसे दानमात्र हुआ है परन्तु मन्त्रोंके द्वारा संस्कार नहीं हुआ है तो इस दशामें वरकी मृत्यु होनेसे वह कन्या पिताकी ही रहेगी। इसलिये मन्त्रसंस्कृत न होनेके कारण वह कन्या अन्यपात्रमें दी जा सकती है क्योंकि ऐसी अवस्थामें वाग्दत्ता कन्या और अवाग्दत्ता कन्या दोनों ही बराबर हैं। इस प्रकार वसिष्ठादि महर्षियोंने वाग्दत्ता कन्याके विवाहकी आज्ञा दी है और मनुजीने मना किया है। यह श्रेष्ठकल्प व अनुकल्प का विचार है। यथा—दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि यदि किसीने किसीको धन देना अङ्गीकार किया उसके बाद जिससे अङ्गीकार किया था उसकी मृत्यु हो जाय तो सर्वोत्तम मनुष्य वही होगा जो दूसरेके लिये संकल्प किये हुए उस धनको अपने काममें नहीं लावेगा; परन्तु इतना ऊँचा सिद्धान्त करने वाले लोग संसारमें विरले ही होते हैं और साधारणतः यही होता है कि जब लेनेवाला मर गया है तो उस धनको अन्य किसीको देदिया जाय। वाग्दत्ताके

दान होने या न होनेके विषयमें अन्यान्य महर्षि व मनुजीके मतमें भेद होनेका कारण भी इसी प्रकारका है। परन्तु वाग्दत्ताके विषयमें मतभेद होनेपर भी मन्त्रसंस्कृता विधवाके विवाहके विषयमें सभी महर्षियोंने एकवाक्य होकर विरुद्ध मत दिया है। एकपतिमत्वके विषयमें अनेक वर्णन पहले किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन पुरुषोंका यह विचार है कि जब पाश्चात्य अनेक जातियोंमें विधवा विवाह प्रचलित रहने पर भी वहाँ उन्नति देखनेमें आती है और बड़े बड़े वीर भी वहाँ उत्पन्न होते हैं तो पातिव्रत्यके नष्ट होनेसे भारतमें उन्नति क्यों न होगी? इस प्रकार की शङ्काओंका उत्तर वर्णधर्मके अध्यायमें कई बार दिया गया है। प्रत्येक जाति अपने अपने संस्कार पर ही उन्नत हो सकती है, संस्कारको नष्ट करके उन्नत नहीं हो सकती है। किसी नवीन संस्कारवाली नवीन जातिको उन्नत करना और बात है और किसी पुराने संस्कारोंके बिगड़ जानेसे बिगड़ी हुई जातिको उन्नत करना और बात है नवीन जाति नवीन संस्कारोंके साथ उन्नत हो सकती है परन्तु पुराने संस्कारवाली जाति पुराने बिगड़े हुए संस्कारोंको सुधार कर ही उन्नत हो सकती है। उन संस्कारोंको नष्ट कर देनेसे वह जाति मर जाती है, उन्नत नहीं होती है। अतः जिस देशकी स्त्रियोंमें पातिव्रत्यका संस्कार नहीं है वह दूसरे संस्कारोंसे दूसरी तरहसे उन्नत हो सकती है परन्तु जहाँ पर पातिव्रत्यका संस्कार अनादि कालसे इस प्रकार व्याप्त है कि इसके बिना स्त्रीका स्त्रीत्व ही व्यर्थ होता है वहाँ इस संस्कारके नष्ट करनेमें स्त्रियोंका सत्ता नाश हो जायगा जिससे जातिकी भी सत्ता नाश हो जायगा। यह बात सर्वथा सत्य और विज्ञानसिद्ध है कि जहाँपर क्रिया है वहाँ पर प्रतिक्रिया भी होती है परन्तु जहाँ क्रिया ही नहीं है वहाँ प्रतिक्रिया नहीं हो सकती है। जहाँ प्रकृति जितनी सूक्ष्म है वहाँ प्रतिक्रिया

भी उतनी ही सूक्ष्म व अधिक हुआ करती है। जड़प्रकृति या स्थूल प्रकृतिमें प्रतिक्रिया भी स्थूल व कम होती है। पातिव्रत्य सूक्ष्मप्रकृति का विषय है। जहाँ यह प्रकृति विकाशको प्राप्त है वहाँ इसके विरुद्ध कार्य्यकी प्रतिक्रियासे धक्का भी लगता है; परन्तु जहाँ ऐसी सूक्ष्म प्रकृति अभीतक विकाशको ही प्राप्त नहीं हुई है वहाँ प्रतिक्रिया क्या होगी और धक्का ही क्या लगेगा? आर्य्य-जातिके सिवाय और जातियोंमें पातिव्रत्यकी सूक्ष्मप्रकृति अभी विकाशको भी नहीं प्राप्त हुई है इसलिये वहाँ पर प्रतिक्रिया न होनेसे हानि भी नहीं होती है। परन्तु आर्य्यजातिकी स्त्रियोंमें इस सूक्ष्मप्रकृतिका पूर्ण विकाश है अतः इस पर चोट लगनेसे इनका धक्का जातिपर बहुत लगेगा जिससे आर्य्यजाति रसातलको चली जायगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसमें सूक्ष्म विचार और भी गंभीर है। सतीत्वके पूर्ण आदर्श से रहित धर्ममार्ग पृथ्वीकी अन्य मनुष्यजातियोंमें प्रचलित रहनेपर भी वहाँ जातिकी कुछ काल तक सुरक्षा व जातिगत जीवनकी साधारण उन्नति होना सम्भव है; परन्तु नारीजातिमें आदर्श सतीधर्मका विकाश न रहनेसे न उस जातिका आर्य्यत्व (श्रेष्ठत्व) रह सकता है, न उस जातिमें पूर्ण ज्ञानयुक्त मानवोंका जन्म हो सकता है और न वह जाति चिरस्थायी हो सकती है। प्रत्येक जातिकी उन्नति अपने माता पिताकी उन्नतिसे ही हुआ करती है। जिस जातिमें माता व पिताका जो संस्कार है वह जाति वैसी ही बनती है, अन्यथा नहीं बन सकती है। आर्य्यजातिके माता पितामें जो भाव है उसीसे आर्य्यजाति बन सकती है। आर्य्यपिताका आर्य्यत्व आदिपुरुष महर्षियोंकी ज्ञानगरिमामें और आर्य्यमाताका आर्य्यत्व एकपतिव्रताधर्मकी पूर्णतामें है। इन दोनों भावोंको तिलाञ्जलि देकर आर्य्यजाति कभी उन्नतिको प्राप्त नहीं कर सकती है। आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नति नहीं कर सकते हैं। हिन्दुस्थान यूरोप होकर उन्नति नहीं कर सकता है। आर्य्यमाताएँ सीता सावित्री होकर ही वीर पुत्र उत्पन्न कर सकती

हैं, मेम बनकर धीर पुत्र कभी नहीं उत्पन्न कर सकती हैं। उन्हें मेम बनानेका प्रयत्न करनेसे पातिव्रत्यका संस्कार बिगड़कर उनकी सत्ता नाश हो जायगी जिससे उनके गर्भसे नालायक, भीरु, चरित्रहीन, दुर्बल व नीच पुत्र उत्पन्न होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः आर्य्यजातिके मौलिकभावोंको भूलकर अर्वाचीन पुरुषोंको इस प्रकार भ्रममें नहीं पडना चाहिये और अज्ञानके मदसे संसारमें अनर्थ फैलाना नहीं चाहिये। हाय! इस बातको कहते हुए लज्जा मालूम होती है और चिन्ता करते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि जहाँकी स्त्रियाँ पतिकी मृत्यु होनेसे अपना शरीर धारण करना व्यर्थ समझकर हँसती हँसती ज्वलन्तचितामें प्राण छोडती थीं वहाँपर पतिके मरनेके बाद ब्रह्मचारिणी होकर शरीर धारण करना तो दूर रहा, कामवृत्तिके वशीभूत होकर,अन्य पुरुषके सङ्गकी इच्छा होती है और उसके लिये वेद और स्मृतियोंसे प्रमाण ढूँढे जाते हैं इससे अधिक आर्य्यजातिके घोर अ:पतनका प्रमाण और क्या होगा ?

चिकित्साशास्त्रका यह सत्य सिद्धान्त है कि जिस स्त्रीके चित्तमें गर्भवती दशामें बहुत काम हो उसके स्तनका दूध बिगड़ जाता है। उस दूधको पीकर सुपुत्र नहीं हो सकता है। गर्भावस्थामें माताके चित्तमें जो भाव रहता है उसका प्रभाव सन्तान पर कितना पड़ता है इसका वर्णन पहले ही किया गया है और उसमें पुराणादिका भी प्रमाण दिया गया है। विधवा विवाहके प्रचारसे पातिव्रत्यधर्म-का नाश होकर स्त्रियोंके चित्तमें कामाग्नि भीषणरूपसे प्रज्वलित होगी जिसका फल यह होगा कि गर्भावस्थामें भी स्त्रीसे पुरुषसंसर्ग त्याग नहीं किया जायगा और रजोधर्म उस समय न होनेसे प्राकृतिक प्रेरणा कुछ कम होनेपर भी अभ्यासज संस्कार बिगड़ जानेके कारण मानसिक कामसंकल्प तो अवश्य ही रहेगा जिसका फल यह होगा कि अनार्य्य व अयोग्य प्रजा उत्पन्न हो भारतकी सत्ता नाश करदेगी। भारतमें प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहाँ पर प्रकृतिकी अंशस्वरूपिणी

-माताओंमें भी पातिव्रत्यकी पूर्णता है और इसीलिये श्रीभगवान्के पूर्णावतार कृष्णचन्द्र, रामचन्द्र आदि भी यहाँ पर लीला करते व धर्मका उद्धार करते आये हैं; परन्तु विधवा-विवाहके प्रचारसे राम व कृष्ण लीला नष्ट होकर भारतमें भूत प्रेत पिशाचोंकी लीला होगी और पृथ्वीभरमें अमरपुर भारत, प्रेतपुर हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। केवल इतना ही नहीं विधवा-विवाहके प्रचारमें वर्णसङ्कर प्रजा घर घरमें उत्पन्न होगी क्योंकि इस प्रकार प्रचारका यह विषमय फल होगा कि स्त्रियोंका धैर्य्यगुण पूर्ण नष्ट होकर पुरुष -से अष्टगुण कामकी अग्नि बढ़ जायगी जिससे एक पुरुष उनकी कामाग्निको कदापि शान्त नहीं कर सकेगा। इस तरहसे अवश्य स्त्रियाँ परपुरुषसे अवश्य ही सम्बन्ध करेंगी जिसके कारण भारतवर्षमें वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न होगी। मनुजीने कहा है कि—

अन्नादेर्भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्य्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥

जो भ्रूणहत्या करनेवालेका अन्न खाता है उसको वह पाप स्पर्श करता है। व्यभिचारिणी स्त्रीका पाप पतिको स्पर्श करता है और शिष्य व याज्यका पाप गुरुको स्पर्श करता है एवं चोरका पाप राजाको स्पर्श करता है। अतः विधवा-विवाहके प्रचारसे संसारमें पापकी वृद्धि व उसीसे नाश होगा। द्वितीयतः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजा होनेसे पितरोंका पिण्ड-लोप होगा और जैसा कि श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है, पितरलोग अधःपतित होंगे। तर्पण आदिके लुप्त होनेसे नित्य पितरोंकी भी संवर्द्धना बन्द हो जायगी जिसका फल यह होगा कि संसारकी स्थूल उन्नति पितरोंके अधिष्ठानसे होनेके कारण उनकी संवर्द्धनाके अभावसे देशकी स्थूल उन्नतिमें हानि होगी अर्थात् देशमें दुर्भिक्ष, महामारीमय आदि सदा ही प्रबल होकर मनुष्योंकी आधिभौतिक शान्तिको भ्रष्ट कर देगा। स्वर्णप्रस-

विनी भारतमाता आज जो दुर्भिक्षके कराल ग्रासमें पतित हो रही है व चारों ओर महामारीका आर्त्तनाद दिङ्मण्डलको मुखरित कर रहा है इसमें अर्वाचीन पुरुषोंके दोषसे भारतकी नारियोंमें पातिव्रत्य की न्यूनता होना भी एक कारण है। आज चित्तौड़के दृष्टान्तको लोग भूल रहे हैं कि आर्य्यसती देश व धर्मकी रक्षाके लिये अपने हाथसे युद्ध सज्जामें सज्जित करके वीरदर्पके साथ रणाग्निमें शरीरकी आहुति देनेके लिये अपने पतिको कैसे भेज सकती है और पतिकी पवित्र मृत्युके अनन्तर अपने सतीत्व पर कोई कलङ्क न आवे इसलिये धक् धक् जलती हुई अग्निशिखामें शरीरको विसर्जन करके पतिलोक में जाकर अनन्त सुखोंका भाग किस प्रकार कर सकती है। इस महान् तत्वको पश्चिमा विद्यासे परलोक पर विश्वासहीन पशुभाव-प्रयासी अर्वाचीन लोग भूल रहे हैं; परन्तु विचार करने पर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्षमें यथार्थ गार्हस्थ्यसुख व उन्नति तभी थी जब कि भारतमें सतीत्वकी गौरवपताका चारों ओर फैली हुई थी। भारत अपने इस प्राचीन मौलिक गौरव पर ही पुनः प्रतिष्ठा लाभ कर सकता है अन्यथा भारतको अपने आदर्शसे गिरा देने पर इसकी कुछ भी उन्नति नहीं हो सकती है।

अदूरदर्शी किसी किसी मनुष्यने करुणाका पक्ष लेकर और किसी किसीने सब हिन्दुसन्तानोंकी संख्यावृद्धिका पक्ष लेकर विधवा विवाहका मण्डन करना प्रारम्भ कर दिया है। पहले मत-वालोंका यह विचार है कि विधवाएँ पति-प्रेमसे च्युत होकर बहुत ही कष्ट पाती हैं इसलिये उन्हें इस कष्टसे बचाना चाहिये सो विवाह कर देनेपर उनका यह कष्ट दूर हो जायगा। इस प्रकारका विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है क्योंकि प्रारब्ध व भविष्यत् कर्म पर संयम किये बिना ही यह विचार किया गया है। प्रकृतिके राज्य-में धर्मकी नियामिका शक्तिके द्वारा ही सब कार्य्य होता है और कोई भी कार्य्य नियमसे विरुद्ध नहीं होता है, नियमके बिना एक पत्ती

भी नहीं हिल सकती है। अतः जिस संसारमें प्रत्येक कार्य्यके साथ इतना कारण लगा हुआ है वहां स्त्री व पुरुषके सांसारिक भोगके मूलमें कोई भी कारण नहीं है ऐसा कैसे हो सकता है? योगदर्शनमें लिखा है किः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।

दृष्ट व अदृष्ट कर्म्मके मूलमें रहनेसे उनके फलरूपसे जीवको जाति, आयु व भोग मिलते हैं। कर्म्म मूलमें न रहे बिना कुछ नहीं हो सकता है। अतः स्त्रीका सधवा रहना या विधवा हो जाना दोनोंके ही मूलमें पूर्व्व कर्म्म विद्यमान हैं इसलिये विधवा विवाहके द्वारा उन कर्मों पर हस्तक्षेप न करके जिससे वैधव्य उत्पन्नकारी कर्म्म ही उत्पन्न न हों ऐसी युक्ति ही विचार व धर्म्म होगा। संसारमें सुख दुःख क्या वस्तु है और विषयबद्ध सधवा स्त्रीसे निर्विषय विधवा स्त्रीका जीवन दुःखमय है या नहीं इसका विचार आगे किया जायगा। परन्तु यदि यही मान लिया जाय कि विधवा पतिसङ्गसे च्युत होकर दुःखिता रहती है तो विवाह करा देनेसे उस दुःखकी निवृत्ति कैसे होगी? करुणा अच्छी वृत्ति होनेपर भी विचारहीन करुणा कहीं कहीं अनर्थ उत्पन्न करती है इससे सभी वृत्तियोंका प्रयोग विचारके साथ होना ही धर्म्म है। सुख दुःखके लक्षणके विषयमें गीताजीमें बताया गया है किः—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

जो वस्तु पहले सुखकर प्रतीत हो और आगे जाकर महान् दुःख देवे वही दुःखकर है और जो वस्तु पहले दुःखकर प्रतीत होने पर भी आगे जाकर अमृतके तुल्य सुख देवे वही सुखकर है।

श्रीभगवान्के आज्ञानुसार सुख दुःख का यही लक्षण है। अतः यदि विधवाका विवाह करा देनेसे उसको परलोकमें या परजन्ममें सुख प्राप्त होगा तो करुणापक्षपाती मनुष्योंकी युक्ति मानी जा सकती है; परन्तु यदि विधवाको पुनर्विवाहसे इस लोकमें थोड़ा सा तुच्छ विषयसुख मिलने पर भी इसके परिणामसे परलोक व परजन्ममें अत्यन्त दुःख की प्राप्ति होगी तो इस प्रकारका विधवा-विवाह श्रीगीताजीके सिद्धान्तानुसार दुःख ही कहा जायगा, सुख नहीं कहा जायगा। मनुजीने विधवाके पुरुषान्तर ग्रहणमें महान् परलोकदुःख लिखा है। यथाः—

> व्यभिचारात्तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
> शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

परपुरुषके संसर्गसे इहलोकमें स्त्री निन्दिता होती है और परजन्ममें शृगालयोनिको प्राप्त होती है एवं बहुत प्रकारके कुष्ठ आदि पाप रोगोंसे दुःख पाती है।

इसलिये जब विधवाका पुरुषान्तरग्रहण इहलोकमें तुच्छ कामसुखप्रद होने परभी परलोकमें भीषणदुःखप्रद है तो इसको दुःखही कहना चाहिये। अतएव करुणापक्षपाती अर्वाचीन पुरुषों की युक्ति भ्रमपूर्ण है। और भी गूढ विचार करने पर यह सिद्धान्त निकलेगा कि पुरुषान्तरग्रहणसे केवल परलोकमें पापरोगादिसे पीड़ाही नहीं होती है, अधिकन्तु इस प्रकारकी विधवाकी जन्म जन्म वैधव्ययन्त्रणा नहीं छूटती है। इसका प्रमाण भी कहीं कहीं मिलता है। सती अनसूयाने सीताके सामने पातिव्रत्यकी महिमा वर्णन करते समय ऐसाही कहा था। यह बात सत्यभी है क्योंकि प्रकृतिके राज्यमें क्रिया जैसी होती है, उसकी प्रतिक्रिया भी वैसीही होती है। यथा-वाक्संयम करनेसे परजन्ममें मनुष्य अच्छा वक्ता होता है, वृथा अर्थ (धन) बिगाड़नेसे परजन्ममें दरिद्र होता है और वृथा जलका

अपचय करनेसे परजन्ममें मरुदेशमें जन्म होता है। ये सब प्रकृति-राज्यमें क्रियाके अनुकूल प्रतिक्रियाके ही दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार प्रारब्धकर्मके फलसे जो वैधव्य प्राप्त हुआ है उसको उसी दशामें रहकर अपना व्रत पालन करते हुए समाप्त करदेना ही प्रकृतिक अनुकूल व परलोकमें कल्याणप्रद है जिस व्रतको कि पातिव्रत्य धर्म्म कहते हैं। परन्तु पूर्वकर्मानुसार प्राप्त उस प्राकृतिक दशाको तोडकर पुनर्विवाह करनेसे प्रकृति पर विरुद्ध क्रिया उत्पन्न होगी जिसकी प्रतिक्रिया भी ऐसीही होगी अर्थात् वैधव्यके तोडनेके लिये विपरीत क्रिया प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न करनेसे उसकी प्रति-क्रियामें पुन पुनः वैधव्य होगा व उसके अनन्त दुःख भोगने पडेंगे, यही विज्ञानसिद्ध सत्य है अतः इसमें सन्देह नहीं होसकता है इस कारण विधवाओं पर दया करके पुरुषान्तरग्रहण करा देना दया नहीं है, यह निर्दयता, अदूरदर्शिता, प्रकृति पर बलात्कार और इसीलिये महापाप है।

विधवा विवाहके मण्डनमें द्वितीय युक्ति यह दी जाती है कि हिन्दुजातिकी सख्या बहुत घट रही है इसलिये विधवा स्त्रियाँ खाली क्यों बैठी रहें उनसे बच्चे पैदा कराकर हिन्दुओंका सख्या बढानी चाहिये। बडेही आश्चर्य्य और खेदकी बात है कि आर्य्यजाति अपनी जातीयताके सब लक्षणोंको भूलकर केवल सख्या पर आगई है। सख्या बढना या घटना जातिका लक्षण नहीं है परन्तु जातीयताका दृढ रहनाही जातिका लक्षण है। यदि सख्या बहुत बढ जाय परन्तु जातीयता नष्ट होजाय या दुर्बल होजाय तो उससे जातिकी उन्नति कभी नहीं होसकती है और यदि सख्या घट जाय परन्तु जातीयताका बीज नष्ट नहो तो इससे जाति की उन्नति है क्योंकि उस प्रकार बीजसे पुन जाति बढ सकता है आर्य्यजाति अनेक करोडोंकी सख्यामें होजाय यह बडी अच्छी बात है परन्तु इस प्रकार सख्या बढनेमें यदि आर्य्यत्व ही नष्ट होजाय,

आर्य्य अनार्य्य होजायं तो ऐसी संख्या वृद्धिमे जातिकी अवनति ही नहीं है बल्कि नाश है, यह उन्नति नहीं है। हम असंख्य होजायँ परन्तु हमारा "हमपन" ही मरजाय तो इस प्रकार अनेक होनेसे क्या लाभ है? केवल संख्या बढानाही उन्नतिका कारण नहीं होता है। भारतवर्षमें भेड बकरोंकी संख्या अनेक है उससे भारतकी उन्नति नहीं होती है अतः यथार्थ आर्य्यपुत्र उत्पन्न होनेसे ही आर्य्य-जातिकी उन्नति होगी, अन्यथा नहीं होगी। दूसरी सीधी बात यह है कि यदि देशमें सैकडों वर्णसङ्कर खच्चर रहें तो थोडे कालके बाद खच्चरका वंश न चलनेसे देश खच्चरोंसे भी रहित होजायगा, परन्तु यदि उसी देशमें थोडेसे भी घोडोंकी रक्षा की जाय तो कालान्तरमें देश भरमें अच्छे घोडोंकी बहुतायत हो जायगी। हिन्दुस्थान यूरोप नहीं है और हिन्दुस्त्रियाँ पश्चिमदेशकी स्त्रियाँ नहीं हैं कि जैसे चाहें वैसे सन्तान उत्पन्न करके जातिकी उन्नति कर लेवें पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक जाति अपने जातिगत संस्कारोंको उन्नत करके ही उन्नत हो सकती है, अन्यथा नहीं। आर्य्यसतियोंमें जो पाति-व्रत्यका संस्कार विद्यमान है उसको नष्ट करके कोई चाहे कि केवल संख्यावृद्धि द्वारा आर्य्यजातिकी उन्नति कर लेवे तो कदापि नहीं हो सकती है। इस गूढ़ विज्ञानके रहस्यको दूरदर्शी विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं। पातिव्रत्यके पूर्ण पालनके बिना चाहे अन्य जातियोंमें और प्रकारकी उन्नति हो परन्तु आर्य्यजातिमें पातिव्रत्यके बिना सुसन्तान कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है क्योंकि यहांका संस्कार अन्यरूप होनेसे प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार होगी, अन्यथा नहीं हो सकती है। राजस्थान आदिका इतिवृत्त पढने पर पता लग सकता है कि आर्य्यनारियोंमें जब तक पातिव्रत्यका गौरव था तभी तक महाराणा प्रताप जैसे वीरपुत्र भारतमें उत्पन्न होते थे। जबसे भारतवर्षमें पातिव्रत्यका गौरव कम होने लगा है तभीसे भारतमाता "वीरजननी" होनेके सौभाग्यसे वञ्चित होने लगी है।

अपचय करनेसे परजन्ममें मरुदेशमें जन्म होता है । ये सब प्रकृतिराज्यमें क्रियाके अनुकूल प्रतिक्रियाके ही दृष्टान्त हैं । इसी प्रकार प्रारब्धकर्मके फलसे जो वैधव्य प्राप्त हुआ है उसको उसी दशामें रहकर अपना व्रत पालन करते हुए समाप्त करदेना ही प्रकृतिके अनुकूल व परलोकमें कल्याणप्रद है जिस व्रतको कि पातिव्रत्य धर्म कहते हैं । परन्तु पूर्वकर्मानुसार प्राप्त उस प्राकृतिक दशाको तोड़कर पुनर्विवाह करनेसे प्रकृति पर विरुद्ध क्रिया उत्पन्न होगी जिसकी प्रतिक्रिया भी ऐसीही होगी अर्थात् वैधव्यके तोड़नेके लिये विपरीत क्रिया प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न करनेसे उसकी प्रतिक्रियामें पुनः पुनः वैधव्य होगा व उसके अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे, यही विज्ञानसिद्ध सत्य है अतः इसमें सन्देह नहीं होसकता है इस कारण विधवाओं पर दया करके पुरुषान्तरग्रहण करा देना दया नहीं है, वह निर्दयता, अदूरदर्शिता, प्रकृति पर बलात्कार और इसीलिये महापाप है ।

विधवा विवाहके मण्डनमें द्वितीय युक्ति यह दी जाती है कि हिन्दुजातिकी सख्या बहुत घट रही है इसलिये विधवा स्त्रियाँ खाली क्यों बैठी रहें उनसे बच्चे पैदा कराकर हिन्दुओंकी सख्या बढानी चाहिये । बडेही आश्चर्य्य और खेदकी बात है कि आर्य्यजाति अपनी जातीयताके सब लक्षणोंको भूलकर केवल सख्या पर आगई है । सख्या बढना या घटना जातिका लक्षण नहीं है परन्तु जातीयताका दृढ रहनाही जातिका लक्षण है । यदि सख्या बहुत बढ़ जाय परन्तु जातीयता नष्ट होजाय या दुर्बल होजाय तो उससे जातिकी उन्नति कभी नहीं होसकती है और यदि सख्या घट जाय परन्तु जातीयताका बीज नष्ट नहो तो इससे जाति की उन्नति है क्योंकि उस प्रकार बीजसे पुनः जाति बढ़ सकती है आर्य्यजाति अनेक करोड़ोंकी सख्यामें होजाय यह बडी अच्छी बात है परन्तु इस प्रकार संख्या बढनेमें यदि आर्य्यत्व ही नष्ट होजाय,

आर्य्य अनार्य्य होजायं तो ऐसी संख्या वृद्धिसे जातिकी अवनति ही नहीं है बल्कि नाश है, यह उन्नति नहीं है। हम असंख्य होजायें परन्तु हमारा "हमपन" ही मरजाय तो इस प्रकार अनेक होनेसे क्या लाभ है? केवल संख्या बढानाही उन्नतिका कारण नहीं होता है। भारतवर्षमें भेड़ बकरोंकी संख्या अनेक है उससे भारतकी उन्नति नहीं होती है अतः यथार्थ आर्य्यपुत्र उत्पन्न होनेसे ही आर्य्य जातिकी उन्नति होगी, अन्यथा नहीं होगी। दूसरी सीधी बात यह है कि यदि देशमें सैकड़ों वर्णसङ्कर खच्चर रहें तो थोड़े कालके बाद खच्चरका वंश न चलनेसे देश खच्चरोंसे भी रहित होजायगा, परन्तु यदि उसी देशमें थोड़ेसे भी घोड़ोंकी रक्षा की जाय तो कालान्तरमें देश भरमें अच्छे घोड़ोंका बहुतायत हो जायगी। हिन्दुस्थान यूरोप नहीं है और हिन्दुस्त्रियाँ पश्चिमदेशकी स्त्रियाँ नहीं हैं कि जैसे चाहें वैसे सन्तान उत्पन्न करके जातिकी उन्नति कर लेवें पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक जाति अपने जातिगत संस्कारोंको उन्नत करके ही उन्नत हो सकती है, अन्यथा नहीं। आर्य्यसतियोंमें जो पातिव्रत्यका संस्कार विद्यमान है उसको नष्ट करके कोई चाहे कि केवल संख्यावृद्धि द्वारा आर्य्यजातिकी उन्नति कर लेवे तो कदापि नहीं हो सकती है। इस गूढ़ विज्ञानके रहस्यको दूरदर्शी विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं। पातिव्रत्यके पूर्ण पालनके बिना चाहे अन्य जातियोंमें और प्रकारकी उन्नति हो परन्तु आर्य्यजातिमें पातिव्रत्यके बिना सुसन्तान कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है क्योंकि यहांका संस्कार अन्यरूप होनेसे प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार होगी, अन्यथा नहीं हो सकती है। राजस्थान आदिका इतिहास पढने पर पता लग सकता है कि आर्य्यनारियोंमें जब तक पातिव्रत्यका गौरव था तभी तक महाराणा प्रताप जैसे वीरपुत्र भारतमें उत्पन्न होते थे। जबसे भारतवर्षमें पातिव्रत्यका गौरव कम होने लगा है तभीसे भारतमाता "वीरजननी" होनेके सौभाग्यसे वञ्चित होने लगी है।

अपचय करनेसे परजन्ममें मरुदेशमें जन्म होता है। ये सब प्रकृति-राज्यमें क्रियाके अनुकूल प्रतिक्रियाके ही दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार प्रारब्धकर्मके फलसे जो वैधव्य प्राप्त हुआ है उसको उसी दशामें रहकर अपना व्रत पालन करते हुए समाप्त करदेना ही प्रकृतिके अनुकूल व परलोकमें कल्याणप्रद है जिस व्रतको कि पातिव्रत्य धर्म कहते हैं। परन्तु पूर्वकर्मानुसार प्राप्त उस प्राकृतिक दशाको तोडकर पुनर्विवाह करनेसे प्रकृति पर विरुद्ध क्रिया उत्पन्न होगी जिसकी प्रतिक्रिया भी ऐसीही होगी अर्थात् वैधव्यके तोडनेके लिये विपरीत क्रिया प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न करनेसे उसकी प्रतिक्रियामें पुन: पुनः वैधव्य होगा व उसके अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे, यही विज्ञानसिद्ध सत्य है अतः इसमें सन्देह नहीं होसकता है इस कारण विधवाओं पर दया करके पुरुषान्तरग्रहण करा देना दया नहीं है वह निर्दयता, अदूरदर्शिता, प्रकृति पर बलात्कार और इसीलिये महापाप है।

विधवा विवाहके मण्डनमें द्वितीय युक्ति यह दी जाती है कि हिन्दुजातिकी संख्या बहुत घट रही है इसलिये विधवा स्त्रियाँ खाली क्यों बैठी रहें उनसे बच्चे पैदा कराकर हिन्दुओंकी संख्या बढानी चाहिये। बड़ेही आश्चर्य्य और खेदकी बात है कि आर्य्यजाति अपनी जातीयताके सब लक्षणोंको भूलकर केवल संख्या पर आगई है। संख्या बढ़ना या घटना जातिका लक्षण नहीं है, परन्तु जातीयताका दृढ रहनाही जातिका लक्षण है। यदि संख्या बहुत बढ जाय परन्तु जातीयता नष्ट होजाय या दुर्बल होजाय तो उससे जातिकी उन्नति कभी नहीं होसकती है और यदि संख्या घट जाय परन्तु जातीयताका बीज नष्ट नहो तो इससे जातिकी उन्नति है क्योंकि उस प्रकार बीजसे पुनः जाति बढ़ सकती है आर्य्यजाति अनेक करोड़ोंकी संख्यामें होजाय यह बडी अच्छी बात है परन्तु इस प्रकार संख्या बढनेमें यदि आर्य्यत्व ही नष्ट होजाय,

आर्य्य अनार्य्य होजायं तो ऐसी संख्या वृद्धिसे जातिकी अवनति ही नहीं है बल्कि नाश है, यह उन्नति नहीं है। हम असंख्य होजायँ परन्तु हमारा "हमपन" ही मरजाय तो इस प्रकार अनेक होनेसे क्या लाभ है? केवल संख्या बढ़ानाही उन्नतिका कारण नहीं होता है। भारतवर्षमें भेड़ बकरोंकी संख्या अनेक है उससे भारतकी उन्नति नहीं होती है अतः यथार्थ आर्य्यपुत्र उत्पन्न होनेसे ही आर्य्य-जातिकी उन्नति होगी, अन्यथा नहीं होगी। दूसरी सीधी बात यह है कि यदि देशमें सेकड़ों वर्णसङ्कर खच्चर रहें तो थोड़े कालके बाद खच्चरका वंश न चलनेमें देश गच्चरोंसे भी रहित होजायगा, परन्तु यदि उसी देशमें थोड़ेसे भी घोड़ोंका रक्षा की जाय तो कालान्तरमें देश भरमें अच्छे घोड़ोंका बहुतायत हो जायगी। हिन्दुस्थान यूरोप नहीं है और हिन्दुस्त्रियाँ पश्चिमदेशकी स्त्रियाँ नहीं हैं कि जैसे चाहें वैसे सन्तान उत्पन्न करके जातिकी उन्नति कर लेवें पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक जाति अपने जातिगत संस्कारोंको उन्नत करके ही उन्नत हो सकती है, अन्यथा नहीं। आर्य्यसतियोंमें जो पाति-व्रत्यका संस्कार विद्यमान है उसको नष्ट करके कोई चाहे कि केवल संख्यावृद्धि द्वारा आर्य्यजातिकी उन्नति कर लेवे तो कदापि नहीं हो सकती है। इस गूढ़ विज्ञानके रहस्यको दूरदर्शी विचारवान् पुरुष सोच सकते हैं। पातिव्रत्यके पूर्ण पालनके बिना चाहे अन्य जातियोंमें और प्रकारकी उन्नति हो परन्तु आर्य्यजातिमें पातिव्रत्यके बिना सुसन्तान कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है क्योंकि यहांका संस्कार अन्यरूप होनेसे प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार होगी, अन्यथा नहीं हो सकती है। राजस्थान आदिका इतिवृत्त पढ़ने पर पता लग सकता है कि आर्य्यनारियोंमें जब तक पातिव्रत्यका गौरव था तभी तक महाराणा प्रताप जैसे वीरपुत्र भारतमें उत्पन्न होते थे। जबसे भारतवर्षमें पातिव्रत्यका गौरव कम होने लगा है तभीसे भारतमाता "वीरजननी" होनेके सौभाग्यसे वञ्चित होने लगी है।

एक सिंह हमारी भेड़ोंको "हुङ्कार" से मार सकता है, परन्तु लाखों भेड़ अवश होकर केवल प्रकृतिका अन्न-ध्वंसमात्र करते हैं। आर्य्यमाताओंका सतीत्व नाश करके विधवा विवाहके द्वारा संख्या-वृद्धि करनेसे भारत ऐसे भेड़ोंसे ही भर जायगा, पुरुष सिंह उत्पन्न नहीं होंगे। अतः इस प्रकारकी संख्यावृद्धिसे हिन्दुजातिकी उन्नति कभी नहीं हो सकती है। अल्पबुद्धि मनुष्य भी इस बातको समझ सकते हैं कि यदि मनुष्यसंख्यावृद्धि ही मनुष्यजातिकी उन्नतिका कारण हो सकता तो तितिंत्तियोंके सदृश असंख्य भारतवासी होने पर भी राज्य शासनके लिये उनको आज विदेशीय जातिका मुंह ताकना नहीं पड़ता। द्वितीयतः प्रकृतिके किसी अङ्ग पर आघात करके दूसरे अङ्गकी उन्नति कभी नहीं हो सकती है क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल चलनेसे ही धर्म होता है, प्रकृतिप्रवाह या प्राकृतिक नियमों पर धक्का देनेसे धर्म नहीं होता है, पाप होता है। स्त्रीजातिकी उन्नति व मुक्ति जब एकपतिव्रतके द्वारा ही हो सकती है, बहुपुरुषसम्बन्धसे नहीं हो सकती है तो इस प्राकृतिक नियम पर धक्का देकर विधवा विवाहको आज्ञा प्रचार करनेसे इसकी प्रतिक्रिया समस्त हिन्दुजाति पर पड़ेगी जिससे समष्टिभूत पाप उत्पन्न होकर हिन्दुजातिको नष्ट कर देगा। हमारा क्या अधिकार है कि अपनी संख्या बढ़ानेके लिये स्त्रीजातिको इह-लोकमें निन्दनीय, परलोकमें दुर्दशाग्रस्त व पुनःपुनः वैधव्यदशासे ग्रसित करावें? विचारवान् लोग इस बात पर विचार करें। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये अन्यको दुःखभागी करना क्या पाप नहीं है? क्या इस प्रकारके पापसे हिन्दुजाति रसातलको नहीं जायगी? हम ज्ञानी व Enlightened बननेका दम्भ रखते हैं और एक स्त्रीकी सद्गतिका उपाय तक हमसे नहीं किया जा सकता है इससे बढ़कर हमारे लिये लज्जाकी बात और क्या हो सकती है? जो लोग, विधवा बहुत बढ़ गई हैं इसलिये विधवा-विवाह कराकर उस

संख्याको घटाना चाहते हैं वे भी भ्रान्त हैं क्योंकि इस प्रकार विवाह-से विधवाओंकी संख्या कम न होकर उलटा जन्म जन्म विधवा होनेका उपाय हो जायगा और संसारमें अनाचार, व्यभिचार, दुःख, दारिद्र्य, रोग, शोक, सभी बढ़ जायँगे। इन्हीं सब कारणोंसे मनु-जीने कहा है किः—

> अपत्यलोभाद्या हि स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते।
> सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
> नाऽन्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चाऽप्यन्यपरिग्रहे।
> न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते ॥

पुत्रके लोभसे जो स्त्री परपुरुषसम्बन्ध करती है वह इहलोकमें निन्दनीया व पतिलोकसे च्युत होती है। पतिके सिवाय अन्य पुरुष-से उत्पन्न पुत्रके द्वारा स्त्रियोंका कोई कार्य्य नहीं हो सकता है अथवा सहधर्मिणीके सिवाय अन्य स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान द्वारा पुरुषका भी कोई कार्य्य नहीं होता है और किसी शास्त्रमें भी सती स्त्रीके लिये द्वितीय पतिकी आज्ञा नहीं दी गई है। अतः संख्यावृद्धिके लिये विधवा-विवाह करना सर्वथा शास्त्र व युक्तिसे विरुद्ध है। संख्या-वृद्धि माताओंको सच्ची पतिव्रता बनाकर और स्वयं ब्रह्मचारी व चरित्रवान् बनकर करना ठीक है। उसीसे भारतकी यथार्थ उन्नति होगी और आर्य्यभावकी प्रतिष्ठाके साथ साथ हिन्दुजातिकी संख्या व जातीयता बढ़ेगी।

विधवा विवाह-मण्डनके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंकी तीसरी युक्ति यह है कि विधवा स्त्रियाँ सब व्यभिचारिणी होकर भ्रूणहत्या करेंगी इसलिये विवाह करादेना ही अच्छा है। यह भी युक्ति अदूरदर्शिता व भ्रमसे पूर्ण है। अर्वाचीन पुरुषोंको यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि आदर्श उच्च होने पर तब जाति उन्नत हो सकती है। छोटे आदर्शवाली जाति बड़ी नहीं हो सकती है। जो जाति

पहलेहीसे अपनी स्त्रियोंको व्यभिचारिणी व भ्रूणहत्या करनेवाली समझती है और इसी कल्पनाको ही आदर्श बनाकर उसके अनुसार धर्मकी व्यवस्था करने लगती है वह जाति कभी उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकती है इसलिये चाहे आदर्शकी पूर्ण सीमा पर पहुँच न सकें तथापि आदर्श सदाही ऊँचा रहना चाहिये। हमारी स्त्रियाँ विधवा होतेही भ्रूणहत्या करने लग जायँगी अतः, उनको इससे बचानेके लिये सिवाय विवाह करादेनेके और कोई भी उपाय नहीं है ऐसी चिन्ता ठीक नहीं है, अधिकन्तु लज्जाजनक है। बल्कि जिससे विधवाका जीवन आदर्शसतीत्वमय हो उसीके लिये उद्योग करना चाहिये।

पहले ही कहा गया है कि स्त्रीजातिमें अविद्याका अंश होनेके कारण पुरुषसे अष्टगुण अधिक काम होनेपर भी विद्याके अंशसे लज्जा व धैर्य्य बहुत कुछ है अतः विधवाका जीवन इस प्रकार बना देना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्याका अंश नष्ट हो जाय और विद्याका अंश पूर्ण प्रकट हो जाय। आजकल जो विधवाएँ बिगड़ती हैं, उनमें शिक्षा व उनके साथ ठीक ठीक बर्तावका अभाव ही कारण है। विधवा होनेके दिनसे ही गृहस्थ लोक उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते हैं कि संसारमें उनके सदृश दुःखी व हतभाग्य और कोई भी नहीं है। ऐसा करना सर्व्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचारके विरुद्ध ही नहीं है किन्तु शास्त्रके भी विरुद्ध है। आर्य्यशास्त्रोंमें भोगसे त्यागकी महिमा अधिक कही गई है। महाभारतमें लिखा है कि:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोगसुख ये दोनों ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुखके सोलह भागोंमेंसे एक भाग भी नहीं हो सकते हैं। श्रीभगवानने गीताजीमें कहा है कि:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

विषयोंके साथ इंद्रियोंका सम्बन्ध होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखको उत्पन्न करनेवाला होनेसे दुःखरूपही है और इस प्रकारके सुख आदि अन्तसे युक्त व नश्वर हैं। इसलिये विचारवान् पुरुष विषय सुखमें मस्त नहीं होते हैं। संसारमें वही सच्चा सुखी व योगी है जिसने आजन्म काम व क्रोधके वेगको धारण किया है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी परिणाम और ताप आदि दुःख होनेसे विषय सुखको दुःखमय और निवृत्तिको सुखशान्तिमय कहा है। विधवाका जीवन संन्यासीका जीवन है। इसमें निवृत्तिकी शान्ति व त्यागका विमल आनन्द है, फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है? क्या त्याग करना हतभाग्य बननेका लक्षण है? संन्यासी गृहस्थोंके गुरु व आनन्दपदधारी क्यों होते हैं? जब तक गृहस्थमें रहते हैं तबतक तो आनन्दपदधारी नहीं होते हैं, फिर संन्यासमें क्या हुआ कि आनन्दी हो गये? सोचनेसे पता लगेगा कि निवृत्तिमें ही आनन्द है प्रवृत्तिमें नहीं है, त्यागमें ही आनन्द है भोग में नहीं है और वासनाके क्षयमें ही आनन्द है वासनाके अधीन बननेमें नहीं है। गृहस्थ विषयी होनेसे दुःखी हैं और संन्यासी विषय त्याग करनेसे सुखी हैं। जब यही अवस्था विधवाकी है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तवमें उत्तम भाग्यवती है सो विचारशील पुरुष सोच सकेंगे। विधवाका पुरुषके साथ कामभोग छूटगया है इसलिये विधवा दुःखिनी होगई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है। क्या कामके द्वारा किसीको सुख भी होता है? आज तक किसीको कामके द्वारा सुख मिला था? या किसी शास्त्रमें

ऐसा लिखा भी है ? गीताजीमें कामको नरकका द्वार कहा है, आनन्दका द्वार नहीं कहा है। काम चित्तका एक उन्मादमात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फँस जाया करता है; परन्तु फँस जाकर सुख प्रतीति होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख नहीं प्राप्त होता है इसको विषयबद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति होजाय; परन्तु पूर्वजन्मका संस्कार अन्य होनेसे वासना छूटती नहीं है इसलिये विषयोंमें मत्त रहते हैं; अपि च चित्त दुर्बल होनेके कारण विषयोंमें मत्त होनेमें ही विषय सुखकर होजायँगे यह बात कोई नहीं कहेगा, बल्कि विषय छूट जाने पर ही सच्चा सुख होगा यही बात सब लोग कहेंगे। जब विधवाको विषयोंके त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द प्राप्त करनेका मौका मिला है तो विधवा दुःखिनी नहीं है सुखिनी है, हतभागिनी नहीं है परंतु उत्तम भाग्यवती है और गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे अधम नहीं है परन्तु उनकी गुरु व पूज्या है क्योंकि संन्यासी गृहस्थोंके गुरु व पूज्य होते हैं। 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन; ये पशु भी करते हैं, इसमें मनुष्यकी विशेषता क्या है ? लाखों जन्मसे यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थमें रहकर बालबच्चे पैदा करती तो उन्हीं लाखों जन्मके किये हुए कामोंको और एक बार करती; परन्तु इसमें क्या धरा है ? इस लिये अनन्त जन्म तक संसारका दुःख भोगने पर भी विषयमदोन्मत्त जीवको जो भगवान्‌का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता है और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्रमें घटीयंत्रवत् घूम रहे हैं; उसी चरणकमलमें यदि भगवान्‌ने विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्तिसेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका मौका दिया है तो इससे अधिक उन्नतिकी बात और क्या हो सकती है ?

जब गृहस्थमें कोई स्त्री विधवा होजाय तो वहांके सब लोगोंका प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाओंको उनकी अवस्थाका

गौरव समझा देवें, उनपर श्रद्धाके साथ पूज्यबुद्धिका बर्ताव करें, उनके पास गृहस्थाश्रमके अनंन दुःख और विषयसुखकी परिणाम-दुःखताका वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होनेके कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति व कितना सौभाग्य प्राप्त हो सकता है इसका ध्यान दिलावें एवं उनके भाग्यकी अपूर्वता व संसारबंधन मोचनका मौका जो कि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ स्त्रियों को न जाने कितने जन्ममें जाकर मिलेगा सो उनको इसी जन्ममें मिलगया है अतः वे धन्य हैं व पूज्य हैं इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें जमादेवें। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख नहीं होगा, अधिकन्तु सुखही होगा, भोग न मिलनेसे दुःख नहीं होगा, संन्यासीकी तरह त्यागी बननेमें गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर व देहपीडन मालूम नहीं होंगे परन्तु संयम व अनंत आनंदके सहायक मालूम होंगे। यही वैधव्य-दशामें पातिव्रत्य रखनेका व अविद्याभावको दूर करके विद्याभावके बढानेका प्रथम उपाय है। ससारमें सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशामें चित्तके भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार सुख दुःखकी प्रतीति होती है। एक ही वस्तु एक भावमें देखनेसे सुख देनेवाली और दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारीके लिये कामिनी, काञ्चन आदि जो सुख है, संन्यासीके लिये वही दुःख है अतः संन्यासीके लिये जो सुख है, गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखने पर सांसारिक भोगकी वस्तुओंमें सुख प्रतीत होने लगता है; परन्तु वे ही सब वस्तुएँ निवृत्तिकी दृष्टिसे देखेजाने पर दुःखदायी मालूम होने लगती हैं इसलिये विधवाओंके भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे सांसारिक सभी वस्तुओंको निवृत्तिकी दृष्टिसे अकिञ्चित्कर व दुःख-परिणामी देखें। यही वैधव्यदशामें पातिव्रत्यपालनका द्वितीय उपाय है। विधवाकी हृदयकन्दरामें निहित पवित्र प्रेमधाराको हृदयमें,

ही पक्ष रखकर सड़जाने देना नहीं चाहिये, किंतु संन्यासीकी तरह उसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमें जितने बालबच्चे हैं सबकी माता मानो विधवा ही है इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदयमें निस्वार्थ प्रेम व परोपकारप्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्यदशामें पातिव्रत्यरक्षाका तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज व सबसे कठिन है; वह यह है कि पितृकुलमें यदि विधवा रहे तो उनके माता पिता और श्वशुरकुलमें यदि विधवा रहे तो उसके सास व श्वशुर जिस दिनसे घरमें स्त्री विधवा हो उसी दिनसे विलासक्रिया छोड़ देवें। ऐसा होनेसे घर की विधवा कभी नहीं बिगड़ सकती है। उसके सामनेका ज्वलन्त आदर्श उसके चित्तको कभी मलिन होने नहीं देता है। इसका पञ्चम उपाय यह है कि जिस घरमें कोई विधवा हो वहांके सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानतासे विषयसम्बन्ध करें जिसका कुछ भी पता विधवाका न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियाँ आचारवती होवें। खानपान आदिके विषयमें सावधान रहें। विधवाको श्वेत वस्त्र पहनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये क्योंकि रङ्गीन वस्त्र और धातुका अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवाके ब्रह्मचर्य्यव्रतमें हानि पहुँचा सकता है इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत हैं। उनको निर्लज्जा होकर इधर उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिसके तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना या इस प्रकारकी तसवीर या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवाके खान पानकी व्यवस्था परिवारके स्वामी ही करें, अन्य कोई न करे। जिस प्रकार देवताके नाम पर आयी हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाता उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको कोई ग्रहण न करे। रातको एक दो शिशुके साथ विधवाको शयन करना चाहिये। विधवाको किसी बातकी

आज्ञा करनी हो तो श्वशुर सास वा पिता माता स्वयं ही करें, वधू कन्या आदिके द्वारा कभी न करावें। उनको गृहकार्य्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी व उन पर कृपा करनेवाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये, उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओंकी अपेक्षा विधवाके व्रतोद्यापनमें अधिक व्यय व आडम्बर रहना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बाल-विवाह और वृद्ध विवाह उठा देना चाहिये। पूर्व्वकथनानुसार बालिकापनमें विवाह न कराकर रजस्वलासे पहले ही करादेना चाहिये। पुत्र होने पर भी अन्य कारणोंसे वृद्धावस्थामें विवाह नहीं करना चाहिये। इसका अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य व संन्यासाश्रममें पुरुषके लिये शारीरिक, वाचनिक व मानसिक जितने तपोंका विधान किया गया है और सात्त्विकभोजन, मनसंयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबोंका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवा के लिये होना चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धीय ग्रन्थोंका पठन व मनन, पातिव्रत्यमहिमाविषयक ग्रन्थोंका विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों व उपदेशोंका श्रवण व मनन होना चाहिये। गृहस्थदशामें पतिदेवताकी साकार मूर्त्तिकी उपासना थी। अब सन्यासकी तरह वैधव्यदशामें उनके निराकारस्वरूपकी उपासनाका अधिकार प्राप्त हुआ है जिसमें उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषय सुखमें मत्त गृहस्थ नर नारियोंकी अवस्थासे उन्नत व गौरवान्वित है, सदा ही उनके चित्तमें यह भाव विराजमान कराना चाहिये, जिस परमपति भगवान्की कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधन दशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमलमें भक्तिके साथ नित्य बारबार प्रणाम व उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये। इन सब उपायोंको अवलम्बन करनेसे घरमें विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बा-

रूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्याप्रकृति लय होकर विद्याप्रकृतिका पूर्ण प्रकाश हो जाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोगवासना आनन्दके साथ त्याग कर देती है, विषयका नाम लेनेसे उसको घृणा आती है, गृहकार्य्यमें परमनिपुणा होती है, अतिथिसत्कार अभ्यागत कुटुम्ब व आत्मीयजनोंकी सम्वर्द्धना आदि कार्य्य परम प्रेमके साथ करने लगती है, सबल नीरोग व तेजस्विनी हो जाती है, ईर्ष्या आदि दोषोंको त्याग करके सधवा स्त्रियोंके प्रति दयावती और गृहस्थके सन्तानोंके प्रति मातृवत्स्नेहशीला होती है। जिस संसारमें इस प्रकारकी विधवा विद्यमान है वहाँ एक प्रत्यक्ष देवीमूर्त्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहां पर सभी लोग सुचिरत्रिके द्रष्टा व फलभोक्ता हैं और जहाँ इस प्रकार दृष्टि, भाव व फलभोग है वहाँ पहले कहे हुए अदूरदर्शी व्यक्तियोंको पाप व भ्रूणहत्याकी शङ्का व कल्पना कभी नहीं आ सकती है। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थ उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्शकी ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती है। अपने जातिगत मौलिक आदर्शको त्यागकरके अन्यदेशके आदर्श ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे संस्कारविरुद्ध होनेके कारण "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा और आर्य्यजाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः आजकलके सभी नेताओंको इन सब नारीधर्म सम्बन्धीय विधानोंका रहस्य समझ कर यथार्थ उन्नतिके पुरुषार्थमें संनद्ध होना चाहिये।

अन्तमें एक दो विषय और भी विचार करने योग्य हैं। ऊपर लिखित नियमोंके अनुसार विधवाओंकी रक्षा व शिक्षा होनेसे वैधव्यदशामें पातिव्रत्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यदि प्रारब्ध मन्द होनेके कारण इतनी शिक्षा देने पर भी कोई विधवा अपने धर्मको पालन न कर सके

और अजस्र व्यभिचार द्वारा कुलमें कलङ्क आरोपण करने लग जाय तो उस दशामें केवल असच्छूद्रजातियोंके लिये यही करना होगा कि अनेक पुरुषोंका सङ्ग व अजस्र व्यभिचारको घटानेके लिये एक पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध कराकर उसे जातिसे अलग कर देना होगा और इस प्रकारसे कालान्तरमें एक पृथक् जाति भी बन सकती है। इस प्रकारसे पुरुषसम्बन्ध करा देना आदर्श धर्म्म नहीं होगा या विवाह नहीं कहलावेगा; परन्तु अनेक पुरुषसङ्ग द्वारा अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये एकपुरुष-संग्रहणमात्र कहलावेगा। पहले ही मनुजीकी आज्ञा बताई गई है कि वेदमें विधवा-विवाहके लिये कोई मन्त्र नहीं है अतः इस प्रकार पुरुषान्तरग्रहण विवाह नहीं कहला सकता। और ऐसी पतिता स्त्रीको घरमें सती स्त्रियोंके साथ कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसा होनेसे कुसङ्गके कारण सतियाँ भी बिगड़ जायँगी, कमसे कम उनके चित्तसे पातिव्रत्यकी गंभीरता कम हो जायगी, कुलमें कलङ्क लगेगा, संसार नरक होजायगा इत्यादि अनेक दोषोंके कारण इस प्रकार निन्दनीया व हतभागिनी स्त्रीको घरसे अलग कर देना ही ठीक होगा। इस प्रकार सती व असती स्त्रियोंमें भेद रखनेपर सती स्त्रियोंपर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वे मनसे भी सती-धर्म्मसे च्युत नहीं होंगी और विधवा होनेपर भी व्यभिचार करने-की इच्छा नहीं करेंगी, कमसे कम शरीरको तो पवित्र रक्खेंगी; अर्थात् पूर्वकथित चार श्रेणीकी सतियोंमेंसे अधम सती तो बनी ही रहेंगी। इस प्रकारसे व्यभिचारिणी स्त्रीके लिये अन्यपुरुष-सम्बन्धके विषयमें महर्षि पराशरका वचन मिलता है। यथाः—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

पतिका निरुद्देश होना, मर जाना, संन्यासी होजाना, क्लीब या पतित होजाना इन पांच प्रकारकी आपत्तियोंमें स्त्री अन्य पति

ग्रहण कर सकती है। पराशरसंहिताके जिस प्रसङ्गमें यह श्लोक लिखा गया है उसके देखनेसे ही विदित होगा कि इस प्रकारकी विपत्तिमें अन्य पुरुषग्रहण केवल अजस्र व्यभिचारके निषेधके लिये ही है क्योंकि इसी श्लोकको लिखकर ही महर्षि पराशरजीने इसके आगे तीन श्लोकोंके द्वारा पातिव्रत्यकी अनुपम महिमाका कीर्तन किया है। यथा—पतिवियोगके अनन्तर जो स्त्री ब्रह्मचारिणी रहती है उसको स्वर्गवास होता है, जो पतिका अनुगमन करती है वह अनन्तकालतक पतिलोकमें वास करती है और यदि पति पतित भी होता है तो भी अपने पातिव्रत्यके बलसे उसको ऊपर उठा लेती है इत्यादि। अतः जहाँ पर पातिव्रत्यका इतना गौरव बताया गया हो वहां पर पाँच विपत्ति आनेसे ही सती स्त्री अपने पातिव्रत्य को तिलाञ्जलि देकर अन्य पुरुषसे सम्बन्ध कर लेगी ऐसा मत पराशरजी कभी नहीं दे सकते। इसलिये यह श्लोक अति अधम पक्षमें व्यभिचारिणी हतभागिनी स्त्रीके लिये ही पराशरजीने बताया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि इस श्लोकके प्रत्येक शब्द व भाव पर विचार करनेसे भी यही अर्थ विदित होगा। इस श्लोकमें जो पांच घटनाएँ आपत् करके वर्णन की गई हैं वे सब सतीके लिये कभी आपत् हो ही नहीं सकती हैं, व्यभिचारिणीके लिये भले ही आपत् हो जायं। जो सती हँसती हँसती पतिके साथ सहमरणमें जा सकती है और जो सती अपने हृदयमन्दिरमें पतिके निराकार-स्वरूपको धारण करके चतुर्दशलोकोंमेंसे जहाँ कहीं पति हो वहाँ ही तारहीन टेलिग्रामकी तरह पतिकी आत्माके साथ मानसिक सम्बन्ध कर सकती है उसके लिये पतिका निरुद्देश होना या मर जाना कोई आपत् नहीं है। और तृतीय आपत्के विषयमें कहा ही क्या जाय, यदि पतिके संन्यासी होने पर स्त्रीको आपत् मालूम हो तो उसके ऐसी नालायक और पापिनी स्त्री और कौन होगी? पति निवृत्तिमार्गमें जाकर आत्माराम होगये, जितेन्द्रिय होकर

संसारको छोड़ दिया और उनकी प्यारी स्त्री अपने चित्तमें पतिकी इस आध्यात्मिक उन्नतिको आपत् मानकर अन्य पुरुषसे लग गई तो इससे अधिक पाशविक व लज्जाजनक बात और क्या हो सकती है ? इसलिये व्यभिचारिणी स्त्रीके लिये ही पतिका सन्यासी हो जाना आपत् हो सकता है, सतीके लिये कदापि आपत् नहीं हो सकती है। उसके लिये पतिको ऐसी उन्नति होगी तो परम आनन्द और सौभाग्यकी बात है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। इसी तरह पतिका किसी रोग या और प्रकारसे नपुंसक हो जाना या पतित हो जाना भी व्यभिचारिणी स्त्रीके लिये ही आपद्रूप हो सकता है, सतीके लिये नहीं। सतीधर्म तपोमूलक व संयममूलक है, विषयभोगमूलक नहीं है और सतीमें जब इतनी शक्ति है कि पतित पतिका भी उद्धार करके स्वर्गमें लेजा सकती है तो उसके लिये पतिका क्लीव या पतित हो जाना कभी आपद्रूप नहीं हो सकता है अतः पराशरजीका ऐसा कहना केवल व्यभिचारिणी विधवाको अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये ही है जिसको अर्वाचीन लोग न समझकर मिथ्या अर्थ करके अनर्थ उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार वेदमें भी कई प्रकारके मन्त्र मिलते हैं जिनके अर्थ भी और प्रकारके हैं, उनमेंसे कोई भी विधवा-विवाह समर्थक नहीं है क्योंकि वेदमें विधवा विवाहके लिये मन्त्र ही नहीं है ऐसा मनुजीने बताया है। अर्वाचीन लोग उसका उल्टा अर्थ करते हैं। यहांपर बाहुल्य-भयसे वे सब मन्त्र नहीं दिये गये हैं, परन्तु सुद्धान्त करणसे उन मन्त्रोंपर विचार करनेसे और ही तत्त्व निकलेगा जिससे सतीधर्मका गौरव स्थापित होगा। पराशरजीके उक्त श्लोकका अर्थ "पतौ" शब्दका प्रयोग होनेसे कोई कोई वाग्दत्तापर भी लगाते हैं परन्तु मनुजने वाग्दत्ता कन्याका भी विवाह उत्तम कोटिका नहीं माना है और सन्तानके अर्थ देवरके साथ वाग्दत्ताका सम्बन्ध विधिमात्र बतानेपर भी विवाहविधि नहीं बताई है।

उक्त प्रकारके अक्षतयोनि विधवाके विषयमें जहाँ कहीं पुरुषान्तरग्रहणकी विधि देखनेमें आवे वह भी ऐसी ही दुष्ट-लक्षणयुक्ता स्त्रीके विषयमें समझना चाहिये क्योंकि यदि किसी अक्षतयोनि विधवाकी प्रकृति, इङ्गित व और और लक्षण इस प्रकारके देखनेमें आवें कि वह क्षतयोनि होकर निश्चय ही घोर व्यभिचारिणी बन जायगी और कुलमें कलङ्क आरोपण तथा संसारको भ्रष्ट करेगी तो ऐसी अक्षतयोनि विधवाको भावी अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये किसी एक पुरुषसे संबंध कराकर जातिसे अलग कर देना ही अन्तिम उपाय होगा। परन्तु स्मरण रहे कि यह कोई आदर्श धर्म या विवाह नहीं है, केवल भावी अधिक व्यभिचारसे बचाने की युक्तिमात्र है। मनुजीने अपनी संहिताके नवम अध्यायमें वैदिक विवाहसंस्कारके अतिरिक्त ऐसा ही एक पुनर्भूसंस्कार लिखा है। यथाः—

> या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
> उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
> सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा ।
> पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

दोषी होनेसे पतिने त्याग कर दिया है अथवा विधवा हो गई है ऐसी स्त्री अपनी इच्छासे किसीकी स्त्री बनकर अर्थात् व्यभिचार द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं। ऐसी कुलक्षणाक्रान्त कोई विधवा अक्षतयोनि हो अथवा कोई सधवा घरसे भागकर फिर लौट आई हो तो पौनर्भव पतिके साथ इन दोनोंका पुनर्भूसंस्कार हो सकता है। इस श्लोकमें पौनर्भव पति साधारण पुरुष नहीं है परन्तु घरसे भागी हुई या परित्यक्ता या विधवा स्त्रीके व्यभिचारके द्वारा उत्पन्न पुरुष है और इसमें जो विधवाका उल्लेख किया गया है वह भी साधारण पतिव्रता विधवा नहीं है क्योंकि श्लोकमें "सा" शब्दके द्वारा पूर्वश्लोकोक्त, लक्षणानुसार

ऐसी ही विधवा वह है जो स्वेच्छया (अपनी इच्छासे) अन्य पुरुषसे संसर्ग करके पौनर्भव पुत्र उत्पन्न करनेवाली हो। इसी प्रकारसे दुष्ट-लक्षणयुक्ता विधवा यदि अक्षतयोनि हो और उसके लक्षणोंसे यदि निश्चय हो जाय कि भविष्यत्में वह अपनी इच्छासे व्यभिचार करेगी तो ऐसी अक्षतयोनि विधवाका संबंध पुनर्भू-संस्कारके द्वारा ऊपर लिखे हुए पौनर्भव भर्त्ताके साथ हो सकता है और घर लौटी हुई सधवा अक्षत या क्षतयोनि स्त्रीका पुनर्भूसंस्कार उसके पतिसे (जो भी पौनर्भव कहलावेगा, यदि पतिकी इच्छा हो तो) हो सकता है। इन दोनों श्लोकोंसे अक्षतयोनि विधवाका विवाह नहीं कहा गया है; परन्तु भावी अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये व्यभि-चारसे उत्पन्न किसी पौनर्भव पुरुषके साथ संबंधमात्र कहा गया है। यहां पुनः संस्कार साधारण वैदिक संस्कार नहीं है; परन्तु निन्दनीय पुनर्भूसंस्कार है अतः साधारण विवाहमें इसकी गणना नहीं हो सकती है। इस प्रकार अक्षतयोनि विधवाके विषयमें और भी कहीं प्रमाण मिले तो वह सब हो इसी भावसे लिखा गया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि क्षत हो या अक्षत हो जब एकबार विवाह होनेके बाद द्वितीय विवाहके लिये वेदमें मन्त्र ही नहीं है तो फिर इस प्रकारका विवाह कैसे हो सकता है? मनुजीने अन्यान्य अनेक श्लोकों से जोकि पहले बताये गये हैं इसका पूर्ण निषेध किया है। और केवल वेदमें द्वितीय विवाहके लिये मन्त्र नहीं है यही कारण नहीं है, अधिकन्तु जब प्रथम विवाहके द्वारा सप्तपदीगमनके पश्चात् स्त्री अपने गोत्र आदिसे च्युत होकर पतिको ही हो जाती है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है तो फिर अन्य पतिसे पुनः गोत्र बदलकर कैसे विवाह हो सकता है? यह बात विचारसे पूर्ण विरुद्ध प्रतीत होती है। लिखितसंहितामें कहा है कि:—

स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी उद्वाहात्सप्तमे पदे।
भर्त्तृगोत्रेण कर्तव्यं दानं पिण्डोदकक्रिये॥

सप्तपदीगमनके अनन्तर स्त्री अपने गोत्रसे च्युत हो जाती है। उसके बाद दान, श्राद्ध, तर्पण आदि सभी क्रिया पतिके गोत्रसे हुआ करती है। इन सब प्रमाणोंके अतिरिक्त अक्षतयोनि विधवाका विवाह विचारसे भी विरुद्ध प्रतीत होता है। इस विषयमें जरा कोई भी सन्देह नहीं है कि एक पतिमें तन्मय होकर ही स्त्री अपनी उन्नति व मुक्ति प्राप्त कर सकती है और स्त्रीके लिये द्वितीय धर्म्म कोई भी नहीं है तो जो कुछ विधि इससे विरुद्ध भावको उत्पन्न करेगी उससे स्त्री की उन्नतिमें अवश्यही हानि होगी। मन्द प्रारब्धके कारण स्वभावतः व्यभिचारदोषसे दूषित अथवा व्यभिचारकी सम्भावनायुक्त क्षत या अक्षतयोनि स्त्रीको एक पुरुषसे सम्बन्धयुक्त करके जातिसे अलग कर देना उसे अधिक पापसे बचानेके लिये एक युक्तिमात्र है, आदर्शधर्म नहीं है। अक्षतयोनिके लिये यह उपाय तभी किया जासकता है जबकि वह कुलक्षणाक्रान्त हो और ऐसा निश्चय होजाय कि एक पुरुषसे सम्बन्ध न कर देनेसे वह अनेकके साथ व्यभिचार करेगी; परन्तु जहाँ ऐसी सम्भावना व संशय न हो वहां पर ऐसा करनेसे महापाप होगा क्योंकि अक्षत योनि विधवा स्त्री क्षतयोनि होनेके अनन्तर यदि एकपतिव्रतका पालन कर सकने योग्य और ब्रह्मचारिणी होकर पतिलोक प्राप्त कर सकने योग्य निकले तो पहलेसे ही उसको पुरुषसम्बन्ध कराकर पातिव्रत्यसे भ्रष्ट कर देनेका अधिकार किसका है? अपनी कपोल-कल्पना, अहङ्कार या भ्रान्त सिद्धान्तोंसे अन्यको उसके धर्मसे गिरा देना विचार व धर्मराज्यका कार्य्य नहीं होगा; परन्तु महापाप होगा। इसलिये क्षत व अक्षत दोनों प्रकारकी विधवाओंके लियेही पातिव्रत्यका एकही आदर्श होना चाहिये।

जिस प्रकार स्त्रीके लिये एकपतिव्रता होना प्रशंसनीय है उसी प्रकार पुरुषके लिये भी एकपत्नीव्रत होना प्रशंसनीय है; परन्तु स्त्री प्रकृतिके साथ पुरुषप्रकृतिकी विशेषता होनेसे जिस प्रकार एकपति

व्रत होनाही स्त्रीके लिये एकमात्र धर्म व मुक्तिका कारण है ऐसा पुरुषके लिये एकपत्नीव्रत होना मात्रही धर्म नहीं है। दोनों प्रकृतिकी विशेषताही इसमें कारण है। विवाहके उद्देश्यवर्णनके प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि स्त्रीका विवाह सृष्टिविस्तार करते हुए एक पतिमें तन्मय होकर अपनी योनिसे मुक्ति लाभ करनेके लिये है और पुरुषका विवाह सृष्टिविस्तारमें सहायता करते हुए प्रकृतिको देखकर स्वरूपस्थित होनेके लिये है। स्त्रीका मुक्ति एक पतिमें तन्मयता द्वारा ही सम्भव होनेसे स्त्रीका सृष्टिविस्तार उस तन्मयताको मुख्य रखता हुआ होना चाहिये तन्मयताको बिगाड़कर नहीं होना चाहिये क्योंकि इस प्रकार सृष्टिविस्तार मुक्तिका विरोधी होनेसे स्त्रीके लिये अधर्म होगा। तन्मयता एक पतिमें ही सम्भव है, अनेक पतिमें सम्भव नहीं है इसलिये एकपतिव्रतको दृढ रखती हुई ही स्त्री सृष्टिविस्तार करसकती है और अन्तमें पतिमें तन्मय होकर मुक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्त्रीका अस्तित्व गोत्रादिके बदलनेसे स्वतन्त्र न होकर पतिके अधीन होनेके कारण सन्तान भी पतिके ही सम्बन्धसे होता है, स्त्रीके स्वतन्त्र सम्बन्धसे नहीं होता है इसलिये व्यावहारिक जगतमें भी स्त्रीका अपने सम्बन्धसे सृष्टिविस्तार निरर्थक है; परन्तु पुरुषका धर्म और मुक्तिका उपाय इस प्रकारका नहीं है। पुरुषकी मुक्ति प्रकृतिमें सृष्टिविस्तार करते हुए उससे पृथक् होकर स्वरूपमें स्थित होनेपर तब होती है। यदि एकपत्नीके द्वारा ये दोनों उद्देश्य सिद्ध हों तो पुरुषके लिये द्वितीय विवाहकी कोई आवश्यकता नहीं होगी; परन्तु यदि किसी कारणवशात् ऐसा न होसके तो पुरुषके लिये द्वितीय दारपरिग्रहकी आवश्यकता हो जाती है। श्रुतिमें कहा है कि:—

तस्मादेको बह्वीर्विन्देत ।
तस्मादेकस्य बह्वयो जाया भवन्ति ।

इन वचनोंसे श्रुतिने भी इस आवश्यकताके विषयमें कथन किया है। अब द्वितीय दारपरिग्रहके लिये "सृष्टिविस्तार" व "प्रकृतिदर्शनात्स्वरूपस्थिति" ये दोही कारण हुए सो किन अवस्थामें कार्य्यरूप में परिणत होसकते हैं सो बताया जाता है। सृष्टिविस्तार अर्थात् सन्तान उत्पन्न करके वंशरक्षा व पितरोंका ऋणशोध लौकिक प्रवृत्तिमार्गका धर्म्म है, निवृत्तिमार्गका नहीं है। निवृत्तिमार्गमें प्रवृत्तिकी "जिम्मेवरी" या प्रवृत्तिमार्गका कर्त्तव्य कुछ भी नहीं रहता है इसलिये यदि सन्तान होनेसे पहले ही स्त्रीकी मृत्यु हो अथवा प्रथम स्त्री द्वारा सन्तान उत्पत्ति न हो तो इस दशामें द्वितीय विवाह करना तभी आवश्यक होगा जब पुरुषका चित्तवृत्ति प्रवृत्तिमार्गीय-सृष्टिविस्तार आदि चाहती हो, अन्यथा स्त्रीके रहते हुए सन्तान न रहने पर भी यदि पुरुष निवृत्तिपरायण हो जाय अथवा प्रथम स्त्रीकी मृत्यु होनेके अनन्तर पुरुष निवृत्तिसेवी हो जाय और आत्मा व जगत्‌की उन्नतिमें चित्तको समर्पण करे तो ऐसे पुरुषके लिये द्वितीय विवाहकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। उसको पितृ-ऋण पुत्रोत्पत्ति द्वारा शोध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उसके आध्यात्मिकबलसे ही चतुर्दश पुरुष उद्धार होजाते हैं अत: सृष्टिविस्तार पक्षमें निस्सन्तान। स्त्रीके जीते रहते हुए या निस्सन्तान अवस्थामें स्त्रीकी मृत्यु होनेसे द्वितीय विवाहकी आवश्यकता लौकिक प्रवृत्ति दशामें ही होगी, निवृत्तिदशामें नहीं होगी यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। भगवान् मनुजी व अन्यान्य संहिताकारोंने ऐसीही दशामें द्वितीय दारपरिग्रहकी आज्ञा दी है। यथा:—

भार्य्यायै पूर्व्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्म्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्य्यात् पुनराधानमेव च॥
वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

भार्य्याकी मृत्यु यदि पहले हो तो उसका दाहादि व अन्त्येष्टिक्रिया समाप्त करके पुनः दारपरिग्रह व अग्निपरिचर्य्या करे। स्त्री यदि वन्ध्या हो तो प्रथम ऋतुसे आठवें वर्षमें, मृतवत्सा हो तो दसवें वर्षमें और केवल कन्या प्रसव करनेवाली हो तो ग्यारवें वर्षमें द्वितीय विवाह करे; किन्तु अप्रियवादनी होनेसे शीघ्रही द्वितीय विवाह करे। इस प्रकारका द्वितीय दारपरिग्रह साधारणतः सृष्टिविस्तारको लक्ष्य करके ही है। इसके सिवाय व्यसनिनी व दुश्चरित्रा स्त्रीके रहते हुए भी द्वितीय दारपरिग्रह करनेकी आज्ञा मनुजीने दी है। यथाः—

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्व्वदा॥

मद्यपानासक्ता, दुश्चरित्रा, पतिविद्वेषिणी, असाध्यरोगग्रस्ता, हिंस्रप्रकृति व धनक्षयकारिणी स्त्रीके रहते हुए द्वितीय विवाह होना चाहिये। स्त्री रोगग्रस्त होनेसे विवाह करना साधारणतः मनुष्यत्वसे विरुद्ध कार्य्य है, परन्तु कठिन रोग ऐसा हो जाय कि सन्तति न हो सके तो सन्ततिके लिये विवाह करना आवश्यकीय है इसलिये दोनों विषयोंके सामञ्जस्य रखनेके लिये मनुजी कहते है किः—

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः।
साऽनुज्ञाप्याऽधिवेत्तव्या नाऽवमान्या च कर्हिचित्॥

असाध्यरोगग्रस्ता परन्तु पतिप्राणा व सुशीला स्त्रीकी सम्मति लेकर तब द्वितीय विवाह करना चाहिये, कदापि उसकी अवमानना नहीं करना चाहिये। इस तरहसे मनुजीने व अन्यान्य स्मृतिकारोंने भी कुलरक्षा व पितृपिण्डदानके लिये प्रवृत्तिमार्गशील गृहस्थोंको द्वितीय बार दारपरिग्रह करनेकी आज्ञा दी है। परन्तु स्त्रीके लिये ऐसी आज्ञा नहीं हो सकती है क्योंकि पहले कहे हुए अन्यान्य कारणोंके सिवाय यह भी एक कारण है कि स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न जो पुरुषका होता है, उसका गोत्र पुरुषका होता है, उससे पतिकुल

की रक्षा व विग्रहदान कार्य्य होता है, स्त्रीके पितृकुलका उससे इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता है अतः वंशरक्षा व विग्रहदानके लिये स्त्रीके द्वितीय विवाहकी कोई युक्ति नहीं है। ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणोंसे यही सिद्धान्त हुआ कि एक सन्तान होजाने पर वंशरक्षाके अर्थ पुरुषके द्वितीय विवाहकी और कोई आवश्यकता नहीं है। महर्षि आपस्तम्बने ऐसा कहा भी है कि:—

धर्म्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां
कुर्व्वीताऽन्यतराऽपाये तु कुर्व्वीत।

सन्तान रहनेसे व गार्हस्थ्य धर्मके निभानेवाली स्त्रीके रहनेसे द्वितीय दारपरिग्रह नहीं करना चाहिये। यदि सन्तान न हो या स्त्री मनुजीके उपदेशानुरूप अनुकूल न हो तो द्वितीय दारपरिग्रह करना चाहिये।

पुरुषके लिये द्वितीय विवाहका अन्य कारण प्रकृतिको देखकर युक्ति है। विवाहका उद्देश्य वर्णन करते समय पहले ही कहा गया है कि स्वाभाविकी सकल-स्त्रीपरायणा प्रवृत्तिको रोककर एकही स्त्रीमें उस प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करते हुए क्रमशः उससे अलग होकर मुक्ति प्राप्त करना ही पुरुषके लिये विवाहका लक्ष्य है। प्रवृत्तिका यही स्वभाव है कि यदि मुक्तिको लक्ष्य करके भावशुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति की जाय तभी कुछ दिनोंमें प्रवृत्तिका नाश व निवृत्तिका उदय हो सकता है। अन्यथा, भावशुद्धि व मुक्तिका लक्ष्य न होनेसे प्रवृत्तिके द्वारा घृताहुत वह्निकी नाई प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ने लगती है, घटती नहीं है। इसलिये गृहस्थाश्रममें जो प्रवृत्तिकी आज्ञा है वह अनर्गल व मलिनभाव युक्त प्रवृत्ति नहीं है परन्तु शुद्धभावमूलक व नियमित प्रवृत्ति है जिसके अन्तमें निवृत्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गकी एक अवधि है जहाँपर निवृत्तिभावका उदय होता है और पुरुष प्रकृतिको छोड़कर मुक्त हो जाता है। उस अवधि पर

पहुँचनेके लिये भावशुद्धियुक्त नियमित प्रवृत्तिकी आवश्यकता रहती है क्योंकि यह शुद्ध भावमूलक प्रवृत्ति ही कुछ दिनोंमें गृहस्थको उस अवधि पर पहुँचा कर निवृत्ति दे सकती है। परन्तु यदि घटनाचक्रसे उस अवधि पर पुरुषके पहुँचनेके पहले ही भावशुद्धि पूर्व्वक प्रवृत्तिकी चरितार्थताकी केन्द्ररूप स्त्रीका वियोग हो जाय तो उस दशामें प्रवृत्तिकी अवधि पर पहुँचनेके लिये दो उपाय हो सकते हैं। प्रथम—प्रवृत्तिके वेगको संसारकी ओरसे मोड़कर सकल रसके आधारभूत भगवान्‌में लगा दिया जाय और दूसरा—द्वितीय विवाह करके भावशुद्धिमूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थताके लिये द्वितीय स्त्रीरूप केन्द्र बनाया जाय। प्रथम उपायको जो पुरुष अवलम्बन कर सकते हैं अर्थात् एक स्त्रीके मर जाते ही समस्त वासनाको श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें विलीन करके निवृत्ति पथके पथिक हो सकते हैं वे महात्मा हैं, उनका जीवन धन्य है और वे आर्य्यजातिके अनुकरणीय हैं। श्रीभगवान् रामचन्द्र आदिका जीवन इसी आदर्शका बतानेवाला था। इसलिये एक पत्नीव्रतका यह आदर्श यदि पालन हो सके तो बड़ी ही अच्छी बात है। इस प्रकारके महान् पुरुष अपना व संसारका बहुत कुछ कल्याण कर सकते हैं। परन्तु यदि पुरुषका अधिकार ऐसा उन्नत न हो तो दूसरा उपाय करनेके सिवाय प्रकृतिसे अलग होनेको और कोई भी युक्ति नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति अभीतक भीतर रहनेके कारण केन्द्र न पानेसे जिधर तिधर घूमती हुई पापपङ्कमें व अनर्गल भोगमें पुरुषको डुबा सकती है। इसलिये ऐसी अवस्थामें अनर्गल प्रवृत्तिको एक स्त्रीरूप केन्द्रमें बाँधना युक्तियुक्त होगा। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार केन्द्रमें बाँधना प्रवृत्तिके बढ़ानेके लिये नहीं होगा परन्तु उसके घटानेके लिये होगा, अर्थात् पूर्व्व रीतिके अनुसार मुक्तिको लक्ष्य करके प्रवृत्तिको त्याग करनेके लिये जो भावशुद्धिपूर्व्वक भोगकी व्यवस्था हुई थी, अवधिमें पहुँचनेके पहले ही केन्द्रके बीचमें नष्ट हो

जानेके कारण उसी भावशुद्धिके साथ अवधिमें पहुँचनेके लिये नवीन केन्द्रका संग्रह करना ही इस प्रकारके विवाहका लक्ष्य होगा। निवृत्ति के प्राप्त करनेके लिये प्रवृत्ति हो तभी प्रवृत्तिकी अवधि हो सकती है, अन्यथा, प्रवृत्तिमें मत्त हो जानेसे कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये यदि उसी भावशुद्धिपूर्वक निवृत्ति व मुक्तिको लक्ष्यीभूत करके द्वितीय विवाह किया जाय तभी उससे सुफल व निवृत्ति लाभ हो सकता है। अन्यथा केवल कामसेवाके लिये द्वितीय विवाह भोगबुद्धिको और भी बढ़ाकर मनुष्यकी बड़ी ही अधोगति कर देगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। महाभारतमें लिखा है किः—

> एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
> नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥

एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं परन्तु एक स्त्रीके अनेक पति नहीं हो सकते हैं। इस कथनमें बहुपत्नी सम्बन्ध ऊपर लिखित द्वितीय उपायके अनुसार भावशुद्धि द्वारा प्रवृत्तिसेवा करके निवृत्ति के लिये ही हो सकता है, अन्यथा भावशुद्धि व निवृत्ति लक्ष्य न रहने से कदापि उन्नति व प्रकृतिसे मुक्ति नहीं हो सकती है। ऊपर जो इस प्रकारसे द्वितीय विवाहकी युक्ति बताई गई है वह एक स्त्रीके मृत्युके अनन्तर दूसरे विवाहके विषयकी है और महाभारतके उक्त श्लोकमें एकदम ही अनेक स्त्री रखनेके विषयमें कहा गया है। महाभारतका यह कथन और भी निम्नकोटिके पुरुषके लिये प्रवृत्तित्याग की युक्ति है अर्थात् असंख्य स्त्रियोंमें भोगपरायण प्रवृत्तिको स्वल्प संख्यक स्त्रियोंमें बाँधकर धीरे धीरे निवृत्तिपथमें लानेकी युक्तिमात्र है। यह प्रथा प्रशंसनीय नहीं है और इससे कहीं कहीं घोर अनर्थ भी उत्पन्न हुआ है। परन्तु चाहे एक स्त्रीकी मृत्युके अनन्तर दूसरीका ग्रहण हो या साथ ही साथ दो चार स्त्रियोंका ग्रहणरूप निम्न श्रेणी का विवाह हो भावशुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति द्वारा निवृत्तिप्राप्तिको लक्ष्यी-

भूत न रखकर कामभोग लक्ष्य रखनेसे दोनों प्रकारके विवाहोंमें ही घोर अवनति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार पशुभाव से स्त्रीसंग्रह करनेवाले पुरुष आजकल भारतमें देखनेमें आते हैं। उनका यह केवल कामभोगलक्ष्यसे किया हुआ विवाह पाशविक विवाहमात्र है, आर्य्यजातिके आदर्शके अनुकूल विवाह नहीं है अत. जिस प्रकार व्यभिचारिणी क्षत वा अक्षतयोनि स्त्रीको अधिक व्यभिचारसे बचनेके लिये एक पुरुषसे सम्बन्ध कराकर समाज कुल व सतीधर्मके आदर्शकी रक्षाके लिये जातिसे अलग कर देना युक्तियुक्त है उसी प्रकार आर्य्यजातिमें विवाह व आर्य्यगौरवका आदर्श स्थायी रखनेके लिये ऐसे पशुप्रकृति कामोन्मत्त पुरुषोंको भी जातिसे च्युत कर देना चाहिये।

जिन कारणोंसे पुरुषके लिये द्वितीय विवाह द्वारा प्रकृतिसे पृथक् होकर निवृत्ति व मुक्तिका उपाय बताया गया है वे सब स्त्रीके द्वितीय विवाहमें कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि स्त्रीप्रकृति व पुरुषप्रकृति पृथक् पृथक् है। पुरुषमें भोगकी सीमा रहनेसे भाव शुद्धिपूर्व्वक भोग द्वारा पुरुष प्रवृत्तिकी सीमा पर पहुँचकर निवृत्ति व मुक्ति पा सकता है, परन्तु स्त्रीके लिये भोगकी सीमा न रहनेसे वहाँ पुरुषकी तरह भावशुद्धि हो ही नहीं सकती है। वहाँ नवीन पुरुषके पानेसे नवीन नवीन कामभोगस्पृहाकी वृद्धि ही होगी क्योंकि वहाँ भोगशक्ति असीम है। जहां भोगशक्तिमें सीमा है वहाँ भावशुद्धि द्वारा भोग-प्रवृत्ति घटते हुए अन्तमें निवृत्ति आसकती है; परन्तु जहाँ भोग-शक्तिमें सीमा नहीं है वहाँ भावशुद्धिकी चेष्टा न करके भोगशक्तिको बढ़नेका मौका न देना ही धर्म व विचारका कार्य्य होगा। एक-पतिव्रतधर्म्मके द्वारा भोगशक्तिको बढ़ानेका मौका नहीं मिलता है, बल्कि संयमशक्ति, धैर्य्यशक्ति व विद्याप्रकृतिको बढ़नेका मौका मिलता है जिससे सती स्त्री अविद्यामूलक कामप्रवृत्तिको छोड़ पतिमें तन्मय होकर अपनी योनिसे मुक्त हो जाती है। अनेक पुरुषके

सङ्गसे ऐसा कभी नहीं हो सकता है इस लिये पुरुष व स्त्रीके धर्म्ममें और उन्नति व मुक्तिके मार्गमें आकाश पातालसा विभेद है। अपनी प्रकृतिके अनुसार साधन करते हुए उन्नत व मुक्त होना ही सुखसाध्य व धर्म्मानुकूल है। प्रकृतिविरुद्ध कार्य्य होनेसे उन्नतिके बदलेमें अवनति होना निश्चय है अतः सब आर्य्यनेताओंको इन सब बातों पर ध्यान रखकर स्त्री व पुरुषका धर्म्म बताना चाहिये। नारीधर्म्म और पुरुषधर्मसे उसकी विशेषता, ये दोनों पूर्णरूपसे जो बताये गये हैं इन पर विचारकर चलनेसे आर्य्यजाति परम कल्याण व उन्नतिको प्राप्त कर सकेगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

पुरुषधर्मसे नारीधर्म्म किस प्रकार स्वतन्त्र व विलक्षण है यही इस अध्यायमें विस्तारितरूपसे दिखाया गया है। पुरुषधर्म यज्ञप्रधान है और नारीधर्म तप प्रधान है। सृष्टिकार्य्यमें पुरुष गौण और नारी प्रधान होनेके कारण नारीजातिकी विशेषता, नारीजातिका महत्व, नारीजातिकी सुरक्षा, नारीजातिकी पवित्रता, नारीजातिकी अस्वतन्त्रता और नारीजातिकी विशेष शिक्षाकी उपयोगिता आदिको लक्ष्यमें रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने नारीधर्म्मका वर्णन किया है। नारीधर्म पातिव्रत्यमूलक है क्योंकि बिना पुरुषमें तन्मयता प्राप्त किये नारीजाति कदापि नारीयोनिसे पुरुष नहीं हो सकती है इसी कारण नारीजातिकी शिक्षा, नारीजातिका विवाह, नारीजातिका गृहिणीधर्म और नारीजातिका वैधव्यधर्म्म सभी पातिव्रत्यमूलक होना चाहिये। आर्य्यजातिमें स्त्रीके लिये आदर्श सतीधर्मके बीजके सुरक्षित किये बिना आर्य्यजातिका आर्य्यत्व कदापि स्थायी नहीं रह सकता है। आर्य्यजातिमें पुरुषका विवाह अधर्मकी निवृत्ति करके धर्म्ममार्गमें सुविधा प्राप्त करनेके लिये है और नारीका विवाह पुरुषमें अनन्यभावसे तन्मयता लाभ करके स्त्रीयोनिसे मुक्त होनेके लिये है अतः आर्य्यजातिके वैवाहिक विधानके अनुसार न आर्य्य-

स्त्रियाँ स्वतन्त्रा होसकती हैं और न उनमें विधवा विवाहका कलङ्क लग सकता है। आर्य्यनारी ही पृथिवीभरमें आदर्श नारी है। आर्य्य-जातिमें विधवास्त्रियाँ उपेक्षा व घृणाकी पात्री नहीं हैं; महर्षियोंके विज्ञान व आर्य्यशास्त्रके अनुसार वे प्रत्यक्ष देवी हैं, संसारमें वे पूजनीय है और आश्रमधर्म्ममें संन्यासधर्म्मके महत्त्वके अनुरूप आर्य्यविधवाओंका महत्त्व सर्व्वसम्मत है। और यही प्रवीण पिता-महके सिद्धान्तानुसार नवीन भारतमें नारीधर्म्म विवेचन है।

आदर्श नेता।

वर्णाश्रम व पातिव्रत्य धर्मप्रधान आर्य्यजातिका उन्नत आदर्श तथा नवीन भारतमें उस आदर्शका अपलाप जिस प्रकारसे हो रहा है उसका हेतु निर्देश करके प्रतीच्यदृष्टिके अनुसार आर्य्यजातिको निज स्वरूपमें पुनः प्रतिष्ठित करनेके उद्देश्यसे आदर्श नेताका प्रयोजन, उद्भावनोपाय तथा नेतृकर्त्तव्यके विषयमें विचार किया जाता है। सुधारक नेताके बिना सुधार नहीं हो सकता है, यह सिद्धान्त केवल स्थूल जगत्में ही नहीं, अधिकन्तु, दैव जगत्के प्रत्येक कार्य सञ्चालनमें ही सत्य जान पडता है। यदि संसारचक्रके नेता सर्वशक्तिमान् परमात्मा न होते तो प्रकृतिकी यह मनोरम स्थिति कदापि नहीं रह सकती। यदि ज्ञान जगत्के नेता पूर्ण ज्ञानी नित्य ऋषिगण न होते तो संसारमें ज्ञानकी नित्य व नियमित स्थिति कदापि न बनी रहती। यदि कर्मजगत्के नेता शक्तिमान् देवतागण न होते तो कर्मानुसार जीवकी यथार्थगति कभी देखनेमें नहीं आती। यदि स्थूल जगत्के नेता नित्य पितृगण न होते तो धनधान्यपूर्ण सुजला सुफला वसुन्धरा कदापि जगज्जनोंके सम्मुख शोभायमान नहीं रहती। अत किसी समष्टिकार्यकी उन्नतिके लिये योग्य व शक्तिमान् नेता अवश्य ही चाहिये। हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान दशाके सुधारके लिये भी हिन्दुजातिको योग्य नेताका अन्वेषण या उद्भावन अवश्य करना पड़ेगा। अब इस प्रकारके महात्मा नेताका आविर्भाव कैसे हो सकता है, इसके लिये कोई उपाय है कि नहीं यही हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान चिन्ताका विषय है।

चिन्ता करने पर सिद्धान्त होता है कि इस विषयमें हिन्दुसमाजके अवश्य कर्त्तव्य दो कार्य हैं जिनके नियमित अनुष्ठानसे हिन्दु-

समाजमें योग्य नेता प्राप्त हो सकेंगे। प्रथम—जब किसी शुभकार्यके साधनके लिये हम स्वयं इच्छा करते हैं उस समय यदि किसी दूसरेको वही अथवा उस प्रकारके कार्यमें यत्नशील देखें तो अन्यान्य विषयमें मतभेद होने पर भी उसके साथ हमें योगदान करना होगा। जगन्नाथदेवके रथमें एकचित्त होकर अनेक मनुष्य हाथ लगाते हैं तभी रथ चलता है। द्वितीयतः—प्रतिवेशी हो, परिचित हो अथवा प्रसिद्ध कोई भी स्वजातीय व्यक्ति हो जिसको हम सम्मानके वास्तविक योग्य हृदयसे समझते हैं उसका अवश्य ही सम्मान करना होगा। हम जातिमें हिन्दु हैं, हम अपने हाथसे मिट्टी उठाकर, उसे छान कर, प्रतिमा बना कर उसकी पूजा करनेको और उससे वर प्रार्थना करनेको अच्छी तरहसे जानते हैं। अतः अपनी जातिके स्वभावके अनुसार प्रकृतिस्थ रहनेसे हम छोटेको बड़ा बना ले सकते हैं। बडा देखने और बडा बनानेकी चेष्टा करते करते हमारे भाग्यसे बड़े अवश्य ही उत्पन्न हो जायँगे, क्योंकि संसार इच्छा शक्तिका ही परिणामरूप है। जिस देशमें असूया, द्वेष व दोषदर्शिता-का आधिक्य है, उस देशमें यथार्थ महात्माका आविर्भाव नहीं हो सकता और यदि होता भी है तो ऐसे महात्मा अल्पायु होते हैं। क्योंकि जातीय गुणपूजाप्रवृत्तिकी समवेत शक्तिके द्वारा ही इस प्रकार विभूतियुक्त महात्माओंका जन्म होता है और उन्हें दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकारसे जातीय दोषदर्शनप्रवृत्तिके फलसे समाज व जातिमें पूर्वोक्त विभूतिका अभाव हो जाता है, ऐसे महात्मा उत्पन्न नहीं होते और कदाचित् होने पर भी अल्पायु हो जाते हैं। हिन्दुसमाजकी इस अधःपतित दशामें असूया, द्वेष व दोषदर्शिता-रूपी दुष्प्रवृत्तियोंकी विशेष वृद्धि हुई है। हिन्दुजाति स्वदेशीय व स्वजातीय किसीको महापुरुष रूपसे देखना और जानना नहीं चाहती है। उनके विचारमें अपनी जातिके सभी तीन कौड़ीके मनुष्य हैं। जैसा साधन, सिद्धि भी वैसी ही होती है। हम तीन

कौड़ीके आदमी देखना चाहते हैं इसलिये हमारे भाग्यमें तीन कौड़ी-के ही आदमी मिलते हैं। हिन्दुसमाजमेंसे यह भीषण दोष जब तक नहीं दूर होगा तब तक हिन्दुजातिके भीतर महापुरुषका आविर्भाव नहीं हो सकेगा। फलतः अनुवर्ती लोगोंके रहनेसे ही महात्मा पुरुष अग्रणी हो सकते हैं। स्वजातीय मनुष्योंकी निन्दा करना, स्वजातीय मनुष्योंका दोषानुसन्धान करना और स्वजातिय महत् पुरुषोंका अनुवर्त्तन न करना यही हिन्दुजातिका मर्म्म व मज्जागत महापाप है; और हमारे समाजका वर्त्तमान अधःपतन व दुर्दशा इसी महा-पापका अवश्यम्भावी फल व उसका प्रायश्चित्तरूप है। जब यह प्रायश्चित्त पूर्ण होगा तभी हम स्वदेशीय महात्माओंकी गुणगरिमाको देख सकेंगे और तभी अर्थलोलुप, लघुचित्त, विषयविलासी व अनु-दारप्रकृति अनार्य्यवृत्तिसम्पन्न जनोंको सर्वगुणाधार नहीं समझेंगे और उनकी मनस्तुष्टिके लिये स्वदेशीय पूर्वाचार्योंका अपमान, स्वदेशीय रीति नीतिके प्रति घृणा और स्वजातीय महत् पुरुषोंकी कुत्सा व निन्दाप्रचार करके अपनी जिह्वा व जीवनको कलङ्कित नहीं करेंगे।

भारतभूमि वास्तवमें ही रत्नप्रसविनी है। यहाँ पर सदा ही यथार्थमें महान् बीजोंका अङ्कुर निर्गत होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो इतने नवीन नवीन धर्म्म सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति कैसे होती? चाहे छोटेसे छोटे ही हों, जिनमें एक एक सम्प्रदाय या पन्थ बनानेकी शक्ति है, उनमें कुछ न कुछ माहात्म्य अवश्य ही है ऐसा समझना चाहिये। परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता कि जो कोई संस्कारक या सुधारक नामधारी हो उसीका अनुवर्त्तन करना होगा। दूसरी ओर बिना सोचे अनुवर्त्तन करना भी अच्छा है तथापि किसीमें शक्ति या गुणका लेशमात्र देखते ही असूया या ईर्ष्या करना उचित नहीं है। परन्तु जो महात्मा पुरुष हिन्दुसमाजके यथार्थ नेता बनेंगे उनमें निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहिये ऐसा पहलेहीसे स्मरण रक्खा जाय।

(१) वे परम धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नतिशील, त्यागी, परार्थपर व स्वजातीय जनोंके हिताकांक्षी हों।

(२) वे समस्त हिन्दूजातिमें परस्पर सम्मिलनके उपयोगी उपायोंका ही आविष्कार करेंगे। अतः अधिकारभेद-विज्ञानको अटूट रखते हुए भी समस्त सम्प्रदायोंके प्रति पक्षपातशून्य हों।

(३) वे पूर्ववर्ती स्वदेशीय शिक्षादाता व नेताओंका कुछ भी अगौरव नहीं करेंगे; अधिकन्तु अपने उदारतर मतवादके बीचमें पूर्वाचार्योंसे प्राप्त समस्त शिक्षासूत्रोंका सन्निवेश करेंगे।

(४) वे सनातनधर्मकी सर्वव्यापकता व पितृभावको भलीभांति प्रत्यक्ष करते हुए, आर्य और अनार्यके भेदको समझते हुए स्वयं विद्वान होते हुए भी किसी उपधर्म, पन्थ अथवा मत और धर्म सम्प्रदायके निन्दक या विरोधी नहीं होंगे।

(५) वे वेदार्थकी गम्भीरताके साथ पुराणादि शास्त्रोंतकमें उसी गभीरज्ञानके प्रतिबिम्बको देखते हुए, वैदिक दर्शनोंका भूमिज्ञान और विभिन्न अधिकारियोंके अधिकारज्ञानमें अतिविज्ञ होनेपर भी धर्माधिकारमें अति छोटेसे छोटे अधिकारीका भी अनादर नहीं करेंगे।

(६) वे पारमार्थिक ज्ञानके साथ व्यवहार-कुशलताकी योग्यता भी पूरी रक्खेंगे और इसकी सहायतासे आर्यमर्यादाके मौलिक आदर्श समूहका देशकालानुसार सामञ्जस्य करनेमें समर्थ होंगे।

(७) उनके मतवादमें शास्त्र, दार्शनिक विज्ञान व युक्तिका समस्त सारतत्त्व सम्मिलित रहेगा।

(८) वे दूसरेके इहलौकिक कल्याणरूपी परोपकार तथा पारलौकिक कल्याणरूपी परमोपकारके महत्त्वको समझकर सदा निष्कामव्रतको ही जीवनका प्रधान लक्ष्य समझेंगे।

(९) वे स्वयं वर्णाश्रमधर्मके दृढ़ पक्षपाती और अनुष्ठान

करनेवाले और प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मके ज्ञाता होकर यथाधिकार शिक्षाके पक्षपाती होंगे।

(१०) सूर्यदेवकी तरह भारताकाशमें पूर्वोदित ग्रहनक्षत्रादिको अपनी ज्योतिमें लय कर लेंगे परन्तु किसीको निर्वापित नहीं करेंगे।

इन सब लक्षणोंके साथ उनमें तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, अगाधपाण्डित्य, असाधारण वाक्शक्ति, अपूर्वतेजकुशलता, असीम उदारता और समस्त प्रकार ओजोगुणोंका भी सम्मेलन रहेगा। ऊपर लिखित इन सब लक्षणोंके देखतेही निम्नलिखित भगवद्वाक्यका स्मरण करना चाहिये—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

जिसमें प्रभा, श्री व तेज देखा जाय वही भगवान्के तेजसे सम्पन्न है ऐसा समझना चाहिये।

अतः जिस पुरुषमें ऊपरलिखित नेतृलक्षणोंका आभास मिले उसके गौरव बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। देशके बुद्धिमान लोग यदि इस नियमका अनुसरण करें तो यदि देशमें ऐसे कोई महापुरुष उत्पन्न होगये हों तो वे शीघ्र ही प्रगट हो जाएँगे। और यदि ऐसे कोई महात्मा अभी तक प्रकट न हुए हों तो उनके भी आविर्भावका समय निकटवर्ती हो जायगा। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की शक्ति व्यापक है। जिस प्रकार प्रकृतिमाताकी हार्दिक प्रार्थना व भक्तोंकी प्रार्थनाशक्तिके आकर्षणसे युगानुसार धर्मरक्षाके लिये श्रीभगवान् की व्यापक शक्ति केन्द्रविशेषके द्वारा असाधारणरूपसे प्रकटित होकर अवतारका कार्य करती है, उसी प्रकार समस्त हिन्दूजातिकी हार्दिकी प्रार्थनाशक्ति व गुणपक्षपातशक्तिके आकर्षणसे भगवान्की शक्ति हिन्दूजातिके अभ्युदयके लिये उपर्युक्त लक्षणालङ्कृत योग्य नेतारूपसे प्रकट होकर भारतका भाग्योदय कर देगी इसमें अणुमात्र

सन्देह नहीं है। मन्दाकिनीको दिव्यलोकविहारिणी दिव्यशक्तिको भक्त भगीरथकी तपःशक्तिने ही मर्त्यलोकमें आकर्षण कर लिया था। श्रीभगवानकी सर्वव्यापिनी शक्तिको भक्त प्रह्लादकी प्रार्थना-शक्तिने मूर्त्तिमती बनाकर स्तम्भके भीतरसे प्रकट करा दिया था। अतः हिन्दुजातिकी इच्छाशक्तिके समवेत होनेसे भगवद्विभूतिरूप नेताका आविर्भूत होना असम्भव नहीं होगा। हिन्दूमात्रके हृदयमें इस प्रकार आशाका सञ्चार होनेसे हिन्दुसमाजके अधःपतननिवारण उत्कर्ष साधन व कल्याणप्राप्तिके लिये स्वजातीय नेताका आविर्भाव अवश्य ही होगा। इस प्रकारके आशाके साथ विश्वास भी सम्मिलित रहना चाहिये क्योंकि श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

धर्मग्लानि व अधर्मके उदय होनेपर अवतार या विभूतिरूपसे श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। अतः इस प्रकारका विश्वास हृदयमें बद्धमूल होनेसे हिन्दूजातिका कार्यकलाप, व्यवहारप्रणाली व चित्तवृत्ति ऐसी ही विशेषताको प्राप्त होजायगी।

महापुरुष नेताका आविर्भाव होगा यह सत्य है। परन्तु कहाँ होगा, कब होगा इसका अनुमान करना कठिन है। इसलिये ऐसी घटना अपने ही घरमें हो सकती है, प्रत्येक व्यक्तिके चित्तमें ऐसी धारणा होनी चाहिये। और तदनुसार अपने गृहको प्रकट होनेवाले देवताके पवित्र मन्दिरकी तरह बना रखना चाहिये। द्वेष, हिंसा, लोभ, मात्सर्य आदि नीच प्रवृत्तियोंसे अपने मनको रक्षा करनी चाहिये। अपनी अपनी सन्तानोंके विषयमें ऐसी धारणा होनी चाहिये कि मानो अपना दुग्धपोष्य शिशु ही इस प्रकारका महात्मा होगा। ऐसा होनेसे ही हिन्दूजाति सम्मिलन सूत्रमें बद्ध होगी, ऐसा होनेसे ही जन्मभूमि यशकी मालासे सुशोभित हो जायेगी, और

ऐसा होनेसे ही भारतवर्षमें धर्मका अभ्युदय होगा; जिससे सब हिन्दुजाति विमुक्तपापाचरण व पुण्यवान् होजायगी। एक शिशुकी भावी अवस्था व शक्ति क्या हो सकती है या क्या नहीं होसकती है इसका निश्चय कौन कर सकता है? अपने अपने अन्तःकरणमें नेता महापुरुषके आविर्भावकी आशा इस प्रकार दृढ़ व उदाररूपसे सञ्चित रखकर अपने जीवनको पवित्र बनानेके निमित्त यत्नवान् होनेसे तथा शिशु व युवकोंकी सुशिक्षाके लिये निरन्तर चेष्टा करनेसे सभी मनुष्योंके चित्त दिन ब दिन उन्नत होजायेंगे। अनेकानेक सुशील मनुष्योंके हृदयका इस प्रकार उन्नत, पवित्र व एकाग्र होना भी नेतृमहापुरुषके आविर्भावका दूसरा कारण स्वरूप होजायगा। एकप्राणता व पुरुषार्थके साथ कतिपय मनुष्योंकी चित्तोन्नति न होनेसे किसी देशमें महापुरुषोंका आविर्भाव नहीं होसकता। जिस प्रकार उच्च अधित्यकासे ही उच्चतम पर्वतशृङ्ग उत्थित होता है, उसी प्रकार हृदयवान् व्यक्तियोंके बीचमें से ही उच्चतम महात्माओंका आविर्भाव होता है। हिमालय पर्वतकी अधित्यकासे ही काञ्चनगिरिकी उत्पत्ति हुई है, किसी निम्नदेशसे नहीं हुई है। अतः देश व समाजके जन साधारणकेहृदयमें जिससे आशा, भगवत्कृपापर विश्वास, गुरुभक्ति, अध्यवसाय, एकाग्रता, सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, जातीयता व धर्मभावकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करना वर्त्तमान हिन्दुसमाजके लिये अवश्य कर्त्तव्य है। शिक्षाकार्य व बुद्धिमत्ता, बहुज्ञता, स्वावलम्बन, वाग्मिता, उदारता व ओजस्वितावृद्धिकी चेष्टाके साथ साथ स्वजातिवात्सल्यके प्रति एकाग्र होकर परिचालित होना आवश्यक है।

इस प्रकार उल्लिखित नेतृलक्षणोंसे विभूषित नेताके प्रकट होने-पर हिन्दु सामाजिक जीवनकी उन्नतिके लिये उस नेताका क्या २ कर्त्तव्य होगा सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

(१) प्रथमतः नेताको विचार द्वारा यह निर्णय करना होगा कि

जिस जाति व समाजको उन्नतिके लिये वे श्रीभगवान्‌की ओर उत्तरदाता (जिम्मेवार) हैं उस जातिकी मौलिक सत्ता क्या है। क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रत्येक जाति व समाजकी उन्नति मौलिक सत्ताकी उन्नतिसे—जिन विशेष बातोंकी उन्नतिके ऊपर जातीय जीवनका अस्तित्व व उन्नति निर्भर है उन विशेष बातोंकी उन्नतिसे—ही होती है।

यह बात भी पहले ही कही गई है कि उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होती है, अर्थात् जिस प्रकार वृक्षकी उन्नति जिस वृक्षका जो बीज है उस बीजके पूर्ण प्रकट होनेसे ही होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति व समाजकी उन्नति उस जाति व समाजके आदि बीजकी उन्नति व पूर्ण प्राकट्यके द्वारा ही होती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये उपाय निर्द्धारणके पहले नेता महाशयको विचार-पूर्वक निर्णय करना होगा कि आर्यजातिका जातीय मौलिक बीज क्या है। उन्नतिका आदर्श निरूपण शीर्षक प्रबन्धमें बताया गया है कि आर्यजातिके जातिगत जीवनके मौलिक बीज कौन कौन हैं और आर्येतर जातियोंके साथ किन किन बातोंमें आर्यजातिकी विशेषता है। प्रत्येक जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको दृढ़ रख-कर व उसीकी उन्नति द्वारा उन्नत होती है। कोई जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको नष्ट करके या अन्य जातिमें अपने आपको मिला करके उन्नत नहीं हो सकती है। अतः इस विषयमें नेता महात्माका ध्यान पहले ही आकृष्ट होना चाहिये। उसको हिन्दुजातिको अन्य जातिसे विशेषताके ऊपर दृष्टि रखकर तब जातीय उन्नतिका उपाय निर्द्धारण करना चाहिये। आर्यजाति केवल व्यावहारिक जीवनकी उन्नतिसे ही पूर्णोन्नत नहीं हो सकती। आध्यात्मिक पूर्णता सम्पादन ही आर्यजातिके समस्त कर्त्तव्यका लक्ष्य है। भारतकी प्रकृति पूर्ण होनेसे इस प्रकारकी आध्यात्मिक पूर्णता भारतीय प्रकृतिके अनुकूल भी है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मके तथा पातिव्रत्यधर्मके

पूर्ण पालन द्वारा ही आर्य नरनारी आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। वर्णाश्रमधर्म व सतीधर्मके बिना आर्यजाति कदापि चिरकाल तक जीवित रह नहीं सकती। आर्यजति पर सहस्रों विजातीय अत्याचार होनेपर भी आज तक जो यह जाति अपनी सत्ताको दृढ़ रखनेमें समर्थ होरही है इसका भी कारण वर्णाश्रम और नारियोंमें पातिव्रत्यधर्म ही है। सदाचारके साथ आर्यजातीय जीवनका सकल प्रकारकी उन्नतिका क्या सम्बन्ध है इन सब विषयों के पूर्ण रहस्य पूर्ववर्ती प्रबन्धमें बताये गये हैं। अतः हिन्दुनेताओं सदा ही सावधान रहना चाहिये कि विदेशीय शिक्षा या कालप्रभाव से हिन्दुजातिकी मौलिक सत्ताके प्रति हिन्दुसमाजकी उपेक्षा न होजाय और आर्यजातिके प्रत्येक मनुष्यके हृदयक्षेत्रमें उसका बीज विद्यमान रहे।

(२) प्रत्येक देशके मनुष्योंमें व उनकी वाह्य प्रकृतिमें कुछ कुछ विशेष लक्षण पाये जाते हैं। एक ही देशमें और एकही प्रकृतिमें उत्पन्न तथा प्रतिपालित मनुष्योंकी वाह्य प्रकृति एक ही प्रकारकी होनेसे तथा उनके परस्पर संश्लिष्ट रहनेसे उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ भी एकरूप हो जाती हैं। इस प्रकार एकरूपता ही स्वदेश व जाति-के प्रति प्रेमभावका गूढ़ कारण है और यही कारण पुरुषपरम्परासे जातीय जीवनमें कार्यकारी होनेसे प्रत्येक जातिमें एक मौलिक जातीयभावकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे उत्पन्न जातीय भाव एक जातीय जनोंकी अन्तःकरण-निर्माण-विशेषता तथा नाना वाह्य सादृश्योंके द्वारा प्रकट होता है। उनमेंसे आकार व रूपसादृश्य, भाव व चिन्तासादृश्य, धर्म व आचारसादृश्य, भाषा व उच्चारणसा-दृश्य और राज्यशासन व सामाजिक रीतिसादृश्य इतने सादृश्य मुख्य हैं। अत. इन सब जातिगत सदृश वहिर्विषयोंके साथ जातीय-भाव रक्षाका घनिष्ठ सबन्ध होगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। जिस जातिमें कोई विशेष जातीयभाव नहीं है, उस जाति-

का जीवन ही व्यर्थ है। और भावहीन जातीय जीवन क्षणप्रभाकी तरह क्षणकाल स्थायी भी है। अतः हिन्दुनेताको चाहिये कि हिन्दु-समाजको उन्नतिके लिये हिन्दुभावोंकी सुरक्षा तथा उन्नति करें। आर्यजातीय भावोंमें विदेशीय या विजातीय भावान्तरोंका प्रवेश कदापि न होने देवें और धर्म, आचार, भाषा, सामाजिक रीति आदि भावजनित जातीय वहिःसादृश्योंके दृढ रखनेके विषयमें सदा ही चेष्टा करें। व्यष्टि व समष्टि जीवनके एक ही रूप होनेसे प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें निम्नतम स्तरसे लेकर उच्चतम स्तरपर्यन्त जितने भाव होते हैं, पृथिवीके समस्त समाजमें उन्नतिके स्तरभेदानु-सार उतने ही भाव होते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे समस्त जातीय व्यष्टि व समष्टि जीवनमें तारतम्यानुसार भावोंके दस स्तर देखनेमें आते हैं (क) केवल अपने ऊपर अनु राग। यह भाव बहुत ही निकृष्ट है। जहांपर ऐसा भाव मनुष्योंमें प्रबल होता है, वहां कोई जाति या समाज नहीं बन सकता और-पहलेसे कुछ बना हुआ हो तो वह भी टूट जाता है। इस भावमें जातीय जीवन या सामाजिक जीवनका अङ्कुर तक नहीं जम सकता। (ख) अपने परिवारवर्गके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे गृहपति अपने क्षुद्र गृहरूपी राज्यका अनुशासन भली प्रकारसे कर सकते हैं। हृदयकी उदारता अपनेमेंसे दूसरेके प्रति विस्तृत होनेका अभ्यास इस भावमें प्राप्त हो जानेसे सामाजिक जीवनका बीज इस भावमें उत्पन्न हो जाता है। (ग) बन्धुबान्धव व स्वजनोंके प्रति अनुराग। इस भावमें सामाजिक जीवनका पूर्वोत्पन्न बीज अंकुरित होने लगता है। (घ) निज ग्रामवासियोंके प्रति अनुराग। (ङ) निज प्रदेशवासियोंके प्रति अनुराग। इन दोनों भावोंके उदय होनेसे पूर्वोक्त सामाजिक जीवनके अङ्कुर पल्लवित होने लगते हैं। तदनन्तर छठा भाव (च) सजातिवात्सल्य या स्वदेशानुराग है। इस भावकी, वृद्धिके साथ साथ जातीय जीवन रूपी कल्पतरु पूर्णोन्नत होकर

शाखापल्लव तथा फलफूलोंसे सुशोभित होने लगता है। प्राचीन ग्रीक व रोमीयगण इस भावका विशेष गौरव करते थे और अपना जातिके जिन जिन महात्माओंमें ऐसा महान् भाव देखते थे उनकी देवताके सदृश पूजा करते थे। नवीन यूरोपीयोंमें भी इस प्रकारका भाव देखनेमें आता है। वे भी स्वदेश व स्वजातिवात्सल्यका गौरव करते हैं। परन्तु प्राचीन ग्रीक व रोमीयगण जिस भावसे ऐसा करते थे इनमें वह भाव प्रायः नहीं देखा जाता है। किसी यूरोपीय पण्डितने कहा है:—"स्वदेशानुरागरूपी वृक्षका मूल अभिमान है, इसकी शाखाप्रशाखा व पत्रादि बाह्य आडम्बर है, इसका काण्ड अन्य जातिके प्रति विद्वेष है, इसके फलपुष्पादि अपने देशकी समृद्धि और परदेशका पीडन भी है, वह एक गुणदोषमिश्रित उपधर्ममात्र है।" वर्त्तमान पाश्चात्य जातियोंमें उल्लिखित छठा भाव इसी प्रकारका मालूम होता है। (छ) स्वजातिसे किंचित् भिन्न अन्य जातीय लोगोंके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे छठे भावकी पर जातिविद्वेषरूप सङ्कीर्णता कम होने लगती है। यूरोपके प्रसिद्ध विद्वान् सस्कारक अगष्ट कोमटिके मतानुयायी पुरुषोंका अधिकार यहां तक है। (ज) मनुष्यमात्रके प्रति अनुराग। यह भाव बहुत ही उदार है। इसके उदय होनेसे परजातिविद्वेषरूपी अग्नि एकदम शान्त हो जाती है। सरलमना शिशुका यही भाव है और महात्मा ईसामसीहका भी यही भाव था। (झ) मनुष्यसे लेकर मनुष्येतर जीवमात्रके प्रति अनुराग। श्रीभगवान् बुद्धदेवका यही भाव था और बौद्धधर्मका भी यही अधिकार है। (ञ) सजीव, निर्जीव समस्त प्रकृतिके प्रति अनुराग और प्रकृतिके परपारमें विराजमान अवाङ्मनोगोचर परमात्मामें आत्मनिमज्जन। जगद्गुरु आर्यमहर्षियोंका यही भाव था और सनातन आर्यजातिका यही सर्वोत्तम आदर्श है। दशम भावके नीचेके किसी भावमें रहनेसे उसके ऊपरके भावों का अधिकार किसीको नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये उस निम्न-

भावके पक्षपाती बनकर ऊपरके भावकी निन्दा भी उस प्रकारके निकृष्ट या मध्यम अधिकारी कर सकते हैं। आर्यजातिके प्रति अन्य निम्नश्रेणीय जातियोंने जो कहीं कहीं कटाक्ष किया है उसके मूलमें भी यही कारण विद्यमान है। परन्तु दशम भावके अधिकारपर विराजमान जाति अन्य निम्नभावके अधिकारी जातिपर कभी कटाक्ष नहीं करेगी। क्योंकि ऊपरके भावोंके प्राप्त होनेसे नीचेके भाव नष्ट नहीं होजाते परन्तु ऊपरके भावोंमें ही लय हो जाते हैं। यही कारण है जिससे आर्यजाति अन्य जातीय भावोंपर कटाक्ष या उनकी निन्दा नहीं करती, किन्तु अपने अपने अधिकारके अनुसार सबके कल्याणकी ही चिन्ता करती है। इसी कारण आर्य्यगणके प्रधान धर्म्माचार्यकी आज्ञा है:—

> धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत्।
> अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म्मो मुनिपुंगव॥

तात्पर्य यह है कि जो धर्म्म अन्य धर्म्मको बाधा दे वह सद्धर्म्म नहीं है; कुधर्म्म है।

यह भी सिद्धान्त निश्चय है कि जिस मनुष्य या जातिमें ऊपरका कोई भाव है उसमें नीचेके भाव स्वतः ही होंगे; क्योंकि प्रकृति नीचेके भावोंसे पुष्ट होती हुई ऊपरके भावोंको प्राप्त करती है। इसलिये आर्यजातिमें सर्वोच्च दशम भावके साथ साथ और भी नौ भावोंके भी पूर्ण विकाश हैं। आर्यजातिमें प्रकृतिपारङ्गत ब्रह्मभावका उदय होनेसे उसके परिवारके प्रति अनुराग, ग्रामके प्रति अनुराग, देश व जातिके प्रति अनुराग आदि भाव नष्ट नहीं हुए हैं अधिकन्तु पुष्ट व विशुद्ध ही हुए हैं और ऊपरके उन्नत भावोंके समावेश होनेके कारण वे निम्नभावसुलभ मलिनतासे मुक्त व परम विशुद्ध हो गये हैं। अन्य जातिकी पारिवारिक प्रीति काममोहादिमूलक है, परन्तु आर्यजातिकी आदर्श पारिवारिक प्रीति गौरी, बटुक, जग-

दम्पा आदि दिव्यभावके सम्बन्धसे हुआ करती है। यथा—श्रीमद्भागवतमें,—

> आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
> भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः॥
> दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मयाऽतिथिः स्वयम्।
> अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥

आचार्य ब्रह्मकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, भ्राता मरुत्पतिकी मूर्ति और माता साक्षात् वसुन्धराकी मूर्ति है। भगिनी दयाकी मूर्ति, अतिथि स्वयं धर्मरूप, अभ्यागत अग्निकी मूर्ति और समस्त जीव आत्माके रूप हैं। यही आर्यजातीय प्रीति व पारिवारिक सम्बन्धके मूलमें दिव्य भावका समावेश है। आर्यजातिका स्वदेश व स्वजातिवात्सल्य पाश्चात्य जातियोंकी तरह उपधर्मरूपसे निन्दित नहीं हुआ है और इसमें अभिमान, बाह्य आडम्बर, परजातिके प्रति विद्वेष, परदेशपीडन आदि कलङ्क नहीं लगे हुए हैं। आर्यजातिका स्वजाति व स्वदेशवात्सल्य परजातिविद्वेषमूलक नहीं है, किन्तु स्वजातिप्रेममूलक है। क्योंकि आर्यजाति जानती है कि सत्वगुणसे ही वस्तुकी स्थिति होती है और तमोगुणसे संसारका नाश होता है। इसलिये तमोगुणसे उत्पन्न विद्वेष द्वारा कोई जाति कभी चिरकालव्यापिनी उन्नति नहीं कर सकती, किन्तु सत्वगुणसे उत्पन्न स्वजातिप्रीति द्वारा ही स्वजाति व स्वदेशकी अनन्तकालव्यापिनी उन्नति हो सकती है। आर्यजाति स्वदेशको कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र करके मानती है। दिगन्तव्यापिनी शिवशक्ति व महादेवी सतीके अवयव द्वारा स्वदेशका सर्वाङ्ग विनिर्मित है, ऐसा मानती है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंके मतमें भारतवर्ष महामाया सतीके अङ्गोंके १०८ विभागोंके अनुसार १०८ पीठोंमें विभक्त है। वे ही भारतवर्षके तीर्थस्थान हैं। और इसी कारण आर्यजाति रागद्वेषनिर्मुक्त विशुद्ध-

प्रेमसुधासिक्तान्तःकरण हो स्वदेश व स्वजातिकी सेवा करती है। यही आर्यजातिका आदर्श स्वदेश व स्वजातिप्रेम है। आर्यजातिके अष्टम व नवम भावजनित जीवानुरागमें अन्य जातियोंकी तरह अज्ञान-सुलभ हृदयदौर्बल्य अथवा आस्तिक्यविहीन मोहभाव नहीं है आर्यजाति एकात्मवादके सिद्धान्तपर आरूढ़ होकर समस्त संसारको गोविन्दका रूप जानकर "जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः" इस महामन्त्रसे जगज्जीवोंकी पूजा करती है। आर्यजातिके दशम भावमें अन्य समस्त भावोंकी सिद्धि व परिसमाप्ति है। इस दशम भावकी उदारताके द्वारा अनुस्यूत अन्य समस्त भावोंको देशकालानुसार परिपालन करके अन्तमें अन्तिम परब्रह्मभावमें जीवात्माको विलीन कर देना ही आर्यजातिका मौलिक जातीयभाव है। अतः सामाजिक नेताको इस आदर्शभावके प्रति दृष्टि रखकर इसीकी उन्नतिके साथ साथ हिन्दुजातीय जीवनकी उन्नति करनी चाहिये। सनातन धर्मके निम्नलिखित अङ्गोंकी पुष्टिके विना आर्यजातिमें उपर्युक्त आदर्शभाव रहना कठिन होगा। अतः निम्नलिखित विषयोंकी बीजरक्षाके लिये आर्यनेताका सदा ही सजग रहना चाहिये। जिससे आर्यप्रजामें ब्रह्मतेज व क्षात्रतेजकी बीजरक्षा हो, वर्णाश्रम धर्म नष्ट न हो सके, सतीत्वका तीव्र संस्कार आर्यनारियोंमेंसे विलुप्त न होने पावे, आर्यप्रजामें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनी रहे और साथ ही साथ जातिका लौकिक अभ्युदय भी होता जाय ऐसा उपाय करना परमकर्त्तव्य है। ब्रह्मचर्याश्रमके धर्मोंमें वीर्यरक्षा और यथार्थ विद्या प्राप्त करना मुख्य है, गृहस्थाश्रमके धर्मोंमें पञ्चमहायज्ञ साधन और यथाशक्ति सात्त्विक दानमें अधिकसे अधिक रुचि बढ़ाना ये मुख्य धर्म हैं, वानप्रस्थाश्रममें परोपकारव्रत, कामिनी काञ्चनका त्याग और निवृत्ति सम्बन्धीय नियम पालन करना अभ्युदयकारी धर्म है और संन्यासाश्रमके धर्मोंमें द्वन्द्वरहित होकर अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी समता स्थापन करना और प्रजामात्रकी

आध्यात्मिक उन्नतिके अर्थ आत्मोत्सर्ग करना ये निःश्रेयसकारी धर्म है। शूद्रोंमें मेधाबुद्धि और देशकी शिल्पोन्नति करना प्रशंसनीय धर्म है, वैश्योंका गोधनकी वृद्धि, कृषिकी उन्नति और वाणिज्यकी वृद्धिसे धनोपार्जन करना प्रधान धर्म है, क्षत्रियोंके लिये शारीरिक बल, शौर्य, स्वदेशानुराग और औदार्य ये उन्नतिकारी धर्म हैं। और ब्राह्मणवर्णके लिये विद्या, तप व त्याग ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं। और मनुष्यमात्रके कर्त्तव्योंमें स्वजातीय आचारोंकी रक्षा, स्वदेशो न्नति, स्वजातीयोन्नति, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञानवृद्धिमें यत्न करना प्रशंसनीय धर्म है। इन सब अधिकार भेदानुसार भिन्न भिन्न धर्माङ्गोंके पालनेसे ही आर्यजातिका आदर्शभाव अक्षुण्ण रहेगा। अतः इनके पालनकी ओर सामाजिक नेताओं दृष्टि रहनी चाहिये।

(३) पितृमातृहीन शिशुको अनाथ कहते हैं। पिताके अभावसे शिशुके रक्षणमें बाधा होती है और माताके अभावसे शिशुके पोषणमें त्रुटि होती है। इसलिये इस प्रकारके अनाथ शिशुके जीनेकी आशा भी कम रहती है। मनुष्यशिशुके विषयमें पिता माताका जो प्रयोजन है, मनुष्य समाजके विषयमें धर्म व भाषाका भी वही प्रयोजन है। धर्म समाजका पिता है, क्योंकि धर्मसे ही समाजका जन्म व रक्षा होती है, और भाषा समाजकी माता है, क्योंकि भाषाके ही द्वारा समाजकी स्थिति व पुष्टि होती है। धन, वाणिज्य, राजनैतिक स्वाधीनता आदिको खोकर समाज जीता रह सकता है, परन्तु जिन लोगोंमेंसे धर्म व भाषा नष्ट होगई है उनका कोई समाज या जातीय जीवन है ऐसा नहीं कह सकते। जगत्‌के इतिहासमें धर्म व भाषाके लोपसे जातीय अस्तित्व-लोपके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दक्षिण अमेरिकाके अनेक प्रदेशोंमें अभी तक उस देशके आदिम-निवासी अनेक इण्डियन लोग विद्यमान हैं। परन्तु उनका धर्म क्रिश्चान व भाषा स्पेनीय आदि होनेसे उन लोगोंमेंसे सामाजिक

जीवन या जातीय भाव सम्पूर्णरूपसे नष्ट होगया है। फलतः अन्यजातिके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म व भाषाके ग्रहण करनेसे सामाजिक उन्नति या स्वतन्त्रताका पथ एकबार ही बन्द होजाता है। अतः सामाजिक नेताको हिन्दु समाजमें धर्म और भाषाकी रक्षा तथा पुष्टिसाधनके विषयमें यत्नवान् होना पड़ेगा। धर्मकी रक्षाके लिये क्या क्या करणीय है सो पहले ही कह चुके हैं। अब भाषाकी रक्षाके विषयमें विचार किया जाता है। रोम-साम्राज्यकी प्रतिष्ठाके समय सिवाय ग्रीसके तत्साम्राज्यान्तर्गत किसी प्रदेशमें प्रादेशिक भाषा-शिक्षाका नियम नहीं था। प्रदेशीय सकल स्थानोंमें तथा अदालतोंमें भी रोमीय भाषा-लाटिनका ही प्रचार था। प्रादेशिक लोगोंकी सामाजिक रीतियाँ भी रोमीय अनुकरणसे रोमीयगणकी तरह होगई थीं। उन्होंने अपनी भाषा व रीतियोंको त्याग दिया था। इसका फल यह हुआ कि जिस समय रोम जातिका बल घट गया और दूसरी जातिने रोमपर अधिकार जमाया उस समय रोमको सहायता देना तो दूर रहा, उन सब प्रदेशवासियोंसे आत्मरक्षा भी नहीं हो सकी। केवल ग्रीस, जिसमें भाषा व रीति अपनी ही थी, कुछ दिनों तक शत्रुओंके आक्रमणसे बचा रहा। यह सब भाषाके नाशका ही परिणाम है। पहले ही कहा गया है कि जातीय भावका विकाश जातीय भाषाके द्वारा ही हुआ करता है। इस लिये जिस जाति या समाजमें जातीय भाषाका आदर नहीं है वहाँ जातीय भाव भी क्षणभंगुर होता है। विजातीय भाषाके साथ साथ विजातीय भावका भी अधिकार मनोदुर्गपर धीरे धीरे जम जाता है। नीचे एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। रोमजातीय वाग्मिप्रधान सिसिरो जिस समय सिलिसियाका शासन कार्य समाप्त करके रोमनगरीमें लौट आये, उस समय उनके किसी विपक्षी पुरुषने सेनेट सभामें कहा कि सिसिरोको एक पूरे प्रदेशका शासनभार मिलने पर भी उनसे कुछ नहीं करते बना, एक युद्ध भी उन्होंने

नहीं जाता और एक शत्रु भी उन्होंने नहीं मारा। इस कटाक्षके उत्तरमें विचारवान्, दूरदर्शी सिसिरोने कहा:—"मैंने सिसिलियामें जो कुछ किया है उससे उस प्रदेशके लोग चिरकालके लिये रोमको गुरुवत् मानेंगे अर्थात् मैंने सिसिलियामें रोमीय भाषा लाटिनकी शिक्षाके लिये १५० विद्यालय स्थापन कर दिये हैं जिसका फल यह होगा कि उस विद्यालयसे निकले हुए शिक्षित पुरुष रोमीय मन्त्रमें ही दीक्षित होकर रोमको ही अपना आदर्श करके मानेंगे।" सेनेट सभाने सिसिरोके उत्तरका सम्पूर्ण अनुमोदन किया था। अतः सिद्धान्त हुआ कि विजातीय भाषाशिक्षाके साथ साथ विजातीय भावका भी प्रभाव चित्तपर अवश्य ही हो जाता है। परन्तु देशकालके विचारसे अनेक समय विजातीय भाषा-शिक्षाके बिना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है। इस दशामें दोनों ओरकी सुविधा व बचावके लिये कर्तव्य यह होगा कि बाल्यकालसे विजातीय भाषाशिक्षाके पहले स्वजातीय भाषाका भी गौरव उसकी शिक्षाके द्वारा हृदयमें बद्धमूल कराया जाय और आगे अन्यभाषा शिक्षाके साथ साथ स्वदेशीय भाषाकी भी चर्चा रक्खी जाय। ऐसा होनेसे विजातीय भाषा शिक्षाका उतना प्रभाव चित्तपर नहीं होगा। हिन्दुसामाजिक नेताका कर्त्तव्य है कि समाजके मनुष्योंमें स्वजातीय देववाणी संस्कृत तथा साधारण राष्ट्र भाषा हिन्दीकी शिक्षाका जिससे अधिक प्रचार हो सो करें। अङ्गरेजी भाषाके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता सदे साहबने लिखा है:-"हम लोगोंकी भाषा एक अति महत् सुन्दर भाषा है। परन्तु जहाँ कहीं किसी अङ्गरेजी भाषाके शब्दसे काम निकल सकता हो वहाँ यदि कोई लाटिन अथवा फ्रेञ्च भाषाके शब्दको काममें लावे तो मातृभाषाके प्रति विद्रोहाचरण करनेके पापसे उसको फाँसी देकर अथवा उसका शरीर खण्ड विखण्ड करके उसको मृत्युका दण्ड देना उचित है।" सदे साहबकी तरह मातृभाषाप्रेम प्रत्येक हिन्दुके हृदयमें होना चाहिये तभी समाजमें आर्यभावकी रक्षा व वृद्धि

होगी। विना मातृभाषाकी उन्नतिके किसी जातिकी पूर्णोन्नति नहीं हो सकती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके स्वधर्मका पूर्ण विकाश नहीं हो सकता; मातृभाषाकी उन्नतिके विना कोई मनुष्यजाति शीघ्र सफलता लाभ नहीं कर सकती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशमें ज्ञानका पूर्ण-रूपसे विस्तार होना असम्भव है; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशका गौरव कदापि वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता; विना मातृभाषाकी उन्नतिके कोई जाति अपने स्वजातिभावकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकती और विना मातृभाषाकी रक्षामें सफलकाम हुए कोई मनुष्य कदापि पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। इस समय भारतवासियोंकी मातृभाषाके स्थानमें विशुद्ध हिन्दी भाषाको ही समझ सकते हैं। थोड़ासा यत्न करने पर ही यह भाषा सर्वसाधारण भारतवासियोंके लिये केन्द्ररूपसे स्थापित हो सकती है। फलतः अब दृढ़व्रत होकर विद्वान नेताको ऐसा यत्न करना उचित है जिससे एक वृहत् शब्दकोषके संग्रहसे और व्याकरण, दर्शन, काव्य व नाना आवश्यकीय ग्रन्थोंके प्रणयनसे यह मातृभाषा अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त हो सके। तदनन्तर परम पवित्र संस्कृत भाषाको पितृ-स्थानीय और हिन्दीभाषाको मातृस्थानीय करके ज्ञानराज्यमें लालित पालित होने पर भारतवासियोंका सब अभाव शनैः शनैः दूर हो सकेगा। इसलिये प्रथम तो हिन्दी भाषाकी पूर्णता सम्पादनके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है और दूसरे उच्च कक्षाओंमें संस्कृत भाषाकी शिक्षा सुगम रीति पर देते हुए साथ ही साथ मातृभाषाके द्वारा देशकाल ज्ञान सम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रोंका अध्ययन कराना युक्तियुक्त होगा। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त हो कि भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें एकमात्र हिन्दीभाषा ही मातृभाषा हो जाय तो बहुत ही लाभकी सम्भावना है। यदि ऐसा होनेमें अभी विलम्ब हो, तो अभी ऐसा यत्न होना चाहिये कि बङ्गाल, मद्रास, बम्बई, पञ्जाब आदि प्रान्तोंमें और देशीय रजवाड़ोंमें, कि जहांकी विभिन्न मातृभाषाएँ उनके

स्वतंत्र अक्षरोंसे लिखी जाती हैं, यहाँ प्रवृत्ति दिलाकर एकमात्र देवनागरी अक्षरोंका प्रचार करवाया जाय। ऐसा होने पर सार्वजनिक समोन्नति, विद्याका विस्तार और जातीय भावकी दृढ़तामें विशेष सहायता मिलेगी। अतः आदर्श नेताकी दृष्टि इस ओर अवश्य ही आकृष्ट होनी चाहिये।

(४) प्रत्येक जातिका मौलिक जातीय भाव जिस तरह जातीय भाषाके द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार जातीय आचारोंके द्वारा भी प्रकट होता है। बिना स्वजातीय आचारोंकी रक्षाके कोई भी जाति अपनी जातीयताको चिरकाल तक प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ नहीं होती। बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिका केवल विकाश मात्र है। जीवगणकी अन्तःप्रकृति जिन जिन भावोंसे सम्मिलित रहती है, उसके बहिर्लक्षण भी ऐसे ही भावमय हुआ करते हैं। इसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार सामुद्रिक शास्त्र द्वारा विद्वान लोग मनुष्यके बहिर्लक्षणोंको देखकर उसकी प्रकृति व प्रवृत्तिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्तःप्रकृतिसे बहिःप्रकृतिका इतना मिश्रसम्बन्ध है कि मनुष्यगणकी यावन्मात्र बहिश्चेष्टाओंके साथ उसका सम्बन्ध रहा करता है। प्रत्येक मनुष्यके खान, पान, उठना, बैठना, श्रवण, मनन, आचार, विचार आदि सब चेष्टाओंके देखनेसे ही उसके जातिगत विचारोंका निर्णय हो सकता है। इसी कारणसे तमोगुण-पक्षपातिनी एशिया व अफ्रिकाकी विशेष २ जातियोंके, रजोगुण पक्षपातिनी वर्त्तमान यूरोप व अमेरिकाकी विशेष २ जातियोंके और सत्वगुणपक्षपातिनी आर्य जातिके बहिराचारोंमें बहुत ही अन्तर देख पड़ता है। उदाहरणस्थल पर विचार कर सकते हैं इन तीनों मनुष्य जातियोंकी भाषा, परिच्छद, रीति, नीति, आहार, विहार आदि द्वारा स्पष्टरूपसे उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। आर्यजाति स्वभावसे ही जिस प्रकार आहार व विहार आदिकी पक्षपातिनी है, उस प्रकार यूरोपीय जातिका विचार देखनेमें नहीं आता। प्रत्येक जातिका

अपने जातिधर्मके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और उसका यह फल होता है कि आर्यजातिके सदाचारीगण अन्यजातिके आचारोंको देखकर उनको बालकके खेलकी तरह समझा करते हैं और उसी रीति पर अन्य यूरोपवासीगण भारतवासियोंकी रीति नीति पर कटाक्ष कर हास्य किया करते हैं। बहिर्भावसे अन्तर्भावका और अन्तर्भावसे बहिर्भावका मिश्र सम्बन्ध रहनेके कारण जिस प्रकार अन्तर्भावका प्रभाव बहिश्चेष्टाओंमें पड़ता है उसी प्रकार बहिः क्रियाओंका भी प्रभाव अन्तर्भाव पर पड़ा करता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्यजातिके योग्य नेतागण अपनी जातिके आचारोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर देख पड़ते हैं। पृथ्वीको मनुष्यजातियोंमेंसे किसीका आचार चाहे कैसा ही हो, चाहे किसी एक जातिका आचार उत्कृष्ट और दूसरीका निकृष्ट हो, अथवा चाहे किसीमें कुछ भी योग्यता रहे, परन्तु अपने जातिभावकी रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभी तक रह सकता है, जबतक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन और सदाचारमें दृढ़ और तत्पर रहता है। एक जाति जब अपने सदाचारोंको छोड़कर दूसरी जातिकी रीति, नीति, खानपान और आचारोंको ग्रहण करने लगती है, तब बहिर्लक्षणविचारसे उस जातिकी जातिगत विभिन्नताका नाश हो जाता है और साथ ही साथ कालान्तरमें उस जातिकी अन्त प्रकृतिका भी परिवर्तन होकर उसके पूर्वजातिभावका पूर्णरूपसे नाश हो जाता है और अन्तमें वह जाति *एक नूतन जाति बन जाती है। फलतः इस प्रकारके अनुकरण द्वारा* उस जातिका जीवन विनष्ट हो जाया करता है। एक जाति जब कभी दूसरी जातिसे जीती जाती है अर्थात् अन्यदेशवासीगण जब किसी दूसरे देशमें जाकर उस देशके निवासिगणको बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया करते हैं, तब प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि पराजित जाति क्रमशः विजेता जातिकी रीति, नीति, भाषा आचार और वेश-

आदिका अनुकरण करने लगती है । संसारमें दो शक्तियाँ देख पड़ती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति । गुरुशक्ति द्वारा लघुशक्ति अधिकृत हो जाती है इसी कारणसे गुरु सात्विक शक्ति द्वारा शिष्य को अधीन कर लेते हैं, धर्माचार्यगण अपने मतावलम्बिगणमें ईश्वर का अवतार कहलाने लगते हैं और इसी कारणसे जेतागण प्रथम तो अपनी राजसिक शक्ति द्वारा विजित जातिको बलपूर्वक अपने अधीन कर लेते हैं और फिर क्रमशः विजित जातिके आहार, विहार आदि सदाचारों पर भी अपना पूर्ण अधिकार स्वतः ही जमा सकते हैं । इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियमके अनुसार जगत्के इतिहासोंमें देखनेमें आया है कि सकल स्थानोंमें जेतागणकी गुरुशक्ति द्वारा पराजित जातिकी लघुशक्ति स्वतः ही दब गई है । और क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई गुरुशक्तिमें लयको प्राप्त हो गई है । इसी अपरिहार्य नियमके अनुसार जगत्‌विजयिनी प्राचीन यूनानी जाति रोमनशक्तिमें लयको प्राप्त होकर अब एक नूतन क्षुद्र जाति बन गई है । इसी नियमके अनुसार पुनः रोमन जातिका पूर्णरूपसे लोप होकर उसी भूमिमें एक नई इटालियन जातिका आविर्भाव हो गया है । भारतवर्षके अतिरिक्त और सब देशोंके इतिहास पाठ करनेसे यही प्रमाणित होता है कि जहाँ जहाँ जब कभी जेता जातिकी गुरुशक्तिने किसी पराजित जातिकी लघुशक्तिको अपने अधीन कर लिया है तो अंतमें उस विजित जातिका लोप ही होगया है । परंतु भारतवर्षके आर्यगण आज प्रायः दो सहस्र वर्षोंसे नाना जातियोंके द्वारा विजित होने पर भी अभीतक पूर्णरूपसे अपने स्वरूप व आचारको नहीं भूल गये हैं; आर्यजातिका यह एक अपूर्व महत्त्व है । हिंदू-समाजके नेताके हृदयमें इस महत्त्वकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये और जिससे हिंदू जाति अपने शास्त्रीय सदाचारोंसे भ्रष्ट न होजाय ऐसा यत्न नेता महापुरुषको सदा करना चाहिये ।

(५) आचारके साथ साथ चरित्रकी उन्नति भी सामाजिक

उन्नतिमें परम सहायक हुआ करती है। जिस जाति या समाजमें चरित्रका उच्च आदर्श नहीं है वह जाति या समाज कदापि उन्नत नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होनेके कारण जिस जातिके अतीत जीवनके गर्भमें जिस प्रकार आदर्श चरित्रका बीज रहता है उस जातिमें भविष्यत् जीवनका आदर्श भी उसी प्रकारका होता है। जिस जातिका अतीतजीवन गौरवमय संस्कारयुक्त नहीं है, उस जातिका भविष्यत् जीवन भी गौरवमय बन नहीं सकता। कारण, गौरवमय अतीतजीवन बीजके बिना गौरवमय भविष्यत् जीवन वृक्ष बन नहीं सकता। जिस देशके प्राचीन जीवनमें भीष्म-पितामहका संस्कार विद्यमान है उसी देशमें भविष्यत्में भी भीष्म-पितामह उत्पन्न हो सकते हैं। जिस देशके अतीत जीवनमें ज्ञानी महर्षियोंके चरित्रका आदर्श विद्यमान रहता है, उसी देशमें ज्ञानी महर्षियोंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके अतीतजीवनमें सतीधर्मका संस्कार विद्यमान नहीं है उस जातिके भविष्यत् जीवनमें सतीत्वका आदर्श उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस आर्य्यजातिके अतीत जीवनमें श्रीशङ्कराचार्य जैसे सन्यासीका आदर्श विद्यमान है, उसी आर्यजातिके भविष्यत् जीवनमें सन्यासका यथार्थ आदर्श उत्पन्न हो सकता है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

यह भगवान्का वाक्य है। जो है नहीं, सो आ नहीं सकता और जो है उसका अभाव भी नहीं हो सकता। अत. प्रत्येक जातिको अपने सामाजिक जीवनका आदर्श पूर्ववर्ती महात्माओंके आदर्शपर बनाना चाहिये। यह आदर्श जिस जातिमें जितना उच्च होगा उस जातिका जातीय चरित्र व उद्देश्य भी उतना ही उन्नत होता है। उस आदर्शके प्रति श्रद्धाभक्ति जितनी गम्भीर होती है, जातीय धर्मनिष्ठा भी उतनी ही गम्भीर होगी। उस आदर्शके अनुरूप होनेके लिये जितनी यत्नशीलता होती है, जातीय उन्नति भी उतनी

ही होती है। इस प्रकार विचार करने पर जातीय आदर्श निम्नलिखित आठ श्रेणीमें विभक्त किया जा सकता है। यथाः—

(क) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सामान्य संस्कारयुक्त है, उस जातिकी सभ्यावस्था हीन है।

(ख) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श आंशिक उत्कृष्ट है, उसकी सभ्यावस्था भी पूर्ण नहीं हो सकती अर्थात् उसकी सभ्यावस्था भी आंशिक होती है।

(ग) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सुसंस्कृत है, उसकी सभ्यावस्था भी उत्कृष्ट है।

(घ) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श दूसराके सम्बन्धसे उत्कर्ष लाभ करता है, उसकी सभ्यावस्था उन्नतिशील है।

(ङ) जहाँपर चित्तादर्श समभावापन्न रहनेपर भी उसके प्रति अनुराग व उसकी साधन चेष्टा है, वहाँकी सभ्यावस्था सजीव है।

(च) जहाँपर चित्तादर्श समभावापन्न किन्तु उसके प्रति अनुराग कम होता जाता है, वहाँकी सभ्यावस्था पतनप्रवण समझनी चाहिये।

(छ) जहाँपर चित्तादर्श पहले जैसा था उससे मलिन होने लगा है, वहाँपर सभ्यावस्था भी पतनशील समझनी चाहिये।

(ज) और जिस जातिका चित्तादर्श सुसंस्कृत व तत्प्रति अनुराग भी बलवान् है परन्तु उसकी साधनचेष्टा कम हो गई है, उस जातिकी सभ्यावस्था उत्तम परन्तु स्थगित गति समझनी चाहिये।

अब इन आठ प्रकारके चित्तादर्शोंका हिन्दुसमाज व जातिके प्रति प्रयोग करके विचार करना चाहिये। हिन्दुजातिके आदर्श नर-नारी श्रीरामचन्द्र व सीता हैं। हिन्दुजातिके शिरोभूत ब्राह्मणोंके आदर्श महर्षि वसिष्ठ और सन्यासीके आदर्श महर्षि याज्ञवल्क्य व श्रीशङ्कराचार्य हैं। हिन्दुजातिमें त्यागी व ब्रह्मचारीके आदर्श भीष्मदेव, गृहस्थके आदर्श राजर्षि जनक और पूर्णताके आदर्श भगवान्

श्रीकृष्ण हैं। इन सब आदर्शोंसे उच्चतर आदर्श क्या कभी किसी देशमें प्रकाशित हुआ था? कहीं नहीं। अतः हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था,पूर्वोक्त तृतीय सूत्रानुसार सर्वोत्तम है यह निश्चय हो गया। हिन्दुजातिके हृदयसे इन सब आदर्शोंके प्रति श्रद्धा भक्ति क्या कुछ कम हो गई है? कुछ भी नहीं। अतः पूर्वसिद्धान्तानुसार स्वभावतः हिन्दुजाति परम धार्मिक है ऐसा स्वीकार करना होगा। हिन्दुजाति अपने अपने कार्योंमें क्या उन सब आदर्शोंकी अनुकरणचेष्टा करती है? नहीं, आज कल बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसा प्रयत्न करते हैं। हिन्दुजातिकी चेष्टाशक्ति कम होनेसे हिन्दु उत्कृष्ट सभ्यावस्थायुक्त व परम धर्मशील होनेपर भी उनकी सभ्यावस्था वर्त्तमान समयमें स्थगितगति हो गई है। अतः सिद्धान्त हुआ कि हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था अष्टम सूत्रके अन्तर्गत है अर्थात् यह उत्कृष्ट किन्तु स्थगितगति है। परन्तु कोई भी समाज स्थगितगति होकर बहुत दिनों तक रह नहीं सकता। या तो वह चतुर्थ अथवा पञ्चम सूत्रके अन्तर्गत होकर उत्कर्ष लाभ करता है या षष्ठ अथवा सप्तम सूत्रसे अन्तर्गत हो हीन हो जाता है। हिन्दू सामाजिक नेताका कर्तव्य है कि जिससे अपने समाजके लोगोंमें प्राचीनत्वके प्रति मर्यादा नष्ट न हो जाय और समाजके हृदयमें प्राचीन महापुरुषोंके आदर्शपर जीवन गठन करनेकी इच्छा व चेष्टा बनी रहे ऐसा उपाय व पुरुषार्थ वे करें। ऐसा उपाय करनेसे भारतके इस दुर्दिनमें भी हिन्दुगृहस्थ नरनारियोंमें रामसीताके आदर्शकी बीजरक्षा, ब्राह्मणोंमें महर्षि वसिष्ठके आदर्शकी बीजरक्षा, त्यागी व ब्रह्मचारियोंमें पितामह भीष्मदेवके आदर्शकी बीजरक्षा और संन्यासियोंमें भगवान् याज्ञवल्क्य व शङ्कराचार्य्यके आदर्शकी बीजरक्षा अवश्य होगी। परार्थपरता ही हिन्दुजीवन व हिन्दुसमाजका सार तत्त्व है। त्याग, संयम धर्मभीरुता, क्षमा, दया, धैर्य्य, पवित्रता, सन्तोष आदि

देवदुर्लभ गुणावली ही हिन्दुसमाजका भूषण है। शान्ति ही आर्य्य-जातिकी चिरसहचरी है। दुःखका विषय है कि आधुनिक हिन्दु-जीवनमें शिक्षा, सङ्ग व अनुकरणके दोषसे महर्षिदुलभ परार्थपरता दिन व दिन विलुप्त होकर ऐहलौकिक स्वार्थपरताकी वृद्धि हो रही है। जिस जातिके लिये श्रीभगवानने—

"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"

केवल अपने लिये भोजन पकाना पापभोजन मात्र है ऐसा कह कर परार्थपरताकी पराकाष्ठाका उपदेश किया है, उस जातिके पवित्र जीवनमें आज विजातीय कुसङ्गके कारण स्वार्थपरताका कलङ्क लग रहा है। किसी नवशिक्षित पुरुषने कहा था—"महाशय! उस कार्य्यमें मेरा स्वार्थ है तब मैं उसे क्यों नहीं करूँगा?" "इसलिये उसे नहीं करना चाहिये कि उसके करनेसे परार्थ नष्ट होता है" ❀❀❀ "परार्थ रक्षा करनेमें मेरा इष्ट क्या है" ❀❀❀ "परार्थकी रक्षा ही तुम्हारा इष्ट है।" "परार्थ रक्षामें परका इष्ट है मेरा इष्ट नहा है" विचार समाप्त हो गया। मालूम हुआ कि इतने दिनों तक पवित्र शास्त्रशिक्षाके प्रभावसे हिन्दु हृदयमें परार्थताका जो भाव प्रविष्ट हुआ था, विजातीय शिक्षा व सङ्गके प्रभावसे सो एक बार ही नष्ट हो गया। हिन्दुजातीय पवित्र चरित्रमें इन्हीं सब कुभावों-का प्रभाव आज कल पड रहा है। अतः हिन्दुनेताकी दृष्टि इस ओर आकृष्ट होनी चाहिये और विचारके साथ उल्लिखित जातीय चरित्र की आदर्शरक्षाके प्रति उनको पूर्ण पुरुषार्थशील होना चाहिये।

यह बात यहाँ पर कह देना अवश्य ही युक्तियुक्त होगा कि इस प्रकार हिन्दुजातीय चरित्रकी आदर्शरक्षाके लिये वर्णोंके नेता ब्राह्मण और वर्णोंके गुरु तथा आश्रमोंके नेता सन्यासियोंके वर्त्तमान आचार विचारोंका संस्कार अवश्य ही होना उचित है। वे दोनों ही वर्णाश्रमधर्मके शीर्षस्थानीय हैं। अतः उनकी पुनरुन्नति हुए बिना आर्य्यजाति या समाजकी स्थायी उन्नति नहीं होगी। ब्राह्मण चारों

वर्णोंमें प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य्य प्रजाके सदा चालक होते आये हैं। अतः ब्राह्मणगण जितनी योग्यता प्राप्त करेंगे, समाजमें उनका जितना आदर बढ़ेगा, चातुर्व्वर्ण्यका उतना ही कल्याण हो सकेगा। अस्तु, ब्राह्मण जातिकी उन्नति पर ही प्रधानतः आर्य्य-जातिकी उन्नति निर्भर हो रही है। शरीरमें मस्तक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग होनेसे मस्तकके बिगड़नेसे सारा शरीर बिगड़ता है और उसके ठीक रहनेसे ही सारा शरीर ठीक रहता है। हिन्दुसमाज रूपी विराट् शरीरका मस्तक ब्राह्मण व संन्यासी हैं अतः इनकी स्वरूप-स्थितिके ऊपर ही हिन्दुसमाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति पूर्णरूपसे निर्भर है।

तमोगुणकी अधिकताके कारण तथा ब्राह्मणजातिमें विद्याका बहुत ही अभाव होनेके कारण ब्राह्मणोंकी दृष्टि अब बहुधा धनकी ओर पड़ी है और तपसाधन करना ब्राह्मणगण भूल रहे हैं। अतः विद्याप्रचारके साथही साथ ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि उनका धन सुवर्ण आदि नहीं हैं किन्तु उनका परम धन विद्या है, ब्राह्मण-गण जितना समझेंगे कि उनका भूषण ऐश्वर्य्य नहीं है किन्तु उनका भूषण केवल त्याग और तप है, उतनी ही उस जातिकी पुनरुन्नति होगी। समाजमें यह प्रथा प्रचलित होना उचित है कि धनके द्वारा ब्राह्मणोंकी मर्यादा न बाँधी जाय, किन्तु केवल तपशक्ति, त्याग-प्रवृत्ति और विद्याको देखकर ब्राह्मणोंकी मर्यादा बाँधी जाय। जिससे उत्तर भारत और दक्षिण भारतके ब्राह्मण भ्रातृसम्बन्धसे परस्पर मिल सकें, ऐसा यत्न करना होगा; महाराष्ट्रब्राह्मण, बंगाली ब्राह्मण आदि देशविभागोंसे जो ब्राह्मण जातिका विभाग बँध गया है, उन सब ब्राह्मणसमाजोंमें परस्पर सौहार्दस्थापन होकर एक दूसरेमें जो अनाचार हैं, उनको दूर करते हुए उनमें जहाँ जहाँ सदाचार हैं उनको परस्परमें ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति की जाय, तभी ब्राह्मणजाति-की उन्नति हो सकती है। पंचगौड़ और पंचद्राविड़ ब्राह्मणोंमें इतना

वैमनस्य हो गया है कि गृहस्थाश्रमकी ही दशामें वे एक दूसरेसे अलग रहते हैं, यही नहीं किन्तु संन्यासाश्रम ग्रहण करने पर भी उनका वैमनस्य दूर नहीं होता; उस दशामें भी उनका पृथक खानपान, उनकी पृथक प्रवृत्ति बनी रहती है। अस्तु, समाजानुशासनकी प्रवृत्ति करते हुए, आचारका संशोधन कराकर, इस प्रकारके अशास्त्रीय वैमनस्यको दूर करके ब्राह्मणजातिके पारस्परिक प्रेमका सहायता परस्परको लेना उचित है। ब्राह्मणोंमें अविद्याके विस्तारके साथ ही साथ पुरुषार्थप्रवृत्ति एकबार ही नष्ट हो गई है। अतः इस श्रेष्ठ जातिमें जब तक निष्काम पुरुषार्थकी पुनः प्रवृत्ति न होगी, जब तक वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रम गुरु सन्यासियोंमें श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदुके कर्मयोगविज्ञानकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी, तबतक इस अधःपतित आर्यजातिकी पुनरुन्नति व हिन्दुसमाजका पुनरभ्युदय होना बहुत ही कठिन है।

आजकलके सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करने लगते हैं कि ज्ञानवान होनेपर ही या सन्यास आश्रमधारी होनेपर ही जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है। ब्रह्मणगणमें जहाँ कुछ तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति हुई उसी समय वे समझने लगते हैं कि बस अब हाथ पाँव हिलाना अनुचित है। गृहस्थगण ऐसा विचारकर यह निश्चय करने लगते हैं कि साधुओंको और कुछ भी करणीय नहीं रहता, उनको केवल इतना ही उचित है कि या तो वे लोकालय और मनुष्यसमाजको त्यागकर निर्जन वनमें जाकर एकान्तसेवी हो जायँ अथवा मूक, निष्क्रिय, पुरुषार्थहीन होकर जड़वत् हो रहें। दूसरी ओर आजकलके नानारूपधारी सन्यासाश्रममें प्रवृत्त हुए साधुगणमें वैसा ही प्रकार दृष्टिगोचर होता है। आजकलके भिक्षु आश्रमधारी साधकोंमें आलस्य, पुरुषार्थहीनता, पारलौकिक स्वार्थपरता, परोपकारवृत्तिका त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनका अभाव आदि वृत्तिसमूह देखनेमें आता है। इस विषयमें

ग्रन्थान्तरमें पूर्णरूपसे विचार व शास्त्रप्रमाणद्वारा सिद्ध किया गया है कि बिना निष्कामकर्मानुष्ठानके साधकको कभी पूर्णता-प्राप्ति हो ही नहीं सकती; क्योंकि त्रिविध शुद्धियां जो कि पूर्णताकी साधक हैं, उनमेंसे आधिभौतिकशुद्धि बिना निष्कामकर्म साधनके हो हो नहीं सकती और निष्काम कर्मानुष्ठान द्वारा अपनी सत्सत्ता परमात्माकी सत्सत्तासे मिलाये बिना जीवत्वका परिच्छिन्न भाव कदापि नष्ट नहीं हो सकता। अतः संन्यासियोंको कर्मत्याग करना पूर्णतया शास्त्रविरुद्ध है। इसके सिवाय तमःप्रधान-कलियुगमें निष्कामकर्मयोगके बिना तमोमूलक आलस्य प्रमादादि दोष दूर करनेका और कोई भी उपाय नहीं है। हिन्दु समाजके मुकुटमणिरूप संन्यासिगण आज जो घृणाकी दृष्टिसे देखे जा रहे हैं, उनको भिक्षा देना तो दूर रहा, उनका नाम सुनते ही गृहस्थलोग घबड़ाने लगते हैं, सहस्रों प्रकारके अनाचार, दुराचार, स्वार्थपरता, लोभ, द्रविणलालसा, इन्द्रियभोगप्रवृत्ति, आश्रम व जीवनभ्रष्टकारी दुर्गुण आजकल साधु संन्यासिगणमें प्रायः देखनेमें आते हैं, यह सब संन्यासजीवनमें पुरुषार्थशीलताके अभावका ही फलरूप है। यदि केवल भारतके साधु व संन्यासी ही संयमी, जितेन्द्रिय, ईषणा त्रयहीन व निष्कामव्रतपरायण हो जायँ तो वे हिन्दुसमाजकी वर्त्तमान हीन अवस्था एक दिनमें ही सुधार सकते हैं। क्योंकि जहाँ समाजशीर्षस्थ ब्राह्मण व संन्यासी सुधरे, वहाँ ब्राह्मणसे अतिरिक्त सब जातिका कल्याण व अभ्युत्थान अवश्यम्भावी है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः ब्राह्मण व संन्यासियोंके सुधारपर सामाजिक नेताकी दृष्टि आकृष्ट होनी चाहिये।

(६) बिना शिक्षाके कोई भी जाति या समाज उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि शिक्षाही मनुष्यके यथार्थ मनुष्यत्व-विकासका कारण है। हिन्दूनेताको चाहिये कि हिन्दु नर नारियोंमें स्वजातीय शिक्षा-

व यथार्थ मनुष्यत्वका विकाश हो सकता है । हिन्दु रमणियोंको सतीधर्म रक्षाके अनुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे और पुरुषोंको प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कराकर धर्मानुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे इस समयके सामाजिक प्रबल रोगमें सुपथ्यप्रयोग हो सकता है। यदि स्त्रियों और पुरुषोंके लिये उपयोगी स्वतन्त्र सत्‌शिक्षाका प्रचार नहीं किया जायगा तो विरुद्ध फल अवश्यम्भावी है । यूरोप व अमेरिकामें धर्मानुकूल सत्‌शिक्षाके अभावका ही कारण है कि वहाँकी स्त्रियाँ दिन प्रतिदिन पुरुषभावापन्ना और विपथगामिनी होती जाती हैं। आर्यसन्तानोंमें जिस प्रकारकी आजकल शिक्षा हुआ करती है उससे दिन प्रतिदिन आर्यजनोंमें स्वार्थपरताकी वृद्धि होती जाती है अर्थात् आर्यसन्तानोंकी दृष्टि शरीरसम्बन्धी व्यापारों पर ही बढ़ती जाती है और उनमेंसे धर्मभाव व निष्कामकर्तव्यका नाश होता जाता है। जबतक सदाचार एवं धर्मशिक्षाकी शैलीका प्रचार उनमें न होगा, तबतक कदापि आर्यजातिकी उन्नति होनी सम्भव नहीं है। बालकोंको जिस प्रकारसे आज कल पढ़ाया जाता है उस प्रकारके अभ्यास द्वारा वे कदापि सदाचार व धर्मशिक्षामें अपने आप उन्नत नहीं हो सकेंगे। आजकल केवल मुखसे जो 'धर्म' 'धर्म' कहनेकी रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्मसे हिन्दुसमाज व जातिका कल्याण होना असम्भव है। जबतक धर्मके साधनपर भारतवासियोंकी हार्दिकी रुचि नहीं बढ़ेगी, तब तक वे कदापि उन्नतिको नहीं प्राप्त करेंगे। जिस शिक्षाके द्वारा इच्छाशक्तिका वेग और उसकी स्फूर्त्ति धर्मानुकूल होकर अपने स्वाधीन व सफलकाम होती है, जिस शिक्षाप्रणाली द्वारा मनुष्योंमेंसे स्वार्थपरताका नाश होकर स्वजाति प्रेम और जगत्‌के कल्याणकी बुद्धिका अधिकार प्राप्त होता है, उसी शिक्षाको यथार्थ शिक्षा कहते हैं। परन्तु दुःखका विषय है कि आजकल संस्कृत पाठशाला व चतुष्पाठी आदिमें शिक्षाप्रणालीकी असम्पूर्णताके कारण उल्लिखित शिक्षाप्रणाली

का अभाव और साथ ही साथ लौकिक ज्ञानका भी अभाव देखनेमें आता है। और स्कूल कालेजोंकी शिक्षामें लौकिक ज्ञान प्राप्तिका उपाय रहने पर भी धर्ममूलक अन्यान्य शिक्षाका पूर्ण अभाव देखनेमें आरहा है। अतः हिन्दुनेताका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे हिन्दु-जीवनमें यथार्थ शिक्षाका अंकुर उत्पन्न करें। यथार्थ विद्याकी प्राप्तिके लिये प्राचीन ऋषिकालके आदर्श पर नवीन पठन शैलीका आविष्कार किया जाय और साथ ही साथ धार्मिक शिक्षा देनेका प्रधान लक्ष्य रक्खा जाय। विद्यार्थिगण किस प्रकारसे यथार्थ विद्याको प्राप्त कर सकते हैं, कैसे वे ब्रह्मचर्य व्रतके अधिकारी हो सकते हैं, कैसे वे देशकालज्ञ व स्वदेशहितैषी बन सकते हैं, कैसे वे अपने स्वार्थको कम करते हुए वर्णाश्रम धर्मकी उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं और कैसे वे अपने अभावोंका संकोच करते हुए ज्ञानवान् होकर मनुष्यत्वको प्राप्त कर सकते हैं, इसकी खोज सदा की जाय और जो जो सुगम उपाय निश्चित होते जायँ उन्हींके अनुसार स्कूल, कालेज तथा संस्कृत विद्यालयोंमें शिक्षा प्रणाली प्रचलित कराई जाय।

पूज्यपाद महर्षियोंने अज्ञान नाशकारिणी और ज्ञानजननीको विद्या कहा है। इस समय विद्याके नामसे जो शिक्षा दी जाती है वह यथार्थ विद्याकी शिक्षा नहीं है। वह आर्यसिद्धान्तके अनुसार विद्याशिक्षारूपसे अभिहित नहीं हो सकती। उससे केवल अर्थोपार्जनकी योग्यता और देशकालका ज्ञान हुआ करता है, उससे न आत्माका अज्ञान नाश होता है और न उससे अध्यात्म विद्याकी प्राप्ति होती है। आर्य्यजातिके लिये ऐसी शिक्षाप्रणालीका जारी होना उचित है कि जिसमें उपर्युक्त दोनों लक्षण पाये जायँ। अर्थात् जिस शिक्षाप्रणालीमें लौकिक अभ्युदयके सब सामान रहनेपर भी जिसका अन्तिम लक्ष्य ज्ञानजननी विद्याके चरणोंमें ही रहे वही आर्य्यजातिके लिये सत्‌शिक्षा है।

लौकिक शिक्षाके प्रचार करनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका

विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्मके क्रियासिद्धांशकी शिक्षा देनेमें और वेद तथा वैदिक विज्ञानकी शिक्षा देनेमें अवश्य ही वर्णाश्रमके अधिकारका विचार रखना कर्त्तव्य है। परन्तु आर्यजातिके पुनरभ्युदयके अर्थ जब तक सार्वजनिक शिक्षाका विस्तार न किया जायगा तबतक सफलताकी सम्भावना नहीं है। भारत विजयके समय मुसलमान जेता कितना सेनादल लाये थे? भारतको अपने अधीन करते समय अङ्गरेज जातिके साथ कितनी सेना थी? सातसौ वर्षोंके मुसलमान साम्राज्यमें छःकोटि मुसलमान और सौ वर्षोंके ईसाई साम्राज्यमें एक करोड़ ईसाई हो जानेका कारण क्या है? अर्थलोलुप विदेशीय वणिकोंके थोड़े ही यत्न द्वारा भारतवर्षके अमूल्य शिल्पराशिका नाश क्यों हो गया है? परमोदार, समदृष्टिसम्पन्न सनातन धर्ममें घोर अमङ्गलकर साम्प्रदायिक विरोधका कारण क्या है? जिन महर्षियोंके उपदेश समूहमें कहीं भी अन्यधर्म विद्वेषका छाया मात्र भी नहीं पाई जाती, उनके ही वंश घरोंमें स्वधर्मविद्वेषका घोर अनल प्रज्वलित होनेका प्रधान कारण क्या है? जिस आर्यजातिके आदिनेता और आदिशिक्षक पूज्यपाद महर्षिगण अपने स्वार्थको सम्पूर्णरूपसे त्याग करते हुए केवलमात्र जगत् कल्याणकामनाके वशीभूत हो परोपकारव्रतपरायण होकर जीवन निर्वाह करते थे, आज उनके ही वंशसम्भूत—क्या गृहस्थ और क्या सन्यासी—घोर आलस्यपरायण, स्वार्थपर और प्रमादग्रस्त होकर प्राचीन परिचय देते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हैं? विचार करने पर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्षकी सकलश्रेणीको हिन्दु-प्रजामें अज्ञानका घोर प्रभाव ही इसका प्रधान कारण है। सार्वजनिक शिक्षासे ही यह अभाव दूर हो सकेगा। अतः इस प्रकार जातीय उन्नतिकर शिक्षाके प्रति हिन्दुनेताका ध्यान अवश्य ही रहना चाहिये।

(७) केवल अनुकरणके द्वारा कोई भी समाज या जाति उन्नति

नहीं कर सकती; क्योंकि दूसरे किसीका अनुकरण अपनेपनको नष्ट करता है। विजातीय अनुकरण स्वजातीय भावको तिरस्कृत करता है, जिसमे स्वजातीय उन्नतिका पथ कण्टकाकीर्ण हो जाता है। पृथ्वीके इतिहासमें अनेक चित्र इस प्रकार देखे गये हैं कि एक जाति अन्य जातिका अनुकरण करती हुई अन्तमें अपनी जातीयता व पृथक अस्तित्वको खो बैठी है और क्रमशः दूसरी जातिमें लय ह होगई है। इसलिये विजातीय अनुकरण सर्वथा परित्याज्य है। स्वजातीय उद्भावन ही उन्नतिका सेतु है, विजातीय अनुकरण अवनतिका द्वार स्वरूप है। उद्भावनमें हृदय, मस्तिष्क, प्रतिभा, बुद्धि आदिकी स्फुर्ति होती है, अनुकरणमें ये सभी स्फूर्त्तियाँ नष्ट होकर स्वाधीन सन्धान प्रवृत्ति समूल उन्मूलित होकर क्रमशः चित्तमें परतन्त्रताका भाव उत्पन्न होता है और अन्तमें विजातीय भाव समस्त हृदयको ग्रास कर लेता है। इस प्रकार अनुकरण परायण हतभाग्य जाति या समाजकी दृष्टिमें कुछ दिनोंके बाद स्वजातीय या स्वसामाजिक कोई भी भाव या आदर्श उत्तम प्रतीत नहीं होता। यहाँ तक कि स्वकीय पूर्वजों व पिता माताओंका भी आदर्श उनकी दृष्टिमें निकृष्ट मालूम होने लगता है, वे सब विषयोंमें दूसरोंके शिष्य हो जानेमें ही अपना गौरव समझते हैं। पूर्वजोंके दोष दर्शनमें ही अपनी विद्वत्ता व प्रत्नतत्त्व ज्ञानका परिचय समझते हैं और पिता-माता तथा देशाचार व धर्ममर्यादाकी निन्दा करनेमें सदा ही तत्पर दिखाई पड़ते हैं और इस महापापका फल यह होता है कि कुछ दिनोंके बाद ऐसी जाति या समाज चिरकालके लिये काल-समुद्रमें डूब जाता है। अतः सामाजिक नेताको चाहिये कि वे अपने समाजको सदा ही इस प्रकार विजातीय अनुकरण-प्रवृत्तिसे बचा रक्खें; समाजके हृदयमें उद्भावनके गौरवको परिस्फुट करें जिससे नवीन जातीय-भावमूलक उद्भावनके द्वारा सामाजिक उन्नतिका द्वार उन्मुक्त हो जाय।

कोई जाति जब अन्य किसी जाति पर राजसिक अधिकार स्थापन करती है तो विजित जातिके अन्तःकरणमें जेता जातिके सकल प्रकारकी चेष्टाओंका अनुकरण करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे उपरोक्त परिणाम विजित जाति पर होना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु इस प्रकारके अनुकरणमें दोषका अनुकरण ही अधिक हो जाता है; क्योंकि गुणकी अपेक्षा दोषका अनुकरण सहज है। इसका फल यह होता है कि इस प्रकारकी जातीय सद्भावभ्रष्ट, विजातीय कुभावकदर्य, परतन्त्र जाति कुछ दिनोंमें ही एक "किम्भूतकिमाकार" घृणित रूपको धारण कर लेती है। वसुन्धराके विराट् शरीरमें पूयपूर्ण व्रणकी तरह इस प्रकारकी जातिका अस्तित्व ही पृथिवीमाताके लिये कष्टकर हो जाता है। इस दशामें उल्लिखित दुर्दशासे जातिकी रक्षाके लिये केवल दो उपाय हो सकते हैं (क) वस्तुका अनुकरण न करके भावका अनुकरण करना। (ख) विजातिके अन्तर्गत अनुकरणीय विषयोंको इस तरहसे हृदयङ्गम करना कि उससे स्वजातीय मर्म नष्ट न होकर उज्ज्वलतर होजाय। दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। किसी जेता जातिकी स्वदेशीय शिल्पोन्नतिके प्रति विशेष दृष्टि है; जिससे विदेशीय शिल्पके प्रति उपेक्षा करके भी वह स्वदेशीय शिल्पकी ही उन्नतिका प्रयत्न करती है। अब इस विषयमें विजित जातिका अनुकरणीय विषय यह होना चाहिये कि जेताजातिके इस स्वजातिशिल्पप्रियतारूप भावका अनुकरण करें, अर्थात् अपने जातिगत शिल्पकी उन्नतिके लिये न्यायसङ्गत और उचित उपायका अवलम्बन करें, यही भावका अनुकरण होगा। द्वितीय उपायका दृष्टान्त यह है:—किसी जेता जातिमें पदार्थविद्या या सायन्सकी विशेष उन्नति हुई जिससे विजित जातिमें उसके अनुकरणके प्रति विशेष आसक्ति उत्पन्न हुई, इस दशामें दो भाव हो सकते हैं, यथाः—विदेशी पदार्थविद्याका प्रत्यक्ष फल देखकर स्वदेशी सूक्ष्म विज्ञानका गौरव भूला

जाय और उसकी निन्दा की जाय; या विदेशी पदार्थविद्याका ज्ञान प्राप्त करके स्वदेशी पूर्वजोंके द्वारा प्रदर्शित आचार व अन्यान्य सामाजिक व आध्यात्मिक विषयोंके मूलमें भी सूक्ष्म सायन्सकी गम्भीर भित्तिका अन्वेषण किया जाय और संसारको बताया जाय कि अन्यान्य देशके सायन्सवालोंने जो कुछ वर्षोंसे बताया है हमारे पूर्वजोंने वे सब विषय लाखों वर्ष पहलेही बताये हैं। पूर्व भाव अनुकरणका दोष और द्वितीय भाव यथार्थ अनुकरण है। क्योंकि ऐसा होनेसे ही अनुकरणीय विषयोंके द्वारा स्वजातीय मर्यादाका नाश न होकर उसकी और भी पुष्टि व उज्ज्वलता होगी। विजित जाति यदि उल्लिखित दोनों उपायोंके साथ जेताजातिका अनुकरण करे तो कोरे अनुकरणके कुफलसे बचकर समाज व जातिका कल्याण, पूर्वजों की गौरवरक्षा तथा आत्मोन्नति कर सकेगी। अतः सामाजिक नेताको अपने समाजमें इन उपायोंका प्रचार करना चाहिये।

(८) यह बात पहले ही कही गई है कि जिस जातिमें स्वजातीय मनुष्योंमें दोषाघ्राण-प्रवृत्ति है उस जातिमें गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते; क्योंकि गुणदर्शन-प्रवृत्तिकी समवेत शक्तिके द्वारा ही देशमें गुणवान् व विभूतियुक्त नेताओंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके प्रत्येक मनुष्योंमें परछिद्रान्वेषण प्रवृत्ति है, उस जातिके सकल मनुष्योंके ही हृदय दोषदर्शन-प्रवृत्तिके द्वारा कलुषित हो जाते हैं और एतादृश कलुषित समाज या जातिमें शुद्ध उदारहृदय महापुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते। यही कारण है कि पराधीन व हीन जातिमें दोषदर्शन-प्रवृत्ति और स्वाधीन व उन्नतिशील जातिमें गुणदर्शन-प्रवृत्तिके लक्षण देखनेमें आते हैं। भारतकी वर्त्तमान सामाजिक हीन दशामें दोषदर्शन-प्रवृत्तिकी बहुत ही वृद्धि हो रही है। हिन्दुसमाज मेंसे गुणपक्षपातका भाव दिन दिन नष्ट होता जाता है और स्वधर्म व स्वजातिके विद्वेषकी वह्नि अत्यन्त प्रबल भावको धारण कर रही है। हम अपने जातिभाई या एकधर्मी भाई की उन्नति देखकर जल-

मरते हैं और अत्यन्त ईर्षान्वित होकर यत्न करते हैं कि जातिभाई किसी तरहसे समाजकी दृष्टिमें पतित होजायँ और उनकी उन्नति नष्ट हो जाय। किसी मनुष्यको या मनुष्यसंघको किसी अच्छे कार्यको करते हुए देखनेसे ही हमारा चित्त ईर्ष्यासे जल जाता है और हम उस महत्कार्यमें बाधा डालनेकी चेष्टा करते हैं, भीतर भीतर विरोध बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं और गुप्त या प्रकाश्यरूपसे उस कार्यकी या उन मनुष्योंकी निन्दा करते रहते हैं। इन सब जातीय महापापोंके कारणसे ही हिन्दुसमाजकी दुर्दशा हो रही है और इसमें न कोई महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं और न किसी महत्कार्यमें सिद्धि ही लाभ हुआ करती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये सामाजिक समस्त मनुष्योंको दोष दर्शन प्रवृत्ति छोड़कर गुणके पक्षपाती बनना चाहिये। स्वधर्म-विद्वेष व स्वजाति-विद्वेषके भावको एकदम त्याग कर देना चाहिये और जहाँ पर कुछ भी गुण हो उसीका आदर व उसको उत्साह प्रदान करना चाहिये। संसार त्रिगुणमयी मायाका लीलाक्षेत्र है। इसमें सत्वगुण, रजोगुण व तमोगुण सर्वत्र ही रहते हैं। श्रीभगवान्ने कहा है:—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"

प्रत्येक कार्य्य ही धूमावृत अग्निकी तरह दोषावृत होता है। शुद्ध सात्विक, सर्व सद्गुणाधार, दोषलेशवर्जित मनुष्य या कार्य्य संसारमें नहीं मिल सकता, क्योंकि परिणामशाल संसारमें पूर्णता कहीं भी नहीं पाई जाती। जहाँ मायाका कुछ भी सम्पर्क है वहाँ कुछ न कुछ असम्पूर्णता है। अतः हम चाहें कि किसी मनुष्यमें सब गुण ही गुण हों, एक भी दोष न हो, सो कदापि सम्भव नहीं हो सकता। अतः विचारवान् पुरुषको चाहिये कि हंसकी तरह दोषके प्रति उपेक्षा करके जिस मनुष्यमें या जिस कार्य्यमें जितना गुण हो वह उसीका ग्रहण व योग्य सत्कार करे, कदापि दोषदर्शी न बने। ऐसा करनेसे ही अपनी व जातिकी उन्नति अवश्य होगी। गुण-

पक्षपातके साथ साथ तिरस्कार व पुरस्कारकी पद्धति भी अवश्य ही समाज़में प्रचलित होनी चाहिये, अर्थात् गुणी पुरुषका यथा-योग्य पुरस्कार और गुणहीनका तिरस्कार होना चाहिये। आजकल हिन्दू-समाजमें तिरस्कार तथा पुरस्कारकी प्रथा बहुत ही बिगड़ गई है। यहाँपर सदाशय, सरलचेता, गुणी व्यक्ति प्रायः उपेक्षित होते हैं और कपटाचारी दुर्गुणी ठगोंकी पूजा व आदर हुआ करता है। इसका यही विषमय परिणाम हो रहा है कि गुणी पुरुष समाजमेंसे दिन प्रति दिन घटते जाते हैं और विषकुम्भ पयोमुख कपटाचार गुणहीन पुरुषोंकी ही संख्या दिन प्रति दिन बढती जाती है और अन्धे समाजकी दृष्टिमें ऐसे ही मनुष्य नेता व पूज्य गिने जाते हैं। जहाँ पर नेतृत्वका भार ऐसे कपटाचारी दुर्गुणी पुरुषोंके हाथमें हो उस समाजमें मनुष्योंकी क्या दुर्गति होगी सो सभी लोग अनुमान कर सकते हैं। किसी महान् पुरुषमें विशेष योग्यता व गुण होने पर भी समाजकी ओरसे उत्साह, सहायता व सत्कार न मिलनेसे वह गुण या योग्यता प्रकट होने नहीं पाती, अरण्यमें प्रस्फुटित पुष्पकी तरह अरण्यमें ही उसका नाश हो जाता है। अतः हिन्दू-जातिमें प्राचीन गुणगरिमाको पुनः प्रतिष्ठाके लिये गुणपक्षपातके साथ ही साथ जिससे तिरस्कार पुरस्कारकी भी शुद्ध रीतिका प्रचलन हो, ऐसा उपाय सामाजिक नेताओंको अवश्य करना होगा। जिससे तीर्थोंमें व धर्मस्थानोंमें विद्वान् ब्राह्मणोंका सत्कार बढ़े तथा मूर्ख ब्राह्मणोंकी अप्रतिष्ठा हो, जिससे समाजमें तथा सामाजिक नेताओंके द्वारा विद्वान्, शक्तिशाली व सच्चरित्र पुरुषोंकी अधिक सेवा हो सके, जिससे देशी रजवाडों, राजा, महाराजा जमींदारों और सेठ साहूकारोंके द्वारा विद्वान् ब्राह्मणोंकी जीविकाकी वृद्धि हो, इसका प्रयत्न सदा ही करना उचित है। गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका मूलरूप है। अतः सदाचारी गृहस्थगण जिससे समाजमें अधिक रूपसे सम्मानित हो सकें, इसका उपाय करना

कर्तव्य है। गृहस्थोंके पुरोहित आदि पद जिससे योग्य व्यक्तियोंके हाथमें दिये जायँ, जिससे तपस्वी, भक्तिमान् व सदाचारी ब्राह्मण कर्मकाण्डके अधिष्ठाता बनें ऐसा लक्ष्य रखना होगा। जिससे कुलगुरु मूर्ख होनेपर भी उससे दीक्षा ग्रहणकी अन्धपरम्पराकी शैली उठकर ज्ञानवान् त्रितापहारी व्यक्तिसे गुरुदीक्षा लेनेकी शैली समाजमें प्रचलित हो, जिससे ढोंगी, मूर्ख और कपटवेशधारी साधु संन्यासियोंका आदर घटकर तपःस्वाध्यायनिरत त्यागशील तत्त्वज्ञानी और निष्काम-कर्मयोगी साधु संन्यासियोंका आदर समाजमें बढ़े और जिससे कपटाचारी स्वार्थी व्यक्ति समाजके नेतृत्वपदको प्राप्त न कर सकें इसका प्रयत्न होना चाहिये। ब्रह्मचर्य्य आश्रमका पुनःप्रवर्त्तन कराते समय यही लक्ष्य रक्खा जाय कि विद्यार्थिगण सदाचारी, संयमी, चरित्रवान्, स्वदेशहितैषी, निःस्वार्थव्रतधारी, कर्त्तव्यपरायण और सद्गृहस्थके उपयोगी बन सकें। जहाँ कुछ भी गुणका लक्षण देखा जाय, सहस्र सहस्र दोषोंको भूलकर वहाँ उसी समय उसको उत्साहित किया जाय। पदार्थविद्या, अध्यात्मविद्या, शिल्पकला आदि किसी विद्यामें किसी प्रतिभासम्पन्न पुरुषके द्वारा कोई भी नवाविष्कार होनेसे तन मन धनके द्वारा उसमें सहायता की जाय जिससे उसके आविष्कर्त्ताका उत्साह शतगुण वर्द्धित होकर उसे अपने कार्य्यमें विशेष निष्ठा वा तत्परता प्राप्त हो। इस प्रकारसे मधुकरकी नाईं समाजके प्रत्येक मनुष्यमें गुणग्राहिता वृत्तिके उदय होनेसे हिन्दु-समाजरूपी कल्पतरु शीघ्र ही अपूर्व उन्नति-फलको उत्पन्न करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः सामाजिक नेताको उल्लिखित उन्नतिके उपायोंके प्रति अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये।

(६) हिन्दू-शास्त्रमें सकल अवस्थामें ही शारीरिक, मानसिक व आत्मिक अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक प्रकृतिके अनुकूल चलनेको ही धर्म्म व उन्नतिका कारण माना

गया है। साधक अपनी त्रिविध प्रकृतिके अनुसार ही साधन करके उन्नतिको लाभ कर सकता है। कर्मयोगी देश कालकी प्रकृतिके अनुसार ही सत्पुरुषार्थके अनुष्ठान द्वारा कर्मयोगमें सिद्धि लाभ कर सकता है। नदीवक्षमें भासमान तरणी प्रवाह व वायुकी प्रकृतिके अनुकूल ही चलकर गन्तव्य स्थानमें पहुँच सकती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक समाजकी उन्नति भी देशकाल तथा युगकी प्रकृतिके अनुसार हो सकती है। प्रत्येक युगमें जीवोंकी उत्पत्ति युगधर्मानुसार हो हुआ करती है, अतः उन्नतिके लिये युगधर्मका विचार करना प्रशस्त है। भगवान् वेदव्यासजीने इसी युगधर्मका विचार करके ही चार युगोंमें उन्नतिके चार उपाय बताये हैं। यथाः—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघशक्तिः कलौ युगे॥

सत्ययुगमें ज्ञानकी शक्तिके द्वारा, त्रेतामें मन्त्रकी शक्तिके द्वारा, द्वापरमें युद्धकी शक्तिके द्वारा और कलियुगमें एकताकी शक्तिके द्वारा जातिकी उन्नति होती है। अतः श्रीभगवान् वेदव्यासजीके उपदेशानुसार इस युगमें समाज व जातिकी उन्नतिके लिये एकता ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है ऐसा निश्चय हुआ। पृथ्वीके इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे इस सिद्धान्तकी सत्यता अक्षरशः अनुभव होती है। वर्त्तमान समयमें पृथ्वीभरकी जो जो जातियाँ व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक समस्त उन्नतिके सर्वोच्च सोपानपर आरूढ़ हैं उनकी उन्नतिके मूलमें एकताकी शक्ति ही कारणरूपसे निहित है। आज जो हिन्दूसमाज व हिन्दूजाति अवनतिके अन्ध कूपमें डूब रही है इसका भी कारण एकताका ही अभाव है। भारतमाता रत्नप्रसविनी होनेपर भी हिन्दूसन्तान जो आज दरिद्र हैं, तानका अन्न भाण्डार भारतमें भरा रहने पर भी हिन्दूजाति जो आज

"येवकूफोंकी जाति" कहलाती है, अनन्त शिल्पोंका आकर भारतवर्षमें होनेपर भी जीवनयात्रा व लज्जानिवारणके लिये आज जो हिन्दूजातिको परमुखापेक्षी होना पड़ता है, अनन्त शक्तिका बीज ऋषिसन्तान आर्यजातिके हृदयमें प्रच्छन्न रहनेपर भी आत्मरक्षाके लिये आज जो आर्यजातिको परनिर्भरताका आश्रय लेना पड़ता है, वेदान्तका एकात्मवाद सर्वत्र प्रचारित होनेपर भी हिन्दू समाजके प्रतिगृहमें ईर्ष्या, द्वेष या कलहका दावानल धक धका कर जल रहा है, यह सब हिन्दूजाति व समाजमें एकताके अभावका ही विषमय फल-स्वरूप है। अतः हिन्दू सामाजिक नेताओं समाजके मनुष्योंमें परस्पर ऐक्यस्थापन करनेके लिये सदा ही उद्युक्त होकर उदार व दूरदर्शितापूर्ण उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये। मतभिन्नता, रुचिवैचित्र्य व व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामाजिक एकताकी सिद्धिमें प्रधान अन्तराय हैं। हिन्दूजातिमें जातीय जीवन आजकल नष्टप्राय होनेसे व्यष्टिगत मतभिन्नता व रुचिवैचित्र्यके द्वारा समाजकी बहुत हानि हो रही है। सभी नेतृत्व पदाभिलाषी व्यक्ति चाहते हैं कि मेरी ही सम्मति मानी जाय, मेरी रुचिके अनुसार ही कार्य हो और यदि मेरी सम्मति व रुचि उपेक्षित हो तो समाजकी उन्नति नहीं होनी चाहिये और ऐसा समाज टूट जाना चाहिये और हम सारा पुरुषार्थ इसके तोडनेके लिये ही लगावेंगे। इस प्रकारका भाव प्रायः सभीके हृदयमें विद्यमान है और इसीलिये सामाजिक उन्नतिकर प्रत्येक कार्यमें हजारों लड़ाई झगड़े व विपत्तियाँ झेलनी पडती हैं जिससे उन्नतिका पथ अति दुर्गम हो जाता है। समाज किसीकी व्यक्तिगत रुचि या रायका परिणाम नहीं है। परन्तु समष्टिगत रुचि व रायका ही फलरूप है। इसलिये हमारी राय मानी जाय तब समाज रहे अन्यथा टूटे और हम ऐसे समाजको तोड़ देंगे यह प्रकार सर्वथा न्याय व विचारसे विरुद्ध है। सामाजिक समस्त कार्योंमें ही अपनी रुचि व सम्मतिको सबकी रुचि व सम्मतिके

साथ मिला देना होगा। अपनी रुचि व सम्मतिमें कुछ व्यक्तिगत पक्षपात रहे तो उसे भी समष्टिभावमें विलीन कर देना होगा और सबकी कल्याणकामनासे पाक्षिक भावको छोड़ देना होगा तभी उन्नति कर समस्त सामाजिक कार्य्यमें एकता प्राप्त हो सकेगी। अन्यथा विरोध व विरक्ता पारस्परिक विकार बढ़ कर समाजको नष्ट कर देगा। सामाजिक समस्त पुरुषोंको ही व्यष्टिजीवन व समष्टिजीवनका पार्थक्य हृदयङ्गम करना चाहिये और समष्टिजीवन यज्ञमें व्यष्टिजीवनकी आहुति प्रदानके अर्थ सदैव सन्नद्ध रहना चाहिये। सामाजिक एकताका तीसरा अन्तराय व्यक्तिगत स्वार्थ है। इस प्रकार स्वार्थके द्वारा दो तरहसे समाजकी हानि होती है। एक—समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि करना और दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक स्वार्थमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना। आजकल समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिपरायण मनुष्योंकी कमी हिन्दूसमाजमें नहीं है। इस प्रकार नीचाशय मनुष्य किसी न किसी स्वार्थसे समाजमें सम्मिलित होते हैं या हो सके तो समाजके नेता बनते हैं और समाजका गला घोटकर अपनी स्वार्थसिद्धि करनेके लिये भीतर भीतर सदा ही प्रयास करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यके हृदयमें समाजकी कल्याण-चिन्ता न रहकर केवल अपनी स्वार्थ सिद्धिकी चिन्ता ही रहनेसे वे सभी सामाजिक कार्योंको व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धिकी ओर खींचनेका प्रयत्न करते हैं और सामाजिक उन्नतिके लिये अत्यावश्यकीय होनेपर भी ऐसा कोई भी कार्य समाजमें नहीं होने देते जिससे उनकी स्वार्थ सिद्धि न हो या उसमें बाधा हो। जिसका यह फल होता है कि समाजके लोगोंमें कुछ दिनोंके बाद ही भीषण मनोमालिन्य व मतभेद उत्पन्न होकर समाज एकदम रसातलको पहुँच जाता है। अतः इस प्रकार एकता-अपकारी नीच मनुष्योंसे समाजको सदा ही बचाना चाहिये। दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक कल्याणकर

कार्यमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना है। समाज जब सार्वजनिक स्वार्थका ही साधक है तो बिना व्यक्तिगत स्वार्थका सङ्कोच किये कोई भी समाज कार्यकारी नहीं होसकता। सबके कल्याणके लिये अपने स्वार्थका अवश्य ही सङ्कोच करना पड़ता है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थके साथ एक व्यक्ति या एक परिवारका और सामाजिक स्वार्थके साथ अनेक व्यक्ति या अनेक परिवारोंका मिश्रसम्बन्ध होनेसे अनेक समय व्यक्तिगत स्वार्थ व सामाजिक स्वार्थका सामञ्जस्य नहीं रहता। उस दशामें वृहद् सार्वजनिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये व्यक्तिगत स्वार्थके त्याग देनेसे ही समाजमें एकता व उन्नति हो सकती है। अन्यथा जो मनुष्य उस समय व्यक्तिगत स्वार्थके लिये सामाजिक स्वार्थको तुच्छ करते हैं या उदासीनता अवलम्बन करते हैं उनके द्वारा न कोई सामाजिक कार्य हो सकता है और न समाजमें एकताकी प्राप्ति हो सकती है। आजकल हिन्दूसमाजमें इस प्रकार स्वार्थी मनुष्योंका अभाव नहीं है और यही कारण है कि इतना प्रयत्न होने पर भी हिन्दूसमाजकी उन्नति यथोचित नहीं देखनेमें आती। अतः सामाजिक नेताओंका कर्त्तव्य है कि समाजमेंसे एकताके अन्तरायस्वरूप इन सब कण्टकोंका उद्धार करें।

(१०) सफलताका बीजमंत्र नियम है। उन्नतिशील नियम ही धर्म है और धर्मके द्वारा सफलताका लाभ हुआ करता है। स्वाभाविक अनियमित उद्दाम प्रवृत्तिको जो शक्ति नियमित करे उसीका नाम धर्म है। इस लिये नियमहीन अनर्गल कार्य अधर्म कार्य कहलाता है। अनुशासनके द्वारा ही नियमकी रक्षा हुआ करती है। यह प्राकृतिक अनुशासनका ही कारण है कि सूर्यदेवके उदयास्तसे नियमितरूप से दिन और रातका समागम होता है। यह दैवानुशासनका ही कारण है कि जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार पवनदेव वायुका संचार करते हैं, वरुणदेव नियमित समयपर जल बरसाते हैं और

षड्ऋतु अपने अपने समयपर प्रकट होकर जीवोंकी पुष्टि तथा आनन्दवर्द्धन करते हैं। यह प्रकृतिमाताके अनुशासनका ही कारण है कि वृक्ष, लता, गुल्म, ओषधि आदि नियमित समयपर मनोमुग्धकर पुष्पोंसे सुसज्जित होते हुए नियमित समयपर ही जीवोंको फल दान किया करते हैं। यह राजानुशासनका ही फल है कि प्रजा शान्तिसुखका उपभोग करती हुई संसारयात्रामें अग्रसर होती है। यह वेदानुशासन और योगानुशासनका ही फल है कि धार्मिकगण साधनमार्ग द्वारा क्रमशः उन्नति करते हुए अन्तमें दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। और यह एक मात्र अनुशासनका ही फल है कि प्रजा राजाके और राजा प्रजाके, हितचिन्तनद्वारा मनुष्य-समाजका कल्याण साधन किया करते हैं। अतः मनुष्योंकी क्रमोन्नतिके अर्थ, अनुशासन (organisation) की अत्यन्त आवश्यकता है समाज जब एक जातीय व समोद्देश्यपूर्ण मनुष्यसंघका ही विशेष नाम है तो समाजोन्नतिके मूलमें भी सामाजिक अनुशासनकी अत्यावश्यकता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दू सामाजिक नेताका परम कर्त्तव्य है कि वे अपने समाजकी उन्नतिके लिये सामाजिक अनुशासन (Social organisation) की सुकौशलपूर्ण तथा देशकालानुकूल व्यवस्था अवश्य करें। इस समय भारतवर्षके सम्राट् अन्य धर्मावलम्बी होनेके कारण सामाजिक विषयोंमें राजदण्डकी पूरी सहायता हिन्दूजातिको नहीं मिल सकती, परन्तु समाजदण्डका पुनः प्रवर्तन करना हिन्दुसमाजके ही हाथमें है, जो इस समय सामाजिक अनुशासनके द्वारा लब्ध हो सकता है। सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठाद्वारा राजदण्ड व समाजदण्ड दोनोंका काम निकल सकता है और साथ साथ वेदानुशासन और आचार्यानुशासनके प्रचारमें भी सहायता पहुँच सकती है। समाजानुशासनकी उन्नतिके बिना आर्य्यजातिकी वर्त्तमान घोर दुःखदायिनी पीड़ाका नाश कदापि नहीं हो सकता। परन्तु प्राचीन कालमें जिस प्रकार सामाजिक अनुशासनका रीति

थी इस रीतिमें अब कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। देश, काल और पात्रके परिवर्तनसे रुचि और अधिकारका परिवर्तन हुआ करता है। अतः प्राचीन कालमें ग्राम और नगरोंमें समाजपतिको जो अधिकार देनेकी रीति थी, उस समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र जातिके लिये जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र पञ्चायत स्थापन करनेकी विधि थी, उस समय वंशपरम्परासे जो कुछ अधिकार दिया जाता था, तथा एक ग्राम अथवा नगरके साथ दूसरे ग्राम अथवा नगरका इस विषयमें कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता था, एक देश वा नगरकी पञ्चायतसे दूसरे देश अथवा नगरकी पञ्चायतके साथ कोई सम्बन्ध स्थापन करनेकी रीति नहीं थी, उन सब रीतियोंमें इस समयके उपयोगी कुछ कुछ परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता होगी। इस समयके देशकालपात्रानुरूप नियम बनाकर सामाजिक अनुशासन स्थापित करना पड़ेगा। पञ्चायती शक्ति अर्थात् संघशक्तिकी जो प्रथा बहुत कालसे इस देशमें प्रचलित थी, इस समय उसको संस्कृत करके उन्नत करना होगा। इस समय सामाजिक अनुशासन की बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिकाके मनुष्य समाजमें देखनेमें आती है। वहाँ अन्य उपधर्म तथा अनार्य्य रीतियोंके प्रचलित होनेके कारण वहाँके मनुष्य समाजमें बहुत प्रकारकी सामाजिक शिथिलता है; परन्तु सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी जो कुछ रीतियाँ यूरोप और अमेरिकामें प्रकट हुई हैं वे सब बहुत ही दृढ़ नियमयुक्त और प्रशंसनीय हैं। वहाँके मनुष्योंमें बहुधा सामाजिक अनुशासन इतना दृढ़ और शक्तिशाली है कि वे उनके द्वारा राजाके बिना भी अपने देशका सम्पूर्ण राजसिक प्रबन्ध चालित करनेकी प्रथा किसी विशेष देशमें चला रहे हैं। फ्रान्स और यूनाईटेड् स्टेट्का प्रजातन्त्र राजनियम (Republic form of Government) उसी सामाजिक अनुशासन शक्तिका असाधारण फल है। आर्य्य महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार यूरोप व अमे

रिकाके उक्त राजनैतिक सिद्धान्तोंमें अनेक असम्पूर्णताएँ हैं तथापि उनके राजनैतिक कौशलपर विचार करनेसे अवश्य सिद्धान्त होगा कि वहाँके मनुष्योंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियाँ प्रचलित हैं। वहाँकी सामाजिक राजनैतिक तथा नाना विद्या सम्बन्धी सभाओंकी गठनप्रणाली पर विचार करके इस समयके आर्य्यगण अपनी जातिमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेमें निःसन्देह बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। उन देशोंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके वहाँके मनुष्यगण चाहे राजनैतिक और व्यापार सम्बन्धी और ही प्रकारका लाभ उठाते हों, परन्तु इस विषय में उन्होंने इतनी उन्नति की है कि आजकलकी आर्य्यप्रजा उनकी प्रबन्धशैलीकी सहायतासे, अपनी धर्मोन्नतिके अर्थ, सामाजिक अनुशासनकी विधिमें लाभ उठा सकती है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि ब्रिटिश द्वीपके अधिवासियोंने सब राज्यभरमें व्यापार और धनकी वृद्धिके लिये "को आपरेटिव यूनियन" (Co-operative union) नामसे जो सामाजिक शक्ति उत्पन्न की है उसकी सफलता पर विचार करनेसे हिन्दुमात्र ही चकित होंगे। इस महासभाके द्वारा ब्रिटिशजातिने थोड़े ही कालमें इतनी बड़ी लौकिक शक्ति प्राप्त की है कि जिसके सुप्रबन्धसे उस राज्यभरमें सहस्रों शाखाएँ स्थापित हो गई हैं और ऐसा ग्राम अथवा नगर नहीं है कि जहाँ धन और व्यापारकी वृद्धिके लिये उनका स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित न हो गया हो। समाजके प्रधान प्रधान नेतागण इस महासभाके सभ्य हैं और जातिके धन समागम और व्यापार की नियमबद्ध उन्नतिके अर्थ जैसा चाहे वैसा ही कार्य्य यह महासभा कर रही है। व्यापार सम्बन्धमें राजगणको भी इस महासभाका परामर्श स्वीकार करना पड़ता है, तथा व्यापारसम्बन्धी शिक्षा लोकसमाजमें प्रचलित करनेके लिये यह महासभा प्रधान सहायक है। इसी प्रकारसे ब्रिटिश जातिकी राजनैतिक महासभाके सभ्य-

गणके चुनावकी शैली, उस राज्यकी वैज्ञानिक महासभा और उसकी शाखाओंकी गठनप्रणाली तथा वहांके विश्वविद्यालय आदि विद्याप्रचारसम्बन्धी सभाओंकी प्रशंसनीय प्रबन्धप्रणालीपर जितना लक्ष्य डाला जाता है उतनी ही उस जातिकी सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी असाधारण योग्यता जानी जाती है। हिन्दूजाति तथा हिन्दू सामाजिक नेता इस समय अपने समाजमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके धर्मके अभ्युदय शिल्प तथा जातीय व्यापारकी वृद्धि, समाजकी उन्नति और विद्याके प्रचारके अर्थ अवश्य ही पश्चिमीय जातियोंको सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी महाशनीय र निर्योमेंसे बहुतसे उपयोगी नियमोंकी सहायता ले सकते हैं। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ सहायता पश्चिमीय जातियोंसे अनुशासनके विषयमें ली जाय सो अपने धर्म तथा आचारके विरुद्ध फल उत्पन्न न कर सके, किन्तु केवल सामाजिक अनुशासनके बाँधनेमें ही सहायक हो, ऐसा रीतियोंको ही ग्रहण करना सर्वथा कर्त्तव्य होगा।

हिन्दुजातिमें सामाजिक अनुशासनकी धर्मयुक्त प्रणाली प्रचलित करनेके अर्थ तथा उसके द्वारा भारतवर्षव्यापिनी एक सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेके लिये विशेष विचार, धैर्य व दूरदर्शिताके साथ सामाजिक नेताको ऐसी एक विराट् सभा स्थापित करना होगी जिसके द्वारा धर्मोन्नति, समाज संस्कार, अर्थ कामकी वृद्धि तथा विद्या प्रचारके सम्बन्धमें सभी प्रकारके पुरुषार्थ हो सकें। भारतवर्षके सकल प्रान्तोंमें इस विराट् सभाके प्रान्तीय केन्द्रसमूह तथा तदन्तर्गत शाखा सभासमूहके स्थापन द्वारा नियमबद्ध प्रबन्ध प्रणालीका विस्तार करना चाहिये और जिसमें स्थानीय तथा प्रान्तीय धर्माचार्य, नरपतिगण व गण्यमान्य व्यक्ति इन सब केन्द्रोंके पृष्ठपोषक व सहायक हों ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। इस प्रकारसे सारे भारतवर्षमें विराट् सभाके अधीन होकर एक सूत्रमें बद्ध हुआ या प्रादेश

प्रान्तीय केन्द्र तथा उनके अधीन सहस्रों सभाएँ यदि एकमत होकर धर्मपुरुषार्थमें प्रवृत्त हों तो थोड़े ही कालमें हिन्दू जातिमें, सामाजिक धर्मशक्तिका आविर्भाव होना निश्चित है और धर्मकी उन्नतिके साथ ही साथ हिन्दु जातिके इहलौकिक-सभी-प्रकारकी उन्नति होना निश्चित है। विराट् सभा तथा प्रान्तीय केन्द्रसमूह लोकसंग्रह व धनसंग्रह द्वारा अपनी शक्तिकी वृद्धि करके शाखा सभाओंको सम्हाल रक्खें और शाखासभाएँ साक्षात्‌रूपसे वर्ण व आश्रमधर्मकी उन्नति करती हुई ज्ञानविस्तारकी सहायतासे अपनी सभाओंके अधिकारोंको दृढ करके जाति एवं देशकी उन्नतिमें यत्नवान हों, योग्य पुरुषोंको पुरस्कृत और धर्मविरुद्ध निरङ्कुश व्यक्तियोंको तिरस्कृत करके समाजकी दृढता सम्पादन करें तथा साथही साथ धर्मके रहस्योंका प्रकाश करके प्रजाको धार्मिक बनावें। अयोग्य पुरुषोंके तिरस्कार और शासन करनेकी रीति प्रचलित करनेमें अपेक्षाकृत कुछ कठिनता पड़ेगी; परन्तु इस जातीय विराट् धर्मसभाकी गठनप्रणालीकी उत्तमता होनेपर यह कार्य भी सुगमतापूर्वक चल सकेगा। असम्मानका विचार, लोकसमाजका भय और जीवनके सुखोंमें असुविधा आदि ही दण्डमें हुआ करता है। यदि विराट् सभाकी प्रबन्धशैली दृढ़ हो तो अयोग्य पुरुषोंको अपनी रीतिपर शाखासभाएँ सामाजिकरूपसे दण्डित अवश्य ही कर सकती हैं। यदि नगर अथवा ग्राममें इस महासभाके उद्देश्य और आर्यजातिके इस समयके कर्त्तव्य सम्बन्धी सब बातें आर्यप्रजाको समझा दी जायँ तो उस नगर या ग्रामकी पञ्चायतीशक्ति पूर्वकालके अनुसार दृढ होकर अयोग्य पुरुषोंका तिरस्कार स्वयं ही कर सकती है। प्राचीन पञ्चायत मण्डलोंका कार्य आधुनिक शाखासभाएँ अपने ऊपर ले लेवें और वहाँके सामाजिक नेताओंकी सहायतासे अपनी शक्तिको काममें लावें। इस प्रकारसे सुकौशलपूर्ण यत्न द्वारा इस विराट् धर्मसभाकी सहायतासे हिन्दूप्रजाकी सकल प्रकारकी उन्नति

हो सकेगी। अतः सामाजिक नेताको बहुत ही पुरुषार्थ व दूरदर्शिता के साथ इस प्रकार विराट् सभाकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये और जैसा जैसा देश काल व पात्र अग्रसर हो वैसा ही इस महासभाके नियमोंको भी अग्रसर करना युक्तियुक्त होगा। और यथार्थ नेता वे ही हो सकेंगे जो रागद्वेष शून्य होकर परस्पर ईर्षाको भूलकर इस प्रकारकी विराट सङ्घ शक्तिके उत्पन्न करनेमें कटिबद्ध होंगे।

यही सब आदर्श नेताके द्वारा अवश्य करणीय कर्त्तव्यसमूहोंका दिग्दर्शन है। इनके अनुसार नवीन भारतमें आर्यजातिको उन्नति पथमें अग्रसर करनेकी चेष्टा करनेसे अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आर्यजातिके इतिहासमें यह समय अति कठिन धर्मसङ्कटका है। यह समय ऐसा विपरीत आया है कि इसमें चारों ओर सर्व देशव्यापी भूमिकम्पके समान राजशक्ति, प्रजाशक्ति, सामाजिकशक्ति और व्युक्तिगतशक्ति सबमें घोर कम्प उपस्थित हुआ है। इस घोर आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक भूडोलके समयमें सब ओरका आकाश चञ्चल और अनिश्चित चिन्होंको धारण कर रहा है। जैसे घोर भूकम्पके समय देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, थलचर, सब जीव ही कम्पितकलेवर होकर इधर उधर भटकने लगते हैं उसी प्रकार आज दिन भारतकी दशा हो रही हैं। इस समय प्रजा उच्छृंखल और निरङ्कुश होती जाती है। राजनैतिक उन्नति सबको अभीष्ट होनेपर भी सब लोग धर्मका नाम लेना अनुचित और धर्मकी चिन्ता करना अनावश्यक समझते जाते हैं। राजनैतिक नेताओंकी तो बात ही क्या है सब सामाजिक नेता तक धर्म लक्ष्यभ्रष्ट होकर राजनीतिको ही प्रधान और एक मात्र लक्ष्य करके मानने लगे हैं। धर्माचार्य लोग भी इतने भयभीत होकर किं-कर्तव्यविमूढ हो रहे हैं कि राजनैतिक नेतागण यदि धर्मको हानि भी पहुँचाते हों तो उनको सत्य और न्यायका उपदेश देनेका भी

साहस नहीं करते। राजा अन्यधर्मावलम्बी होनेके कारण हमारी धार्मिक उन्नतिमें न सहायक हो सकते हैं और न ऐसा करना उचित समझते हैं अधिकन्तु वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे हैं। इन सब लक्षणों को देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि सनातनधर्मके लिये घोर विपत्तिका तथा कठिन धर्मसंकटका समय उपस्थित हुआ है।

पूज्यपाद आर्यमहर्षियोंने जातीय उन्नति, राजानुशासन और समाजानुशासनके सम्बन्धमें पांच प्रधान विषय कहे हैं।, शासन, शस्त्र, शिक्षा, शील और समिति। इन पांचोंके द्वारा मनुष्य जातिकी उन्नति और सुरक्षा हुआ करती है। आजकल भारतकी राजनीति, भारतवासियोंकी समाजनीति और अर्थ नीति तथा जातीय शिक्षाके सम्बन्धमें अनेक परिवर्तन हो रहे हैं और होनेवाले हैं इस कारण इस समय भारतके जितने नेता हैं उनका यह कर्तव्य है कि इस अनादि कालसे जीवित रहनेवाली सबसे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध आर्य-जातिके आदि नेता पूज्यपाद महर्षि उक्त विषयोपर क्या.क्या सिद्धान्त निर्णय कर गये हैं उनको एकवार समझकर तब अपने सिद्धांत निर्णय करें। शासनका सम्बन्ध राजानुशासन और समाजानुशासन-से है अर्थात् राजानुशासन दो भागोंमें विभक्त है, एक राजदण्ड और दूसरा समाजदण्ड। शस्त्रका सेनावल आदिसे सम्बन्ध है। वह सेना भी दो प्रकारकी हो सकती है, एक धनबल द्वारा राजासे संग्रहीत और दूसरी धर्मबुद्धि और कर्तव्य बुद्धिसे प्रजाके द्वारा संग्रहीत। दूसरीका नाम यूरोपमें "वालेण्टियर सिस्टम" है। शिक्षा भी दो भागोंमें विभक्त है, एक जातीय शिक्षा और दूसरी सामाजिक शिक्षा। जातीय शिक्षा राजासे सम्बन्ध रखती है और सामाजिक शिक्षा समाजपति और गृहपतिसे सम्बन्ध रखती है। इन तीनोंका अर्थात् शासन, शस्त्र और शिक्षाका राजा और प्रजा दोनोंसे अलग अलग सम्बन्ध है। राजा राजदण्डकी सहायतासे और प्रजा अपने समाजदण्डकी सहायतासे अपने अपने तौरपर बिना दूसरेकी मदद लिये स्वतन्त्रतासे

शासन, शस्त्र और शिक्षाका उपयोग करके अपनी सब प्रकारकी उन्नति कर सकते हैं, परन्तु शील और समिति, ये दोनों केवल प्रजाके हाथमें हैं। शीलका सम्बन्ध आत्मबल और सदाचारसे है और आपसमें मिलकर सङ्घशक्तिगठनको समिति कहते हैं। इस समय भारतकी प्रजामें यद्यपि धर्मके विचारसे समिति गठन करनेकी शक्ति प्रकट नहीं हुई है परन्तु राजनीतिके विचारसे समिति गठन करनेकी शक्ति प्रगट हो गई है, इस शक्तिको धर्म्मानुकूल रखना चाहिये। शीलके लक्षण भी भारतवर्षकी प्रजामें अब प्रकाशित होने लगे हैं। स्वदेशानुराग, परस्परमें सहानुभूति, सहिष्णुता, देश और जातिके लिये अभाव सङ्कोच और स्वार्थत्याग इत्यादि लक्षण जो शीलके हैं वे भी भारतवासियोंमें प्रकाशित हो चले हैं इस गुणावलीके साथ ही साथ उदारतापूर्ण स्वधर्म्मानुरागकी भी उत्तेजना होनी चाहिये। धर्मरहित शील स्थायी फलप्रद नहीं होता है। पञ्चायती समिति चाहे छोटी हो चाहे बड़ी किसीको अपने अपने उद्देश्यमें संकरता नहीं लानी चाहिये राजनीति सम्बन्धकी छोटी समिति हो अथवा बड़ी समिति, उसको राजनीतिका ही विचार अपने सम्मुख रखना चाहिये। जाति विशेष या श्रेणी विशेषके धर्म अथवा सामाजिक व्यवस्थामें कुछ भी रोक टोक हो ऐसे विषयोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। भारतवर्षमें जितने प्रधान प्रधान धर्म हैं या उनके अन्तर्गत जो सामाजिक श्रेणियाँ हैं, उनकी धार्मिक समिति अलग अलग रहनी चाहिये। राजनैतिक समितिको ऐसे धार्मिक व्यापारोंसे एकबार ही अलग रहना चाहिये ऐसा होनेपर ही प्रजाकी शक्ति और एकता बढ़ेगी, आपसमें विरोधकी सम्भावना नहीं रहेगी और यह समिति भगवद्-कृपा प्राप्त कर सकेगी। शिक्षाके विषयमें जातीय शिक्षा अपने देश काल और पात्रोंके अनुसार होनी चाहिये। विदेशीय शिक्षाका उतना ही अनुकरण करना चाहिये कि उसका जितना भाग अर्थ

नीति और राजनीतिमें हितकारी हो। मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम, इन चारों स्वतन्त्र स्वतन्त्र मनुष्य जीवनके उद्देश्योंके अनुसार शिक्षा भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र रखनी चाहिये। पूर्व कथित जातीय शिक्षा केवल कामशास्त्र और अर्थशास्त्र तथा भाषा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली सार्वजनिक शिक्षा होनी चाहिये, जो सबको समानरूपसे दी जा सके; परन्तु सामाजिक शिक्षा धर्म और मोक्षको सम्मुख रखकर अपने अपने सामाजिक नेताओंके द्वारा सुप्रबन्धके साथ होनी चाहिये। जातीय शिक्षा और सामाजिक शिक्षामें परस्परमें विरोध न बढ़े, राष्ट्रकी नीति, देशका हित चिन्तन, पारस्परिक सहानुभूति और शक्तिप्राप्तिमें बाधा न हो, इसका विचार रखना चाहिये।

ऊपर लिखित सिद्धान्तोंको जिससे आज कलके राजनैतिक नेतृवृन्द तथा हिन्दु समाजपतिगण हृदयङ्गम कर सकें ऐसे प्रयत्न अवश्य होने चाहिये। इस विषयमें विशेष वक्तव्य यह है कि शिक्षा, शील तथा समिति, इन तीनोंके सुधारमें इस घोर आपत्कालमें विना शक्तिशाली नेताओंकी सहायतासे हिन्दुजातिकी दुर्दशा दूर नहीं हो सकेगी। शिक्षाके विषयमें वर्णाश्रमानुकूल धार्मिक शिक्षाका जितना विस्तार समाजपतियोंकी सहायतासे हो सके उसका प्रयत्न होना उचित है। शीलके विषयमें वर्णाश्रमानुकूल सदाचारको जितनी सुरक्षा हो सके उसका प्रयत्न होना चाहिये। आपद्धर्म विचार करके देशकालपात्रानुसार जो कुछ सामाजिक परिवर्तन अथवा उदारता करनेका प्रयोजन हो सो किया जाय परन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होना चाहिये और समितिके विषयमें वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको अटूट रखकर समाजसंगठन तथा जातीय एकताको स्थापना करनी चाहिये। अब ये सब व्यवस्था तथा संस्कार वर्तमान आपत्कालमें कैसे सम्भव हैं उसी विषयमें विचार अगले अध्यायमें किया जायगा।

आपद्धर्म ।

आर्यजातिको अपने मौलिक जातीय गौरवपर प्रतिष्ठित करनेके लिये नेताका आदर्श कैसा होना चाहिये, इस विषयमें विशेष विचार करके वर्त्तमान विपरीत देशकालमें जिस आपद्धर्मका अवलम्बन अनेक स्थानोंमें आर्यजातिको करना पड़ेगा उस पर विवेचन किया जाता है।

पूज्यपाद महर्षियोंने धर्मके चार भेद किये हैं। यथा साधारण धर्म, विशेष धर्म, असाधारण धर्म और आपद्धर्म। धर्मके २४ अङ्ग तथा ७२ अङ्गरूपसे यज्ञ, तप, दानादिके जो वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है* तथा धृति, क्षमा आदि जो दशलक्षणात्मक धर्मका वर्णन मनुसंहितामें पाया जाता है, ये सब साधारण धर्म कहाते हैं। इनमें पृथ्वीके सब मनुष्योंका समान अधिकार है। इस कारण भी ये साधारण धर्म कहाते हैं। 'पुरुषधर्म्म, नारीधर्म्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म, निवृत्तिधर्म्म, आर्यधर्म, अनार्यधर्म्म इत्यादि सब विशेष धर्म्म हैं। इनमें विशेष विशेष व्यक्तिका अधिकार रहता है। तीसरा असाधारण धर्म्म कुछ विलक्षण ही है। जैसा विश्वामित्रका ब्राह्मण होना, द्रौपदीके पञ्चपति होना, नन्दिकेश्वरका देवता होना इत्यादि। यह धर्म असाधारण शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। इसका वर्णन वेद तथा पुराणोंमें कहीं कहीं आता है। चतुर्थ— अर्थात् आपद्धर्म सबसे विलक्षण है। देश, काल, पात्र तथा भावके अनुसार इसका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म-निर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित रहता है, इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंसे

---

* धर्मचन्द्रिका द्रष्टव्य है।

सम्मुख रखकर देश, काल तथा पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। कलियुगमें जीवोंकी प्रकृति प्रवृत्ति साधारणतः बहुत ही निम्नाधिकार की है और कलियुगका देशकाल भी धर्माचरणमें प्रायः प्रतिकूलता-ग्रस्त है। इस लिये मुख्य कल्पके बदले इस युगमें प्रायः अनुकल्पका विधान तथा मुख्य धर्मके स्थानपर आपद्धर्मका ही पालन सम्भवपर होता है।

आपद्धर्म पालनमें भावकी मुख्यता है। अर्थात् आपतकालमें यदि कोई साधारणतः गर्हित कर्म भी करना पडे तो अन्तःकरणमें भावकी शुद्धि रहनेसे असत् कर्म भी सत्कर्म बन जाता है। अतः उससे पतन न होकर उन्नति ही होती है। भाव शुद्धिके दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, कामादि पाशविक क्रिया अत्यन्त नीच होने पर भी देश तथा वंश समुज्वलकारी सुसन्तानोत्पत्तिके सद्भावको लेकर अनुष्ठित होनेके कारण सत्कर्ममें परिणत हो जाती है। इसी प्रकार जीवहिंसा महापाप होने पर भी राज्यरक्षा या अधिक जीवकी कल्याण कामनासे आचरित जीवहिंसा धर्मरूपमें परिणत हो जाती है, नीचका अन्नग्रहण महापाप होने पर भी जीवित रहकर जगत्की सेवा करेंगे, इस शुद्ध भावसे दुर्भिक्षादि आपत्कालमें गृहीत नीचका अन्न भी आत्माकी अवनतिका कारण नहीं बनता है। यही सब आपद्धर्म पालनमें भावकी मुख्यताके दृष्टान्त हैं। अब नवीन भारतके देश, काल, पात्र विचारसे अनुष्ठेय प्राचीन शास्त्रानुमोदित कुछ आपद्धर्मोंका वर्णन किया जाता है।

महाभारतके शान्तिपर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्‌ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपत्‌से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्य सञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैध कर्म जनित समस्त प्रत्यवाय दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारीको सावधान करनेके लिये उन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्गतेर्विद्यते फलम्॥

देवता, विश्वेदेवा, साध्य, ब्राह्मण व महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु-भयसे भीत होकर मुख्य कल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु मुख्य कल्प-पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

जो द्विज अनापत् कालमें भी आपद्धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें उस कर्मका फल नहीं पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है.—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्य-जनोचित कर्मानुष्ठान

द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे। परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्तिको परित्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे। यात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्त्तव्यनिर्णय प्रसङ्गमें श्रीभगवान् मनुजीने कहा है.—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्व वैश्यस्य जीविकाम्॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥

यदि ब्राह्मण अपने स्वाधिकारानुकूल कर्मद्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करे क्योंकि यही उनकी आसन्नवृत्ति है। यदि स्ववृत्ति व क्षत्रियवृत्ति दोनोंहीके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें

कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवन धारण कर सकते हैं। ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कभी ब्राह्मण वृत्त्यवलम्बन नहीं कर सकते। यदि कोई अधम जाति उत्तम जातिकी वृत्त्यवलम्बनपूर्वक जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजाका कर्त्तव्य है कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होने पर भी अनुष्ठेय नहीं है क्योंकि उच्च जातिके धर्मद्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्रही अपनी जातिसे पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होनेपर अनाचार परित्याग करके द्विजशुश्रूषादि शूद्र वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्र वृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ हो तो काम कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है इस प्रकारके काम कार्य व शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको अवलम्बनीय होंगे। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारण रूपसे आपद् कालीन वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है यथा:—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति (जो अवस्था हो उसीमें सन्तोष) भिक्षा व सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा व शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित है।

देश व कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा है:—

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्द दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ॥

देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी आदिका भय होनेसे पहले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करें। आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। तदनन्तर जब सामर्थ्य हो तब धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पहले विपत्तिसे अपनेको बचाकर पश्चात् शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये। आपत्कालमें या किसी विशेष कालमें स्पर्शास्पर्श विचार तथा अन्नग्रहणादि विषयमें कितना व्यतिक्रम हो सकता है इस विषयमें और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं यथा—

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥
(बृहस्पति)

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥
प्राकाररोधे विषमप्रदेशे सेनानिवेशे भवनस्य दाहे ।
आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः ॥
(अत्रिस्मृतिः)

तीर्थस्थान, विवाहप्रसङ्ग, यात्रा, संग्राम, देशविप्लव या नगर ग्रामदाहके समय स्पृश्यास्पृश्य दोष नहीं होता है। देवयात्रा, विवाह,

यज्ञ और उत्सवोंमें छुआछूत नहीं मानी जाती। दुर्ग आक्रमण, विषम प्रदेश, सेना निवेश, गृहदाह, यज्ञकार्य या महोत्सवोंमें स्पृश्यास्पृश्य दोष नहीं होता है। आपत्कालमें भोजनादिके विषयमें लिखा है—

> आपद्गतः सम्प्रगृह्णन् भुञ्जानो वा यतस्ततः।
> न लिप्यतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः॥
>
> (मिताक्षरा)

> आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
> मनस्तापेन शुध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत्॥
>
> (पराशर)

आपत्तिमें पड़कर ब्राह्मण यदि जहां कहींसे अन्न ग्रहण करें या भोजन कर लें तो अग्नि और सूर्यके समान होनेके कारण वे पाप भागी नहीं होंगे। आपत्कालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरका अन्न खालें तो पश्चात्तापसे या सौ गायत्री जप करनेसे शुद्ध होंगे। केवल इतना ही नहीं, इस विषयमें वेदमें भी अनेक प्रसङ्ग आते हैं यथा छान्दोग्योपनिषद्के प्रथम अध्यायके दशम खण्डमें—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे, तं होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उप निहिता इति।

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमिति, उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ।

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच यद्बत अन्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ।

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ।

इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह है कि कुरुदेशके वज्राग्निदग्ध होनेपर उषस्ति नामक जनैक ब्राह्मण दुर्दशाग्रस्त होकर सस्त्रीक इभ्य ग्राममें भिक्षार्थ जाने लगे। रास्तेमें उन्होंने देखा कि एक सुनिर्मल प्रस्रवण की धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक हस्तीपक (हथवान) मसूरकी दाल खा रहा है। कई दिनोंके उपवासी ऋषिने प्राण धारण के लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस नीच जाति हस्तीपकसे ही उसकी उच्छिष्ट दाल भिक्षा मांगी और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया। उच्छिष्ट दाल खानेके बाद उसने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा।" हस्तीपकने थोड़ा हंसकर कहा—"आपने उच्छिष्ट दाल तो खा ली उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे।" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—"मैं अनाहारसे मर रहा था इसीलिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ तुम्हारी उच्छिष्ट दाल भी खायी है, परन्तु जल तो सामने ही झरनेसे आरहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जानेपर फिर आगे भिक्षाके लिये पतिपत्नी चले। परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पतिको मृत्युमुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बंधी हुई पहले दिनकी दाल निकालकर पतिको दे दी। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलकी दाल नहीं खायी थी?" इसपर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया "आपने

तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही हमने हस्तीपकका उच्छिष्ट अन्न खा लिया था, मैं कल अनाहार नहीं थी, और भी दो दिन बच सकती थी इसीलिये उस उच्छिष्ट अन्नको नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूँ, परन्तु आपका प्राण जा रहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट दालको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है इस विज्ञानकी सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

क्षत्रियधर्मके पूर्ण अधिकारी क्षात्र नरपतिके लिये प्रधान धर्म यह है कि युद्धार्थी शत्रुसे अवश्य युद्ध करना और कदापि किसी दशामें शत्रुके सम्मुख सिर न झुकाना। युद्धसे पलायन और शत्रुसे पराजय स्वीकार करना क्षत्रियधर्मसे विरुद्ध है। इसी कारण श्रीभगवान् भीष्म पितामहजीने आपत्कालमें राजाको शत्रुके साथ भी मैत्री करनेका उपदेश किया है। यथा महाभारतमें—

तस्माद्व विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये॥
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत॥
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा।
समाहितश्चरेद्व युक्तया कृतार्थश्च न विश्वसेत्॥

देशकालको समझकर ही शत्रुसे संग्राम या सन्धिके विषयमें कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय करना चाहिये। सन्धिके विषयमें विचार करके यदि प्राणरक्षाके लिये प्रयोजन हो तो शत्रुसे भी समय पर सन्धि कर लेनी चाहिये। परन्तु बलवान् शत्रुके साथ प्राणरक्षार्थ सन्धि करलेपर भी सदा ही सावधान रहना चाहिये और शत्रुपर कभी

विश्वास नहीं करना चाहिये। श्रीभगवान् मनुजीने देश व कालके विचारसे ब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म विधान करते हुए कहा है—

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥
जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥
अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥
क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥

अपने कर्त्तव्यपथपर स्थित ब्राह्मण वृत्तिके अभावसे पीड़ित होने पर भी यदि क्षत्रिय या वैश्यवृत्ति अवलम्बन करना न चाहें तो नीचे कही हुई वृत्तिका आश्रय कर सकते हैं। विपन्न ब्राह्मण सभीके पाससे प्रतिग्रह कर सकते हैं क्योंकि जो स्वभावतः ही पवित्र हैं वे दोषदुष्ट हो सकते हैं यह बात धर्मतः प्रतिपादित नहीं हो सकती है। ब्राह्मण स्वभावतः जल व अग्निकी तरह पवित्र हैं। आपत्कालमें निन्दित पुरुषके याजन अध्यापन व परिग्रहके द्वारा भी ब्राह्मणको अधर्म प्राप्त नहीं होता है। प्राण नष्ट होनेकी सम्भावना उपस्थित

होनेपर यदि ब्राह्मण अति नीचका भी अन्न ग्रहण करें तो भी आकाश में जिस प्रकार पङ्क लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार वह ब्राह्मण भी पापग्रस्त नहीं होता। ऋषि अजीगर्त्त क्षुधासे कातर होकर अपने पुत्रके प्राण संहारमें भी उद्यत हो गये थे परन्तु उसपर भी क्षुधा निवारण द्वारा प्राणरक्षा लक्ष्य होनेसे उनको कोई भी पाप नहीं हुआ था। धर्माधर्मविचक्षण ऋषि वामदेवने क्षुधार्त्त होकर प्राण रक्षाके लिये कुक्कुरमांस भोजनकी भी इच्छा की थी परन्तु तथापि व पापलिप्त नहीं हुए थे। इसी प्रकार धर्माधर्म विचक्षण विश्वामित्रजी भी क्षुधाक्षामताके कारण चण्डालके हस्तसे कुक्कुर के जघाका मांस ग्रहण करके भोजन करनेको उद्यत हो गये थे तथापि उनको कोई भी पाप नहीं लगा था। इस प्रकारसे सर्वदर्शी श्रीभगवान् मनुमहाराजने देश व कालके विचारसे आपद्धर्मका उपदेश किया है। महर्षि विश्वामित्रका उल्लिखित श्वानमांस भोजनोद्योग इतिहासमें विशेष प्रसिद्ध है। महाभारतके शान्तिपर्वमें इसका विशेषरूपसे वर्णन देखनेमें आता है जिसमें मांस अपहरणके पहले चण्डालके साथ महर्षि विश्वामित्रको आपत्कालीन कर्त्तव्या कर्त्तव्यके विषयमें जो बात चीत हुई थी उसके पाठ करने पर आपद्धर्मका सम्यक् रहस्य सबको विदित हो सकेगा। इस लिये नीचे उन कथाओंमेंसे कुछ कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। यथा महाभारतमें—

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात्।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी॥
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः॥
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा।
निवृत्तपूपसम्भारा विमनष्टमहोत्सवा॥

अस्थिसंचयसङ्कीर्णा महाभूतरवाकुला।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना॥
तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर।
बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादमाना परस्परम्॥
विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः।
क्षुधापरीगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत॥

त्रेता व द्वापरकी सन्धिमें दैव-प्रतिकूलताके कारण द्वादश वर्ष पर्यन्त घोर अनावृष्टि हुई थी। उस समय वृहस्पति प्रतिकूल हो गये थे और चन्द्रने दक्षिण दिशाको आश्रय किया था। कृषि गोरक्षा आदि सब नष्ट हो गई थी। वाणिज्य व्यापार आदि सब उठ गये थे और लोगोंमें आनन्द समस्त निर्मूल हो गया था। चारों ओर मृत जीवोंकी अस्थि, भूतोंका चीत्कार, गृहदाह व शून्याकारता देखनेमें आने लग गई थी। धर्मका एकदम नाश हो जानेसे प्रजा क्षुधार्त्त व अत्याचारी होकर परस्परको खाने लग गयी थी। इस प्रकार भयानक दुर्भिक्ष कालमें महातपा महर्षि विश्वामित्र भी किसी समय अत्यन्त क्षुधातुर होकर घर छोड़ अन्नके अन्वेषणमें इतस्ततः भ्रमण करने लगे।

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम्।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित्॥
अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः।
पपात भूमौ दौर्बल्यात्तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे॥
स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत्।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम॥
स ददर्श श्वमांसस्य कृतन्त्रीं विततां मुनिः।

चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥
आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥
हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥
सोऽहमन्त्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥

इस प्रकारसे खाद्य अन्वेषण करते हुए किसी समय महर्षि विश्वामित्रजी एक अरण्यमें प्राणिघातक हिंस्र चाण्डालोंका ग्राम देखकर उसीमें प्रविष्ट हुए। परन्तु उस पल्लीमें भी अन्वेषण करके जब कहीं कुछ न प्राप्त हुआ तो हा कष्ट! ऐसा कह कर दुर्बलेन्द्रिय होनेसे किसी चाण्डालके मकानमें गिर पड़े। और किस उपायसे प्राणरक्षा हो सोचने लगे। थोड़ी देरमें उस चाण्डालके गृहमें विश्वामित्रको सद्योनिहत किसी कुक्कुरका मांसखण्ड देखनेमें आया। उसको देखकर बहुत ही आनन्दित हो विश्वामित्र सोचने लगे "मैं किसी न किसी तरहसे इस मांसखण्डको अवश्य ही अपहरण करूँगा। इसके सिवाय इस समय प्राणरक्षाका और कोई भी उपाय नहीं दीखता है। आपत्कालमें चौर्यवृत्तिका आचरण करने पर भी महात्माओंके गौरवकी हानि नहीं होती है। और शास्त्रमें भी कहा है कि आपत्कालमें प्राणरक्षणार्थ ब्राह्मण चोरी भी कर सकता है। पहले नीचका द्रव्य, पश्चात् समान जातीयका द्रव्य और यदि उससे भी कुछ प्राप्त न हो तो अपनेसे उत्तम धार्मिक व्यक्तिका भी धन अपहरण कर सकता है। अतः पहले मैं इस नीचका द्रव्य अप

हरण करूँगा। इस प्रकार अपहरणसे मुझे चोरीका पाप स्पर्श नहीं करेगा।" इस प्रकार विचार करके महर्षि विश्वामित्र वहीं सोये रहे। तदनन्तर रात्रि अधिक होने पर जब सब लोग निद्रित हो गये तो धीरे धीरे विश्वामित्र उस चाण्डालकी कुटीमें मांस अपहरणार्थ प्रवेश करने लगे। उस समय वह चाण्डाल जागता था, वह कुटीमें किसी दूसरेको प्रवेश करते हुए देखकर, कर्कश स्वरसे कहा "कौन आया है मेरे घरमें कुक्कुरमांस चोरी करनेको, आज अवश्य ही मेरे हाथसे उसका प्राण जायगा।" इस बातको सुनकर महर्षि विश्वामित्र अति भीत व लज्जित हो कहने लगे—"मैं विश्वामित्र हूँ, अत्यन्त क्षुधासे व्याकुल होकर तुम्हारे घरमें आया हूँ। यदि तुम साधुदर्शी हो तो मुझे वध न करो।" विश्वामित्रकी बात सुनते ही चाण्डाल त्रस्तचित्त हो शय्यासे उठा और गलदश्रुलोचन व कृताञ्जलि हो कहने लगा—"भगवन्! इस गम्भीर रात्रिमें आप क्यों यहाँ आये हैं।"

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन्।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥
क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः।
क्षुच मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः॥
सोऽधर्मं बुध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम्।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम्।
अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड्विभुः॥
यथावत् सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः।

चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा "मैं क्षुधाकान्त व मृतप्राय होकर तुम्हारा यह कुक्कुरमांस अपहरण करने के लिये आया हूँ। बुभुक्षित व्यक्तिके लिये लज्जा कैसे सम्भव हो सकती है? क्षुधाके प्रभावसे मेरा जीवन अवसन्न व ज्ञान लुप्तप्राय हो रहा है जिससे मेरी भक्ष्याभक्ष्यकी विचारशक्ति लुप्त हो गई है। इसलिये चोरके कार्यको अत्यन्त अधर्म जानने पर भी इस मांस खण्डके अपहरणमें मेरी इच्छा हुई है। मैं तुम्हारे ग्राममें बहुत घूमने पर भी कहीं कुछ न पाकर इस पाप कार्यके लिये सन्नद्ध हुआ हूँ। देखो, अग्नि देवताओंका मुख व पुरोहित रूप है इसलिये पवित्र वस्तुके सिवाय दूसरी वस्तु लेना अग्निके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं है। तथापि जिस प्रकार अग्निको सभी प्रकारकी वस्तु अगत्या लेनी पड़ती है उसी प्रकार प्राणरक्षणार्थ मुझे भी खाद्याखाद्य विचार-शून्य होना पड़ा है।" विश्वामित्रका वाक्य सुनकर चाण्डालने कहा-

श्रृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी॥
नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः॥
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने॥
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसङ्करः।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतांवर॥

पण्डितगण कहते हैं कि श्रृगालके मांससे भी श्वानमांस अपकृष्ट है और उसमें भी जंघाका मांस अत्यन्त हेय है। विशेषतः अयोग्य चाण्डाल धन अपहरण करना अत्यन्त धर्मगर्हित है। इसलिये ऐसे कार्यमें उद्योग करना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अ

जीवन धारणके लिये कोई दूसरा उत्तम उपाय अवलम्बन कीजिये। मांसके लोभसे तपस्याको विनष्ट न करें। शास्त्रोक्त धर्म अवगत होकर भी धर्मसङ्कर-विधानमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। आप धार्मिकोंमें प्रधान हैं, आपको धर्मत्याग करना कभी उचित नहीं है। चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः।
न विद्यतेऽभ्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित्।
अभ्युज्जिवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत्॥
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम्॥
यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्त्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम्।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम्॥
बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः॥

मैं अनाहारी होकर बहुत दिनोंसे इतस्ततः भ्रमण कर रहा हूँ परन्तु प्राणरक्षार्थ कहीं कुछ न प्राप्त हुआ। शास्त्रकी आज्ञा है कि अवसन्न होने पर किसी न किसी प्रकारसे प्राणधारण करना चाहिये। तदनन्तर समर्थ होने पर धर्माचरण करना चाहिये। क्षत्रियगणको इन्द्रकी नाईं और ब्राह्मणोंको अग्निकी नाईं धर्म अवलम्बन करना उचित है। इसलिये सर्वभुक् अग्निकी तरह क्षुधाशान्तिके लिये मैं कुक्कुरमांस भोजन कर लूँगा। जिससे जीवनरक्षा हो सकती है ऐसा

उपाय विचार रहित होकर सर्वथा करना चाहिये। मृत्युकी अपेक्षा प्राणरक्षा श्रेयस्कर है क्योंकि जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान अनायास ही किया जा सकता है। इसलिये प्राण रक्षाकी इच्छासे ही मैंने अभक्ष्य भक्षणका विचार किया है। तुम इसका अनुमोदन करो। मैं जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान कर सकूंगा और जिस प्रकार आलोकके द्वारा गाढ़ तमःका नाश होता है उसी प्रकार तप व विद्या के प्रभावसे समस्त अशुभोंका नाश कर दूंगा।" इस बातको सुनकर चाण्डालने कहा—

> नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
> र्नैव प्राणानामृतस्येव तृप्तिः।
> भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
> श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम्॥

इस कुकुरमांसके भोजन द्वारा आपको सुदीर्घ आयु या अमृत पानके तुल्य तृप्तिलाभ नहीं होगा। अतः आप अन्य वस्तुके लिये भिक्षाटन कीजिये, श्वानमांस कदापि भक्षण न कीजिये। शास्त्रमें श्वानमांस ब्राह्मणोंके लिये नितान्त अभक्ष्य लिखा है। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

> न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत्-
> श्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम्।
> क्षुधार्त्तश्चाहमगतिर्निराशः
> श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये॥

इस दुर्भिक्षके समय अन्य मांस सुलभ नहीं है और मेरे पास अर्थ भी नहीं है। विशेषतः अत्यन्त क्षुधाकातर होनेसे प्राणरक्षणार्थ निरुपायताके कारण मुझे इस समय श्वानमांस ही मधुर षड्रसयुत प्रतीत हो रहा है। चाण्डालने कहा—

कामं नरा जीवितं सन्त्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित्कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वान्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव॥

साधु व्यक्तिगण प्राण तक त्याग करनेको तैयार होते हैं तथापि अभक्ष्य भोजन नहीं करते हैं। बहुत महात्मा क्षुधाजय करके स्वप्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये आप क्षुधाजय करनेका प्रयत्न कीजिये। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूल्यं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम्॥
बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यम्
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।
यद्यप्येतत्संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव।

"प्रायोपवेशन द्वारा प्राण त्याग करना श्रेयस्कर है तो सही परन्तु जिसको जीनेकी इच्छा है उसके लिये अनाहार द्वारा शरीर शुष्क करना अत्यन्त गर्हित है। उससे अवश्य ही धर्मलोप होता है। फलतः देहकी रक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य है। यदि श्वानमांस भोजन द्वारा मुझे सामान्य पापमें लिप्त होना भी पड़े तोभी मैं व्रतादि द्वारा उस पापका निराकरण कर सकूँगा। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा विचार कर देखनेसे आत्मकालमें श्वानमांस भोजन निर्दोष प्रतिपन्न होता है और मोह-बुद्धि द्वारा विचार करनेसे ऐसा कार्य सदोष प्रतीत होता है।

जो कुछ हो यदि मेरा श्वानमांसभोजन कुछ दोषदिग्ध भी हो तथापि उससे मुझे तुम्हारे जैसा चाण्डाल बनना नहीं पड़ेगा क्योंकि उस पापके निराकृत करनेकी शक्ति मुझमें विशेष रूपसे विद्यमान है। इस प्रकारसे बातचीत होनेके बाद महर्षि विश्वामित्रजीने उस श्वान मांसको ले लिया और सपत्नीक वनमें जाकर दैव व पितृकार्य करने लगे। यथा महाभारतमें—

> अथास्य बुद्धिरभवद् विधिनाहं श्वजाघनीम्।
> भक्षयामि यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः॥
> ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः।
> ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम्॥
> ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यश्च भारत।
> आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात्॥
> एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः।
> सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः।
> विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः।
> कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम्॥
> स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः।
> तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तम॥

मांस अपहरण करनेके बाद महर्षि विश्वामित्रकी यह इच्छा हुई कि विधिपूर्वक पहले देवताओंको समर्पण करके पश्चात् मांस भोजन करेंगे। इस प्रकार चिन्ता करके महातपा विश्वामित्रजीने ब्राह्मविधिके अनुसार अग्नि आहरण करके ऐन्द्राग्नेय विधिके अनुसार स्वयं उसका चरु प्रस्तुत कर लिया। तदनन्तर उस मांस द्वारा प्रस्तुत चरुको अंश अंश करके इन्द्रादि देवताओंको आह्वानकर

देव व पितृकार्य विधिके अनुसार समर्पण करने लगे । इतनेमें महर्षि विश्वामित्रके तपःप्रभावसे द्वादशवर्षके बाद इन्द्रदेवने प्रचुर वारि-वर्षण कर दिया और प्रजाओंको संजीवित करके ओषधी व धन-धान्यकी उत्पत्ति कर दी । महर्षि विश्वामित्रजीने भी तपस्याके द्वारा चाण्डालमांस ग्रहणजन्य पापसे मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की । उन्होंने अपने पूर्वकृत पापकर्मको संहार करके उस मांस-युक्त हविका भोजन न करनेपर भी देवता व पितरोंको सन्तुष्ट कर दिया ।

अग्निकी एक चिनगारी भी अग्निकी पूर्णशक्तिसे भरी हुई है । यह अग्निकी चिनगारी यदि अनुकूल आधार प्राप्त हो तो वह बढ़-कर समस्त पृथिवीको दग्ध कर सकती है । सर्वव्यापक सर्वजीव-हितकर सृष्टिको धारण करनेवाला धर्म यदि विना बाधाके कार्य-कारी बना रहे तो जब वह जीवको मुक्तिभूमि तक पहुँचा देता है, तो उसके द्वारा सब कुछ सम्पन्न होगा इसमें सन्देह ही क्या ?

ऊपर उक्त परकीय भाषायुक्त गाथासे यह सब तात्पर्य निकले:— देश काल पात्रका विचार रखकर भावशुद्धिपूर्वक कार्य करनेसे घोर अधर्म कार्य भी धर्मकार्य रूपमें परिणत हो सकता है । प्रथम तो चोरी जो महाअधर्म है, द्वितीय ब्राह्मणके लिये चौरकार्य जो और भी घृणित कार्य है, तृतीय चाण्डालके पदार्थकी चोरी जो अति गर्हित है, चतुर्थ कुत्तेका मांस ग्रहण जो अति पाप है, पंचम जंघामांस ग्रहण जो महा घृणित है, षष्ठ ब्राह्मण होकर ऐसे घृणित पदार्थ खानेकी इच्छा करना और सप्तम ज्ञानी होकर अपनी वृत्तिको न रोककर ऐसे पथमें प्रवृत्त होना, इन सब पूर्व पक्षोंका सिद्धान्त करके आपद्धर्मका एक ज्वलन्त दृष्टान्त ऊपरकी गाथामें प्रकाशित है । कितना ही घृणित और पापकार्य हो, देश काल पात्रके विचारसे यदि उसीको करना निश्चित हो तो भावशुद्धि द्वारा वह महा पाप-कार्य पुण्यकार्यमें परिणत हो सकता है । जो व्यक्ति मृत्युको ही उचित समझता है, उसके लिये यद्यपि मर जाना अच्छा है और

स्वधर्म छोड़ना उचित नहीं है, परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि मेरे लिये मरना ठीक नहीं है। मेरा यदि शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्यकार्यसे इस पापकार्यको शुद्ध कर लूंगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करके धर्म जगतमें बढ़ सकूंगा, उसके लिये आपत्कालमें चाहे जिस प्रकारसे हो शरीरको बचा लेना ही धर्म होगा। विश्वामित्र महाराजने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रक्खा और किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए। शरीरकी रक्षाके निमित्त केवल ऊपरलिखित पापाचरणको करना भावशुद्धिसे उचित समझा और उसके बाद ही अपने स्वधर्मकी रक्षाके लिये पितृयज्ञ व देवयज्ञमें प्रवृत्त हुए। क्षुधाकी कुछ भी परवाह नहीं की। इसी कारण उनके प्रबल धर्मसे इन्द्र देवता बाध्य होकर सुवृष्टि करनेमें तत्पर हुए। यही इस गाथाका वैज्ञानिक तात्पर्य है। इस बातपर इतना स्मरण रखना अवश्य उचित है कि आपद्धर्मके अनुसार जिस प्रकार अति सुगमताके साथ हेय पापकर्म भी उपादेय पुण्य-कर्ममें परिणत हो सकता है उसी प्रकार आपद्धर्मके निर्णय करनेमें अति कठिनता है। क्योंकि कर्ता यदि ज्ञानी न हो, संयमी न हो और स्वार्थपर हो तो अपनी दुर्बलताके कारण वह अपनी असुविधाओंको आपत् करके मानने लगेगा और अपनी इन्द्रिय चरितार्थको ही आपद्धर्म-साधनका कारण समझ लेगा। इस कारण आपद्धर्मका निर्णय करना केवल परमज्ञानी, कर्मदर्शी, आचार्य व गुरुका ही कार्य है। महर्षियोंका कथन है कि कर्मके गतिवेत्ता ही धर्माधर्मका निर्णय कर सकते हैं। अतः आपद्धर्म निर्णय करनेके लिये आपत्ति-युक्त कर्त्ता कभी स्वयं साहस न करे। उसको उचित है कि यदि वह स्वयं ज्ञानी और कर्मका गतिवेत्ता न हो तो धर्मज्ञ, कर्मके गति-वेत्ता और तत्वज्ञानी आचार्य गुरु अथवा महापुरुषोंसे आज्ञाग्रहण करके अपना आपत्कालीन धर्माधिकार निर्णय करे। सभी अपने आपको महर्षि विश्वामित्र न समझ लेवें। इसी प्रकारसे देशविचार

कालविचार, पात्रविचार और भावशुद्धिकी सहायतासे आवश्यकता के अनुसार सब अधर्मकार्य धर्मकार्यमें परिणत हो सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे, जैसा कि श्रीमान् मनुके वचन पहले दिये गये हैं कि जहां कर्त्तामें सामर्थ्य है कि देश काल और पात्रको अतिक्रम कर सके वहां अधर्मकार्यमें भावशुद्धि असम्भव है। देशकी विरुद्धता, कालकी विरुद्धता और पात्रकी असमर्थता होनेपर ही भावशुद्धिका अवसर हो सकता है। अन्यथा अधर्ममें भावशुद्धि द्वारा धर्मज्ञान होना सम्भव नहीं है। परन्तु जहां देश काल और पात्र धर्मसाधनके अनुकूल एक बार ही नहीं है वहां भावशुद्धिपूर्वक आपद्धर्मके अधिकारको पालन करना बुद्धिमान्का कर्त्तव्य है। धर्मज्ञ आचार्यगण ऐसी ही आज्ञा दिया करते हैं। इसी कारण सतीत्वमूलक नारी-धर्मकी अधिकारिणी सती प्रथम तो पतिको पापकर्मसे रोके परन्तु यदि पति न माने तो सहधर्मिणी होनेपर भी उसको घोर अधर्म-कर्ममें पतिका साथ देना कदापि उचित नहीं है। पतिका जो धर्म है स्त्रीका भी वही धर्म है। इसी कारण स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है। यदि पति निरपराधी मनुष्योंका हनन करनेवाला हो या ऐसे ही कोई घोरतर पाप करता हो तो सती स्त्रीको उचित है कि पतिको पापकर्मसे यथासाध्य रोके, परन्तु यदि पति न माने तो स्त्रीको उचित है कि ऐसे पापी पतिका साथ न दे। इसी प्रकार यद्यपि पतिकी चितामें जल मरना सनातनधर्मके अनुसार सती स्त्रीका धर्म है परन्तु यदि देश और काल उसका विरुद्ध हो तो उस समय पतिधर्मपरायणा सतीके लिये अपना जीवन पतिके साथ चितामें बैठकर न जलानेसे सतीधर्मके विरुद्ध अधर्म नहीं होगा। परन्तु देश व कालके विचारसे उस समय चितामें जलकर न मरना सतीके लिये आपद्धर्म होगा। शूद्रजातिका प्रधान धर्म यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंकी धार्मिकसेवा करना है तथापि देश काल व पात्रके विचारसे शूद्रगण कठिन कालमें शिल्पकला या अन्त्यजजाति-

के निकृष्ट धर्मपालन करके आपद्धर्म पालन कर सकते हैं। उसी प्रकार उत्तरोत्तर वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणगण अपनेसे निकृष्ट वर्णोंके धर्मको सुविधाके अनुसार यथाक्रम करते हुए आपद्धर्म का पालन कर सकते हैं। आपद्धर्मके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियादि आचारभ्रष्ट, खानपानभ्रष्ट और स्वस्वजातिगत कर्मभ्रष्ट होनेपर भी आपद्धर्मके कारण यदि उनका लक्ष्य ठीक रहे तो वे पापमुक्त हो सकते हैं। अपने स्वार्थसे कुटुम्बका स्वार्थ बड़ा है, कुटुम्बके स्वार्थ से ग्रामका स्वार्थ बड़ा है, ग्रामके स्वार्थसे जनपदका स्वार्थ बड़ा है, जनपदके स्वार्थसे स्वदेशका स्वार्थ बड़ा है। उसी प्रकार आधिभौतिक वैषयिक ऐश्वर्यसे आधिदैविक ऐश्वर्य अर्थात् धर्म उपासना आदि सम्बन्धीय ऐश्वर्य बड़ा है और आधिदैविक ऐश्वर्यसे ज्ञान सम्बन्धीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य बड़ा है। अतः देशके कल्याण अथवा ज्ञानकी वृद्धिके लिये यदि कोई धार्मिक व्यक्ति म्लेच्छसंसर्ग, अनार्यसेवा, धर्महीन देशगमन और अनाचार भी करेगा तो लक्ष्य ठीक रहनेसे वह आपद्धर्मके अनुसार अधर्मिक नहीं होगा। कलिकालमें वर्णाश्रमधर्ममें अनेक विपर्यय हो जानेसे गुरुगृहवास असम्भव हो जाने पर भी विद्याभ्यासशील विद्यार्थी यदि आचार्यभक्ति, आचार्यशुश्रूषा, ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि धर्मपालन करे तो वह ब्रह्मचर्याश्रमधर्मका अधिकारी हो सकेगा। उसी प्रकार यदि गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट व्यक्ति पंचमहायज्ञ आदिका ठीक ठीक पालन न कर सके, गृहस्थ ब्राह्मण यदि यथाविधि अग्निकी सेवा न कर सके तो अन्यान्य धर्मोंका यथासम्भव पालन करनेसे आपद्धर्मके अनुसार पतित नहीं होगा। उसी प्रकार कलिकालमें तपोवनसमूह सम्पूर्ण रूपसे लोप हो जानेसे और उञ्छ वृत्ति आदि वृत्तियोंका पालन करना एकवार ही असम्भव न होनेसे तथा गोसेवा आदि आवश्यकीय धर्म अति कष्टसाध्य हो जानेसे यदि जीवनकी तीसरी अवस्थामें पहुँचा हुआ धार्मिक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रतपालन, तपःस्वाध्यायनिष्ठा, तीर्थवास आदि धर्मोंका

पालन करते हुए सन्यासाश्रमके उपयोगी अपनेको बनानेके लिये यत्न करे तो आपद्धर्मके अनुसार वह धार्मिक व्यक्ति ऋषिकल्प और वानप्रस्थधर्मी कहलावेगा इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि सन्यासाश्रम केवल ब्राह्मणोंके लिये ही विहित है, यद्यपि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें यथाविधि चलकर पीछे सन्यासाश्रम धारण करनेकी विधि है और यद्यपि कुटीचकके बाद बहूदक, बहूदकके बाद हंस और हंसके बाद परमहंसके धर्मपालन करनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है, परन्तु यदि कलिकालमें आश्रमधर्मकी शैलीमें अनेक विप्लव हो जानेसे इस प्रकारके क्रमकी रक्षा न हो सके तो वर्ण तथा आश्रमधर्मके सम्मानकी रक्षा करते हुए यदि यथासम्भव सन्न्यास धर्म पालन करके निवृत्तिसेवी वैराग्यसम्पन्न ज्ञानी व्यक्तिगण प्रव्रज्या ग्रहण करें तो आपद्धर्मके अनुसार वे सभी सन्यासाश्रमधारी कहला सकते हैं। इसी शैलीपर देश काल पात्रके विचारानुसार भावशुद्धि पूर्वक दानधर्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ और महायज्ञके कर्त्तव्य निश्चय करनेमें आपद्धर्मका विचार लाया जा सकता है। और धर्मके सब अङ्ग और उपाङ्ग इसी प्रकार आपद्धर्मकी शैलीपर आवश्यकतानुसार निर्णीत हो सकते हैं। परन्तु धर्मके यथार्थ स्वरूपके लक्ष्यसे च्युत न होकर कर्त्तव्य निश्चित होना उचित है।

समाजसंस्कार।

वर्त्तमान देशकालमें अपने सामाजिक रीति नीति तथा आचार व्यवहारादिमें कुछ संस्कार अवश्य ही होने चाहिये ऐसा प्राय सब श्रेणिके लोगोंमें ही सिद्धान्त और विचार देखनेमें आ रहे हैं। यह विषय अत्यावश्यकीय है इसमें सन्देह भी नहीं है। परन्तु आर्य्यजातिकी प्रवीण दृष्टि और भारतकी नवीन दशा पर पूरा ध्यान रखकर, दोनोंका सामञ्जस्य करते हुए समाज संस्कार पर विवेचन करना ही युक्तियुक्त होगा। मनुष्यके जाति गत संघको समाज कहते हैं। इसमें प्रकृत अध्यायका प्रतिपाद्य विषय आर्य्यजातिका ही समाजसंस्कार है। वर्णाश्रमादि विशेष धर्मोंसे युक्त आर्य्यजातिका विस्तारित लक्षण इस ग्रन्थके प्रथम खण्डमें भलीभाँति बताया जा चुका है। उसकी सामाजिक श्रेणियों का वर्णन तथा स्त्रीपुरुषोंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्माधिकारका वर्णन और उसकी सामाजिक गठन प्रणालीका वर्णन भी पूर्व खण्डमें विस्तारित रूपसे किया गया है। उक्त धर्मसिद्धान्तसमूह पर भलीभाँति विचार रखकर तथा देशकाल अधिकार और अलौकिक भावरहस्य पर ध्यान रखते हुए आर्य्यजातिका समाजसंस्कार रूपी गुरुतर कार्य करणीय है।

यह तो प्रत्यक्ष ही है, घोर शीतप्रधान काश्मीरादि देशके आर्य स्त्री पुरुषोंके आचारमें तथा ब्रह्मावर्तके समशीतोष्ण प्रदेशके आर्य स्त्रीपुरुषोंके आचारमें आकाश पातालका सा भेद है, उसी प्रकार आर्यजातिके मनुष्य जब भारतवर्षमें रहेंगे तथा वे ही जब अर्थ कामादिके लिये देशान्तरमें जायेंगे तो उनके भी आचार व्यवहारमें अनेक अन्तर हो जाना सम्भव होगा। कालका विषय भी इसी प्रकार सहज बोध्य है। क्योंकि जब सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन

चारों युगोंके धर्मोंमें भी कालभेदानुसार पार्थक्य होना शास्त्रसिद्ध है, तो वर्तमान आपद्ग्रस्त विपरीत कालमें आर्यजातिकी सामाजिक व्यवस्थामें बहुत कुछ परिवर्तन होगा इसमें क्या सन्देह है ? अधिकारमें भेद होना तो सर्वमान्य ही है; परन्तु इस गुरुतर विषय, पर विचार करनेसे पहले दार्शनिक दृष्टिसे भावतत्त्वकी पर्यालोचना करना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि देश काल तथा अधिकार सभी भावतत्त्वकी सहायतासे ही कार्य्यक्षेत्रमें फलवान् हो सकते हैं।

ज्ञान और विज्ञान-निर्णीत जितने प्रधान तत्त्व हैं सब तत्त्वोंमें भावतत्त्व सबसे प्रधान है। अनुभवगम्य तत्त्वोंमें भाव सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसी कारण परब्रह्मको भावातीत कहा है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो भाव रूपी अन्तिम तत्त्व है उस तत्त्वसे भी परे परब्रह्मका अनुभव है। भावतत्त्वका अनुभव स्पष्ट करनेके अर्थ विचार किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है कि—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।

इस सूत्रका तात्पर्य्य यह है कि महामाया-सृष्ट इस दृश्यमय प्रपञ्चकी सृष्टि, उसकी स्थिति और उसका लय रज, सत्त्व और तमोगुणके अनुसार यथाक्रम होता है। और इस प्रपञ्चमय दृश्यका अनुभव भावसे होता है, अर्थात् भावतत्त्वकी सहायतासे दृश्य पदार्थका ज्ञान द्रष्टाको होता है। साधारण तौरपर भी इस संसारमें देखनेमें आता है कि मनुष्य जिस भावके अधीन रहता है दृश्यरूपी विषय उस द्रष्टारूपी मनुष्यको उसी प्रकारके स्वरूपमें दिखाई देने लगता है। विषयी मनुष्यको यह संसार विषय-सुखसे भरा हुआ प्रतीत होता है और वैराग्यवान् व्यक्तिको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है। दूसरा उदाहरण समझा जाय कि स्त्रीरूपी एक ही विषय कामी व्यक्तिके लिये काममोगका यन्त्र, विचारवान् व्यक्तिके लिये

माया और सौन्दर्य्यका आधार तथा ज्ञानी व्यक्तिके लिये जगत् प्रसविनी महामायाकी स्थूल प्रतिकृति (नमूना) दिखाई देता है। तीन पृथक् पृथक् भावोंके अनुसार स्त्री रूपी एकही विषय तीन पृथक् व्यक्तियोंको तीन पृथक् रूपमें दिखाई देने लगता है। सिद्धान्त यह है कि सृष्टि स्थिति लयात्मक यह संसार या इसके प्रत्येक पदार्थ भावकी सहायतासे ही अनुभूत होता हैं। इस कारण भाव अन्तिम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है।

भावतत्त्वके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप समझने योग्य है। अन्तःकरणके चार भेद हैं। यथा–मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार, इसी कारण इसको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। संकल्प-विकल्प जिस तत्त्वसे उठता है उसको मन कहते हैं। बिना कारण जब वृत्ति नाचती रहती है और नाना इच्छाएँ एकके बाद एक उठती रहती हैं और किसी सिद्धान्त पर नहीं ठहरती यह मनतत्त्वका कार्य्य है। मनके नचाने वाले संस्कार अथवा और भी पूर्व्वार्जित अनन्त संस्कारोंके चिह्न जहाँ अङ्कित रहते हैं उस तत्त्वको चित्त कहते हैं। जो तत्त्व सत् और असत् विचार करके सिद्धान्त निश्चय करता है उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिकी सहायतासे ही मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार अच्छा बुरा, हेय उपादेय और पाप पुण्य आदि निर्णय करनेमें समर्थ होता है और अहङ्कारतत्त्व उसका नाम है कि जिसके बलसे जीव अपने आपको इस विराट् ब्रह्माण्डसे एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें मानता है। अहङ्कारतत्त्वके बलसे ही मनुष्य अपने आपको मनुष्य, स्त्री या पुरुष, दरिद्र या धनी, राजा या प्रजा इत्यादि रूपसे समझनेमें समर्थ होता है। अन्तःकरणके इन मन चित्त बुद्धि और अहङ्काररूपी चार तत्त्वोंमेंसे चित्ततत्त्व मनतत्त्वका और अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। चित्तमें कर्म्मके बीजरूपी संस्कार अङ्कित हैं और वह पीछेसे पदार्थ दिखाता है इस कारण मन अहर्निश चञ्चल होकर नाचा करता है।

इस कारण स्पष्ट रूपसे निश्चित हुआ कि चित्त, मनका अन्तर्विभाग है। उसी प्रकार बुद्धितत्त्वकी चालना अहङ्कारतत्त्वकी सहायतासे होती है; जिस जीवमें जैसा अहङ्कार रहता है वह केवल उसीके अनुसार अपनी बुद्धिकी चालना कर सकता है। जो स्त्री है वह स्त्रीत्वके अहङ्कारसे, जो पुरुष है वह पुरुषत्वके अहङ्कारसे, जो गृहस्थ है वह गृहस्थके अहङ्कारसे, जो सन्न्यासी है वह सन्न्यासीके अहङ्कारसे, जो प्रजा है वह प्रजाके अहङ्कारसे और जो राजा है वह राजाके अहङ्कारसे अपने अहङ्कारके अनुसार सत् असत् और हेय उपादेय आदिका सिद्धान्त निश्चय कर सकता है। अतः निश्चय हुआ कि अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। परन्तु अहङ्कार तत्त्वके भेद अलौकिक हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं प्रजा हूँ, मैं राजा हूँ, यह सब मलिन अर्थात् अशुद्ध अहङ्कार हैं। मैं वेदज्ञ हूँ, मैं तत्त्वज्ञ हूँ, मैं ब्रह्मज्ञ हूँ, और मैं ब्रह्म हूँ यह शुद्ध अहङ्कार हैं। मलिन अहङ्कार जीवको इन्द्रियोंमें लगाकर गिरा देता है और शुद्ध अहङ्कार साधकको आत्माकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है। मनतत्त्वको अभिभूत करने वाला जैसा चित्ततत्त्व है उसी प्रकार बुद्धितत्त्वको अभिभूत करने वाला अहङ्कारतत्त्व है। संसारी मनुष्यको जिस प्रकार स्त्री माया रज्जुसे बाँधकर संसारका कार्य्य कराती है उसी प्रकार चित्त मनको और अहङ्कार बुद्धिको फँसाकर कार्य्य कराया करते हैं।

जीव संस्कारोंका दास है; वासनासे उत्पन्न संस्कार ही मनुष्योंको जकड़ कर रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण है। वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म्म, कर्म्मसे पुनः वासना, वासनासे पुनः संस्कार इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन बना रहता है। पूर्व्वजन्मार्जित कर्म्मसंस्कार अथवा इस जन्मके संगकी स्मृति जैसे मनुष्यके चित्तमें अङ्कित रहती है उसी प्रकारकी आसक्ति

उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनुसार मनुष्य उसी आसक्ति सम्बन्धीय विषयमें जकड़ा रहता है। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें उत्पन्न होती है चित्त और मनरूपी स्त्री पुरुषके सङ्गम से आसक्तिका जन्म होता है। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुकी रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है उसी प्रकार आसक्ति के यत्नसे मन खिंच कर आसक्तिसे सम्बन्ध युक्त विषयको धारण कर सृष्टिको अग्रसर करता है। दूसरी ओर बुद्धिराज्यका सिद्धान्त कुछ और ही है। यहाँ अहङ्कार और बुद्धिके सङ्गमसे भावतत्वका उदय होता है। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्ध भाव क्रमशः अन्तःकरणको मल-रहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा देता है। मनुष्य केवल दो तत्वकी सहायतासे ही शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म करनेमें समर्थ होते हैं। या मनुष्यगण आसक्तिके वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं या भावप्रणोदित होकर कर्म्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्तिकी बहुशाखायें हैं क्योंकि विषय अनन्त हैं; परन्तु शुद्ध भाव एक अद्वैत दशाको प्राप्त हो सकता है क्योंकि ब्रह्मपद अद्वैत है। आसक्तिसे काम करनेवाले मनुष्य प्रारब्धकी सहायता, गुरुकी सहायता वा देवताओंकी सहायतासे ही बच सकते हैं नहीं तो उनका फँसना निश्चित है। परन्तु शुद्ध भावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फँसते। उत्तरोत्तर उनकी ऊर्ध्वगति ही होती रहती है। मनुष्यने पूर्व्वजन्मोंमें जैसे संस्कार संग्रह किये हैं उसीके अनुसार उसमें आसक्ति होगी। उसी आसक्तिके अनुसार उसको हेय और उपादेयका विचार होगा, क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही आसक्तिमूलक हैं। जिस मनुष्यमें पूर्व्वजन्मार्जित जिस प्रकारकी आसक्ति है उसी आसक्तिके अनुसार वह विषयमें सुख दुःख अनुभव करेगा और उसी संस्कारके अनुसार उसके निकट जो विषय सुख देगा वही उपादेय और जो दुःख देगा वही हेय

समझा जायगा। उपादेय विषयमें राग और हेय विषयमें द्वेष होना स्वतः सिद्ध है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जो मनुष्य केवल आसक्तिके द्वारा चालित होते हैं वे सब समय बंधे रहते हैं, वे कदापि मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते। हाँ, यदि कोई और शक्ति उनको सहायता करे और बलपूर्व्वक खींचे तभी वे उस जकडी हुई अवस्थामें भी कुछ आगे बढ़ सकते हैं। यदि पूर्व्वजन्मार्ज्जित कोई विशेष कर्म्म बलवान् हो कि जो कर्म्म उसके प्रारब्ध बलसे सामने आकर उसको रोके, अथवा उस पर करुणामय गुरुकी कृपा हो, अथवा उसको दैवी सहायता हो तभी यह आसक्तिसे जकड़ा हुआ व्यक्ति ऊपरकी ओर कुछ चल सकता है, नहीं तो उसका नीचेकी ओर गिरना और बन्धन दशामें बना रहना सदा सम्भव है। अशुद्धभाव तो आसक्ति राज्यमें ही रखनेवाला तत्व है। आसक्तिमें बंधे हुए जो जीव चलते हैं अशुद्धभाव उनका स्वतः ही साथी है क्योंकि बिना भावके विषयका अनुभव नहीं होता है। परन्तु शुद्धभावकी सहायता लेकर चलनेवाले सज्जनोंकी गति कुछ विलक्षण ही है। शुद्धभाव ब्रह्मसे युक्त होनेके कारण उसमें नीचेकी ओर गिरनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है।

भावके साथ आसक्ति और आसक्तिके साथ भावका भी रहना स्वतःसिद्ध है, क्योंकि आसक्तिके बिना कर्म्म नहीं हो सकता और बिना भावके विषय अनुभवमें नहीं आ सकता। आसक्तिकी जहाँ प्रधानता होती है वहाँ असद्भाव गौणरूपसे रहता है परन्तु जहाँ शुद्धभावकी प्रधानता होती है वहाँ आसक्ति भी बहुत क्षीणता धारण करके छिपी हुई रहती है। परन्तु इस दशामें आसक्ति बलहीन हो जाती है। सद्भावमें आसक्तिका रहना सम्भव है। इसी कारण भक्तिशास्त्रमें शुद्धभावयुक्त रागात्मिका भक्तिके भेदोंको आसक्ति कहते हैं। यथाः—दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति इत्यादि। शुद्ध भावकी प्रधानतामें विलक्षणता

यह है कि शुद्ध भावकी सहायतासे पापकार्य्य पुण्यकार्य्यमें, और प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्तिधर्म्ममें परिणत हो सकता है। इसी कारण आपद्धर्म्ममें पूज्यपाद महर्षियोंने भावतत्त्वकी प्रधानता मानी है। केवल शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्मके साधनोंको अभ्यास करते हुए क्रमशः शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाता है। शुद्धभावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्मका साधन करते रहने पर भी उन्नत अधिकारी क्रमशः भुव, स्वः, जन, तप आदि उन्नत भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध भावकी सहायतासे ही आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता हुआ पुण्यात्मा उच्च अधिकारी देवत्व ऋषित्व आदि उन्नत दिव्य अधिकारोंको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, व्यास, वशिष्ठादि दिव्यपद ये सब शुद्ध भावकी सहायतासे ही प्राप्त होते हैं। यह केवल शुद्ध भावकी सहायतायुक्त साधनकाही फल है कि जिससे प्रवृत्तिके अधिकार निवृत्तिमें परिणत हो जाते हैं और भावशुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त किया हुआ तपस्वी या यज्ञपरायण साधक या तो अन्तिम सत्यलोकमें पहुँच कर निवृत्तिधर्मके पूर्ण अधिकारको प्राप्त करता हुआ सूर्य्यमण्डल-भेदन द्वारा ब्रह्मसायुज्यरूपी मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है, अथवा इसी देहमें सहजगतिको प्राप्त करके ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी सर्व्वश्रेष्ठ पदवीको प्राप्त कर लेता है। भावशुद्धि द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है, भावशुद्धिमें उत्तरोत्तर उन्नति लाभ करता हुआ आरुरुक्षु मुनि क्रमशः अपने अन्तःकरणको पूर्ण रूपसे रज-तमके मलसे विशुद्ध कर लेनेमें समर्थ होता है, और इसी शैलीके अनुसार शुद्ध भावके प्रभावसे प्रवृत्ति मूलक आचरण समूह भी साधकको निवृत्तिके आचरणका फल प्रदान किया करते हैं। प्रवृत्तिमूलक भाव जब निवृत्तिभावमें परिणत होते हैं तो उस दशाको अन्तर्द्रष्टा योगिगणने चार मार्गोंमें विभक्त किया है। प्रथम अवस्था यह कहाती है कि जब मलिन भावकी प्रधानता रहनेके कारण-प्रवृत्तिकी

ही प्रधानता रहे। दूसरी अवस्था यह कहाती है कि जब मलिन भाव कुछ शुद्ध होने लगा हो परन्तु वृत्ति प्रवृत्तिकी ओर ही झुकती हो और कभी कभी निवृत्तिके संस्कार मनमें उदय होते हों। तीसरी अवस्था यह कहाती है कि जब मलिन भाव और अधिक शुद्धताकी ओर अग्रसर हुआ हो और उस समय निवृत्ति अच्छी लगती हो परन्तु प्रवृत्तिका आनन्द भी समय समय पर मनको प्रवृत्तिके सुखकी ओर खींच लेता हो। और चौथी उत्तम अवस्था यह कहलाती है कि जिस समय मनमें शुद्ध भावकी प्रधानताके कारण निवृत्तिही मनमें स्थापित हो गई हो और प्रवृत्तिकी ओर मन झुकता ही न हो। इस प्रकारसे भावशुद्धिकी सहायतासे अन्तमें अन्तःकरण निवृत्तिमय हो जाता है और उस समय साधक में प्रवृत्तिमूलक कर्म भी निवृत्तिके अधिकारके फल प्रदान किया करते हैं। कर्मयोग विज्ञान इसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है।

शुद्ध भावकी सहायतासे किस प्रकारसे पापकर्म पुण्यकर्ममें परिणत हो सकता है इसके लिये कर्म रहस्यका कुछ वैज्ञानिक तात्पर्य समझने योग्य है। कर्ममीमांसा दर्शनमें कहा है:—

"कर्मबीजं संस्कारः"
"संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः"
"तया मोक्षोपलब्धिः"

इन सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि कर्मका बीज संस्कार है और संस्कार शुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है एवम् क्रियाशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे एक वृक्ष जब अपने समयपर फूल और फल देकर मर जाता है तो उसका बीज यदि रह जाय तो उस बीजको जमीनमें बोनेसे पुनः वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति हो जाती है। यह बीज बरसों तक सुरक्षित रह सकता है, और जब बोया जाय तब ही वैसा ही वृक्ष उत्पन्न कर सकता है। ठीक उसी प्रकार

मनुष्यके शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म जैसे जैसे वह मनुष्य करता है वैसे वैसे कर्म बीजरूपी संस्कार उस मनुष्यके चित्ताकाशमें जमा होकर सुरक्षित होते जाते हैं, और कालान्तरमें उनके अङ्कुरित होनेकी बारी आनेपर वे बीजरूपी संस्कार जन्मान्तर उत्पन्न करके जाति आयु और भोगरूपी फल उत्पन्न कर रहे हैं। पुनः उन्हीं फलोंके साथ ही साथ नये कर्मसे नये बीज बनकर जीवके चित्ताकाशमें एकत्रित होते हैं, इस प्रकारसे जीवका आवागमनचक्र बराबर बना रहता है। यदि शुद्धभाव द्वारा संस्कारोंकी शुद्धि की जाय तो कर्मकी शुद्धि होती है और यदि कर्मकी शुद्धि हो जाय तो वे कर्म पुनः जीवको बन्धनग्रस्त नहीं कराते और इसी प्रकार निष्काम कर्म रूपी कर्मशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही कर्ममीमांसाका सिद्धान्त है। जब शुद्धभावोंके द्वारा संस्कार शुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर मोक्षकी प्राप्तितक मनुष्यको हो सकती है तब शुद्ध भावोंके प्रभावसे असत् पाप कर्म सत् पुण्य कर्ममें परिणत होंगे इसमें सन्देह ही क्या है ? इस विज्ञानको कुछ और भी स्पष्ट करनेके लिये उदाहरण दिया जाता है कि वैदिक सोमयज्ञमें छागपशुकी बलि होती है, छाग-बलिदानरूप पशुहनन कार्य्य साधारण रूपसे असत् अधर्म कार्य्य है; क्योंकि एक जीवका अपने निर्यमित आयुसे पहले मारकर प्रकृतिके नियममें बाधा देनेसे और हिंसाकार्य्य द्वारा तामसिक वृत्तिके संग्रह करनेसे अवश्य ही अधर्म होता है। परन्तु सोमयज्ञमें देवताओंकी प्रसन्नता और यजमानकी अपनी इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयरूपी धर्मवासनाके रहनेसे उसके अन्तःकरणके शुद्धभाव द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर पशुहननरूपी अधर्मकार्य्य भी यज्ञका अङ्ग होनेके कारण धर्मकार्य्य हो जाता है। यदि यजमान सकाम हो, तो उसके सकाम आसक्ति और धर्मजनित शुद्धभावके कारण उसको स्वर्गकी प्राप्ति

होती है। स्वर्ग पुण्य कर्म्मका फल है। इस कारण सोमयज्ञरूपी धर्मसाधन द्वारा उसको पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है। और यदि यजमान निष्काम हो और केवल देवताओंकी प्रसन्नता, जगत् कल्याणबुद्धि अथवा कर्त्तव्य परायणतासे वह सोमयज्ञ करता हो तो वह यज्ञ उसके मोक्षका कारण होगा। प्रथम दशामें धर्मभावरूपी शुद्धभावके कारण अर्थात् यजमानके अन्तःकरणकी भावशुद्धिके कारण उसके अन्तःकरणमें संस्कार शुद्धि होकर उसको पशुयागरूपी सोमयज्ञ द्वारा पुण्य फलरूपी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यही संस्कारशुद्धि द्वारा क्रियाशुद्धि है। और यदि यजमान निष्काम *व्रतपरायण हो तो अधिकता यह होगी कि उसकी वह यज्ञरूपी क्रिया नवीन बीज उत्पन्न करनेमें* असमर्थ होगी, उसके अन्तः-करणका यह संस्कारबीज भर्जित बीजके सदृश हो जायगा। उस दशामें वह पशुयज्ञ रूपी यज्ञकर्म्म उस यजमानके मुक्तिका कारण होगा। यही क्रियाशुद्धिसे मोक्षप्राप्तिका विज्ञान है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यह स्पष्ट निश्चित हुआ कि शुद्धभावकी सहायतासे मनुष्य असत् पाप करता हुआ भी पवित्र पुण्य कर्मका फल लाभ कर सकता है। आर्य्यजातिके समाज संस्कारमें वर्त्तमान देश-कालमें इसी भावतत्त्वका अवलम्बन करना परमावश्यकीय होगा।

आर्यजातिके स्वरूपको सुरक्षाके सम्बन्धमें वर्ण धर्मकी स्वरूपरक्षा सबसे प्रधान कर्त्तव्य है। वर्णधर्मका विस्तारित विज्ञान इस ग्रन्थके प्रथम खण्डमें पहले ही वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट रूपसे दिखाया गया है कि रजोवीर्यकी शुद्धि ही वर्णधर्मकी प्रधान भित्ति है। वर्त्तमान घोर आपत्कालके अनुसार कैसी ही सामाजिक रीति नीतिकी संसारको आवश्यकता हो, तथापि रजोवीर्य शुद्धिके किसी अंशमें भी किसी प्रकारकी बाधा न हो सके, इसका विचार सामाजिक नेताओंको सदा रखना उचित होगा। जिस दिनसे चातुर्वर्ण्यकी रजोवीर्य शुद्धिका विचार उठ जायगा, उसी दिनसे

आर्य-जाति पृथिवीसे लुप्त होने लगेगी इसमें सन्देह नहीं। दूसरी ओर जितने दिनों तक रजोवीर्य शुद्धिका विचार पूरा रहेगा, सब आपत्ति आनेपर भी इस जातिका नाश नहीं हो सकेगा। यद्यपि अज्ञानका प्रभाव तथा कालधर्मके अनुसार वर्त्तमान समयमें चातुर्वर्ण्यमें अनेक अवान्तर वर्ण उत्पन्न हो गये हैं। यथा एक ब्राह्मणसे दशविध ब्राह्मण और दशविध ब्राह्मणोंमें अनेक शाखाभेद यथा कान्यकुब्ज शाखासे सरजूपारी, यज्ञाली, जिजोतिया आदि अवान्तर भेद और उसके भी अनेक प्रशाखाएं देखनेमें आ रही हैं, उसी प्रकार गौड़में छन्याती, सनाढ्य आदि अनेक भेद, महाराष्ट्रमें ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, देशस्थ, कोंकणस्थ आदि अनेक भेद इत्यादि इत्यादि देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय वर्णमें तथा वैश्य वर्णमें भी अनेक अवान्तर भेद पाये जाते हैं और शूद्रवर्णमें तो शाखा प्रशाखाओंका पता लगना ही कठिन हो गया है, परन्तु यथार्थमें आजकलके ये सब अगणित वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूपी चातुर्वर्ण्य और कई एक अनुलोमज वर्णोंके ही अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि अनेक समय इन अगणित वर्णोंमेंसे कई वर्णोंके मौलिक स्वरूपताका पता लगाना भी कठिन हो जाता है तथापि ये सब शास्त्रोक्त वर्णोंके अन्तर्गत ही हैं यह तो निश्चय ही है। इस समय वर्णधर्ममें सामाजिक संस्कार करते समय चाहे खान, पान, रीति, नीति, आचार, व्यवहार, संस्कार, शिक्षा आदिमें परिवर्त्तन किया जाय, परन्तु वैवाहिक सम्बन्ध कदापि न चलाया जाय। जब साधारणतः समझा जाय कि अमुक अमुक जातियां ब्राह्मण वर्णकी हैं, अमुक अमुक जातियां क्षत्रिय वर्णकी हैं, अमुक अमुक जातियां वैश्य वर्णकी हैं तथा अमुक अमुक जातियां शूद्र वर्णकी हैं, अथवा कायस्थादि अनुलोमज जातियोंके अमुक अमुक भेद हैं, ऐसा निश्चय हो जानेपर भी तथा उक्त जातियोंकी सामाजिक उन्नतिके लिये सब प्रकारके उपाय निश्चित होनेपर भी पर-

रूपमें वैवाहिक सम्बन्ध एकाएक कदापि स्थापन नहीं होना चाहिये। बिना विशेष विचार किये वैवाहिक सम्बन्धको अपनी श्रेणिसे आगे बढ़ाना रजोवीर्य शुद्धिके मूलोच्छेदका कारण होगा। क्योंकि एक वर्णके अनेक अवान्तरभेद, देशभेद, आचारभेद तथा मर्यादाभेद होनेसे वहां कितनी रजोवीर्य शुद्धि है उसका पता नहीं चल सकता है। दूसरी ओर शास्त्रमें आज्ञा रहनेपर भी अनुलोमज विवाहकी रीति इस समय नहीं चलनी चाहिये, इसी कारण कलिवर्ज्य प्रकरणमें महर्षियोंने इसका निषेध किया है। नियोग तो प्राचीन कालमें भी निन्दनीय और कलियुगके लिये तो एक बार ही निषिद्ध है और प्रतिलोम विवाह तो आर्यजातिका बीजनाशकारी तथा घोर धर्मविरुद्ध होनेके कारण सर्वथा परित्याज्य है। इस कारण आर्यजातिके नेतृ वर्गको इस विषयमें विशेष ध्यान रखना चाहिये जिससे आर्यजातिका वैवाहिक अनुशासन शिथिल न होने पावे।

नवीन भारत तथा वर्त्तमान आर्यजातिकी वर्त्तमान आपद्-दशाकी यदि प्रवीण आर्य दृष्टिके अनुसार पर्यालोचना की जाय तो बहुतसे ऐसे गुरुतर विषय सामने आवेंगे कि जिनका आपद्धर्मके अनुसार निर्णय करना अवश्य कर्त्तव्य होगा। सबसे प्रथम स्पृश्यास्पृश्य विचार करने योग्य है। असतशूद्रके साथ स्पर्शास्पर्श, अन्त्यजोंके साथ स्पर्शास्पर्श, अनार्यधर्मी व्यक्तियोंके साथ स्पर्शास्पर्श, जलयान जहाज आदि तथा स्थलयान रेल आदिमें स्पर्शास्पर्श, सभासमिति उत्सवादिमें स्पर्शास्पर्श, युद्धकार्य, विदेश गमनादिमें स्पर्शास्पर्श इत्यादि विषय प्रथम विचारणीय हैं। इस समय यदि अपने दोषोंपर विचार किया जाय तो अज्ञान तथा प्रमादादिके कारण अनुचित ऐसे अनेक दोष दिखाई देंगे जो क्षमा करने योग्य नहीं हैं। उदाहरणकी रीतिपर समझ सकते हैं कि चर्मकार आदि अन्त्यज जातिको हिन्दूके सज्जन स्पर्श नहीं करेंगे और न उनके

साथ प्रेमका बर्ताव करेंगे, किन्तु यदि वे ही चमंकारादि अन्त्यज वर्ण ईसाईधर्म अवलम्बन करके साहब बहादुर बनकर आवेंगे तो वे ही त्रिवर्णके सज्जन उनसे हाथ मिलाने और अपने आसनपर बैठानेमें सङ्कोच नहीं करेंगे। आर्यजातिके महल्लेमें प्रायः देखनेमें आता है कि एक ही कूएँ पर हिन्दु मुसलमान तथा ईसाई पानी भरते हैं, परन्तु यदि हिन्दु जातिका कोई अन्त्यज या असत् शूद्र आवे तो उसको उस कूएँ पर चढ़ने तक नहीं देते हैं। यहां तक दुर्दशा देखनेमें आती है कि दक्षिण भारतके किसी किसी प्रान्तमें शूद्र मात्रको ब्राह्मणगण पशुके समान समझते हैं और उनके स्पर्श करते ही सचैल स्नान करना अपना परम धर्म समझते हैं। इस प्रकारकी सब बातें धर्मविरुद्ध, आचार विरुद्ध तथा अमार्जनीय हैं, इसमें सन्देह नहीं है। यद्यपि आचार प्रथम धर्म है और छुआछूतके साथ अपने शरीरमें सत्त्वगुण बढ़ना और घटना रूप धर्माधर्मका बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है, यद्यपि अन्न और जलके स्पर्शास्पर्शके इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तका बहुत कुछ घनिष्ट सम्बन्ध है इसमें सन्देह नहीं और यद्यपि वर्णधर्म, आश्रमधर्म और सदाचारको आर्यजाति अपने हृदयसे हटा देनेपर ही पतित होने लगती है, परन्तु वर्तमान देशकाल तथा पात्रके अनुसार पूर्वकथित आप धर्मके सिद्धान्तको हृदयमें रखकर बहुत कुछ विचारकी आवश्यकता है इसमें भी सन्देह नहीं है। पूर्ववर्णित आपद्धर्म नामक अध्यायमें इन वैज्ञानिक रहस्योंपर बहुत कुछ विचार किया गया है; उन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार निम्नलिखित इङ्गित किया जा सकता है—यथा वर्तमान आपद्धर्म, राजनैतिक परिस्थिति आदिके विचारसे सनातनधर्मावलम्बी प्रजा यदि निम्नश्रेणीके वर्ण अथवा अन्त्यज या आचार भ्रष्ट विधर्मी आदिके साथ सभा समिति, यानारोहण, उत्सवादि कार्य, युद्ध, देशविप्लव या ऐसे अन्य कार्योंमें स्पृश्यास्पृश्यादोषसे युक्त हो तो यह प्रायश्चित्ताई नहीं होगी। इसी प्रकार

यदि देशसेवा बुद्धि, मनुष्यसेवा बुद्धि, अतिथिसेवा बुद्धि, अन्त्येष्टि क्रिया बुद्धि और रोगी सेवा बुद्धिसे वैसे ही अस्पृश्य व्यक्तिके साथ स्पर्श दोषसे युक्त होना पड़े तो कदापि उच्च वर्णके धर्मात्मा व्यक्ति पतित या प्रायश्चित्तार्ह नहीं होंगे। दूसरी ओर सब प्रकारके आचार व्यवहार, रीति नीति तथा प्रेम सम्बन्धके व्यवहारोंमें आर्यजातिके सज्जनोंको उचित है कि जैसा आचार भ्रष्ट अनार्य-धर्मियोंके साथ वे बर्ताव करते हों उससे कम बर्ताव अपनी स्वजातिके अन्त्यज या असत् शूद्र जातिके साथ वे न करें ऐसा उनका कर्त्तव्य होना चाहिये।

जाति विभाग सम्बन्धमें जलाचरणादि विषयमें और शूद्र तथा अन्त्यज जाति विचार सम्बन्धमें वर्त्तमान समयमें बहुत कुछ आपत्तिका सामना करना पड़ रहा है। इस विषयमें सबसे पहले यह विचारके योग्य है कि आज कल भारतवर्षमें सनातनधर्मावलम्बी निम्नश्रेणीकी ऐसी अनेक जातियाँ देखनेमें आती हैं जिनकी परम्पराका कुछ भी पता नहीं चलता और सामाजिक अनुदारताके कारण जिन जातियोंके मनुष्यों पर कहीं कहीं अत्याचार भी किये जाते हैं। इन आपत्तियोंके दूर करनेके विषयमें मन्वादि स्मृति शास्त्रोंसे सहायता भी मिल सकती है यथा मनु १०—५७

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्॥

पापयोनिके मनुष्य जिनको जातिका पता नहीं चलता वे आर्य हैं या नहीं, उनके कर्मोंको देखकर उसका निर्णय करना चाहिये। ऐसी जातियोंके विषयमें यदि यह पता चले कि बहुत पुश्तसे उनके आचरण अच्छे हैं तो उनको सत्शूद्र मानकर उनको जलाचरणीय कर लेनेमें हानि नहीं होगी। इसी प्रकारसे उनकी जातिका भी विभाग किया जा सकता है। तथा इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि

आवश्यकता हो तो उनका 'धर्मपुत्र' आदि नाम देकर उनकी एक स्वतन्त्र जाति बनाकर उनका संस्कार करना तथा उनको उत्साह देना शास्त्रविरुद्ध नहीं होगा। परन्तु ये सब गुरुतर बातें भारतवर्षके तत्तत्प्रान्तकी रीति नीतिके अनुसार तत्तत्प्रांतके नेतृवर्गकी सम्मति तथा सहायतासे ही होना सम्भव है। सार्वभौमरूपसे प्रयत्न करना असुविधाजनक होगा। किसी निम्नवर्णको ऊपरकथित धर्मविधानके अनुसार उत्साह देकर उनका यथासम्भव अभ्युदय करा देनेमें यद्यपि हानि नहीं है, परन्तु वर्तमान समयमें प्रायः जिस प्रकारसे सभी निम्न वर्ण उच्च वर्ण होनेकी उच्चाभिलाषामें उन्मत्त दिखाई दे रहे हैं, हिन्दू समाजकी यह उच्छृंखल दशा बहुत ही भयजनक है। कहीं नाई वर्णके पढ़े लिखे लोग 'न्यायी' नाम धारण करके ब्राह्मण बनना चाहते हैं, कहीं कुर्मी वर्णके लोग क्षत्रिय होना चाहते हैं, कहीं चर्मकार लोग कायस्थ बनना चाहते हैं, कहीं 'बढ़ोई' वर्णके लोग मैथिल ब्राह्मण बनना चाहते हैं, इसी प्रकारसे अनेक निम्न वर्णके लोग कोई वैश्य, कोई क्षत्रिय और कोई ब्राह्मण बननेकी स्पर्द्धा करने लगे हैं। यह सब समाजविप्लवकारी बातें आर्यजातिकी स्वरूप रक्षामें घोरतर बाधक हैं इसमें सन्देह नहीं। इस घोरतर भयसे आर्यजातिको मुक्त करनेके लिये, इस त्रिलोकपवित्रकारी जातिके साथ दैवराज्यका किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है उसपर विचार करना सबसे प्रथम आवश्यक है। सनातन धर्म जिस दार्शनिक भित्तिपर स्थित है उसका अधिदैव रहस्य बहुत ही अलौकिक है। आर्यजातिके दर्शनशास्त्रके अनुसार यह स्थूल जगत् सूक्ष्म दैव जगत्के आधारपर ही स्थित रहता है। चतुर्दशभुवन या प्रत्येक ब्रह्माण्डको चलाने वाली तीन श्रेणी की दैवी शक्तियाँ होती हैं। उनके नाम—ऋषि, देवता और पितृ हैं। जैसे किसी राज्यके चलानेके लिये उस राज्यके राजाके सेनाविभाग, कोषविभाग, प्रबन्धविभाग आदि नाना विभाग होते हैं। उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डकी सुरक्षाके लिये स्थूलविभागके चालक पितृ-

गण, कर्मविभागके चालक देवतागण और ज्ञानविभागके चालक ऋषिगण अपने अपने कर्ममें सदा नियुक्त रहते हैं। देवतागण पुनः देवता और असुर नामक दो भागोंमें विभक्त हैं। आत्माकी ओर ले जानेवाली दैवीशक्ति देवता और इन्द्रियोंकी ओर ले जाने-वाली दैवीशक्ति असुर कहलाती है। इन दोनों श्रेणियोंकी देव-ताओंके साथ इस मृत्युलोककी सब प्रकार मनुष्य जातियोंका घनिष्ट सम्बन्ध है इसमें सन्देह नहीं. परन्तु पितरोंके साथ और ऋषियोंके साथ केवल वर्णाश्रम माननेवाली आर्य्यजातिका कुछ विलक्षण ही सम्बन्ध है। जो जाति वर्णाश्रम क्रमको मान कर चलती है वही जाति उच्चश्रेणिके ऋषियोंकी सहायता पाकर अध्यात्म राज्यमें अग्रसर हो सकती है? दूसरी ओर वर्ण-धर्मके अनुसार जिस जातिकी रजोवीर्य्यशुद्धि बनी रहती है और जो जाति वर्णसङ्कर होकर आचार भ्रष्ट नहीं हो जाती है वसी जातिको नित्य पितरोंकी सहायता यथानियम और यथाक्रम प्राप्त होती है। क्योंकि अपने अपने वर्ण धर्मके आचार पालन करने से और अपने अपने वर्ण-धर्मानुसार रजोवीर्यकी शुद्धि रखनेसे अर्यमा अग्निष्वात्तादि पितरोंकी स्थायी सहायता प्राप्त होती है, अन्यथा उनकी सहायताके अभावसे वह जाति नष्ट-भ्रष्ट तथा लुप्त हो जाती है। अतः वर्णाश्रम माननेवाली आर्य्यजातिके अन्तर्गत जो निम्न वर्णके मनुष्य दम्भ दर्पादिके वशीभूत होकर निरङ्कुश होते हुए उच्चवर्ण बननेका धर्मविरुद्ध प्रयास करेंगे तो लाभके बदले घोरतर क्षति ही उठावेंगे। इस अधिदैव रहस्यपर विभिन्न वर्णके नेताओंका पूरा ध्यान रहना चाहिये।

सामाजिक सम्बन्धके आचारोंमें दो विषय प्रधान हैं; वही प्रचलित भाषामें 'बेटी और रोटी' नामसे प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि वैवाहिक सम्बन्ध और भोजन सम्बन्ध ये दोनों सम्बन्ध सामा-जिक व्यवस्थाके अनुसार अति आवश्यकीय समझे जा सकते हैं।

इन दोनोंमेंसे वैवाहिक सम्बन्ध के विषयमें आपद्धर्मकी समालोचना पहले कर चुके हैं। भोजन सम्बन्ध जो अति आवश्यक विषय है उसका सिद्धान्त वर्तमान देश-काल पात्रानुसार अवश्य होना चाहिये। आचार धर्मके अनुसार भोजन व्यवहारमें स्पृश्यास्पृश्य, पात्रापात्र, शुद्धाशुद्ध, ग्राह्याग्राह्य का विज्ञान प्रथम खण्डमें बहुत कुछ कहा गया है। आगे अधिकारके अनुसार तमोगुण का सम्बन्ध न होने देना और सत्वगुणको अभिवृद्धि का मौका देना यही इस विज्ञानकी मौलिक भित्ति है। और यही कारण है कि सत्य आदि पूर्व युगोंमें खान पानके विषयमें स्मृतिकारोंने अधिक सावधानता नहीं की थी और कलियुगमें अधिक सावधानताकी आज्ञा दी है। इसका प्रधान कारण यह है कि कलियुगमें दुराचारी अधार्मिक व्यक्ति अधिक होंगे और कलियुगमें वर्णसंकर तथा कर्मसङ्कर प्रजा बहुत बढ़ जायगी। इसी कारण से कलियुगमें वैवाहिक सम्बन्धके लिये अलग अलग जाति तथा अलग अलग श्रेणी बाँध कर रजोवीर्यकी पवित्रताकी रक्षा की गई। परन्तु ऐसा होने पर भी वर्तमान आपद्धर्मके अनुसार खानपानकी शृङ्खलामें यदि कुछ शिथिलता की जाय तो विशेष हानि नहीं है और ऐसा न होनेसे वर्णाश्रम शृङ्खलामें अधिक धक्का लगनेकी सम्भावना है। सबसे प्रथम जलाचरणका विषय विचार करने योग्य है। सारे भारतवर्षमें भ्रमण करके यदि कोई विचारशील व्यक्ति विचार करेंगे तो इस विषयमें बहुत कुछ विचित्रता देख कर आश्चर्य होंगे। दक्षिण देशमें ब्राह्मणेतर किसी वर्णका भी जलग्रहण करना अधर्म समझा जाता है। दूसरी ओर काश्मीरमें ब्राह्मणगण मुसलमान तकका जलग्रहण करते हैं, केवल जलपात्रको मुसलमान नहीं छूता है और ऊपरसे मसकका जल डाल देता है। राजपूतानेकी मरुभूमिमें ब्राह्मणगण चर्मके चरसेका पानी पीते हैं। केवल वह जल थोड़ी दूर बह निकलनेहो शुद्ध समझा जाता है। बङ्ग देशमें विधवा

विवाहादि कदाचार रहित शुद्ध जातियोंका केवल जल ग्रहण करते हैं परंतु उत्तर भारतमें जो कि आचारपालन विषयमें सर्व प्रधान देश समझा जाता है वहाँ विधवाविवाह करनेवाली कदाचारी काहार आदि शूद्र जातिका भी जलपान करनेको भी अनुचित नहीं समझते। सुतरां अब जब भारतवर्षके सब प्रान्तके अधिवासी सब प्रान्तोंसे हेलमेल करने लगे हैं तो इस समयका आपत्काल विचारकर जलाचरणके विषयमें कुछ सुगमताका मार्ग निकालना अवश्य उचित है। जिस शूद्र जातिमें विधवाविवाहका प्रचार नहीं है उनका जलग्रहण द्विजमात्र कर सकते हैं। तदतिरिक्त जो और भी सदाचारसम्पन्न शूद्र हैं उनका जलग्रहण करना भी तत्तत् प्रान्तोंकी रीतिके अनुसार अनुचित नहीं होगा।

शास्त्रोंमें इस प्रकार प्रमाण भलीभांति पाया जाता है कि पूर्व युगोंमें निन्दनीय होनेपर भी अनुलोम वैवाहिक विधिके अनुसार उच्चवर्णके पुरुष निम्नवर्णकी कन्या ग्रहण कर सकते थे। उसी रीतिपर चारों वर्णोंमें खानपानकी रीति भी प्रचलित थी ऐसा प्रमाण मिलता है। परन्तु कलिवर्ज्य प्रकरणमें इन विषयोंका कलियुगमें सर्वथा निषेध पाया जाता है। ऐसी आज्ञाका वैज्ञानिक कारण यद्यपि पहलेही बहुत कुछ कहा गया है परन्तु यह तो स्वतःसिद्ध है कि शक्ति और स्वास्थ्यवान् व्यक्तिके लिये न तो नियमकी कठोरताकी इतनी आवश्यकता होती है और न पथ्य सेवनके विषयमें हो इतने अधिक विचार रखनेका प्रयोजन होता है। केवल रोगी तथा शक्ति हीन व्यक्तिके लिये ही नियमकी कठोरता और पथ्यादि पर विशेष विचार रखनेकी आवश्यकता होती है। सत्य त्रेतादि युगोंमें देशकाल अनुकूल होनेसे तथा मनुष्यका बलवीर्य आध्यात्मिक शक्ति आदिकी सुरक्षा होनेसे तमोगुणवर्द्धक इस प्रकारके आचारके भङ्ग होनेसे अधिक हानि की सम्भावना नहीं समझी जाती थी। इसी कारण उक्त शुभ युगोंमें खानपानके इतने कठोर नियम नहीं रक्खे गये थे। इस वैज्ञानिक

सिद्धान्तके अनुसार कलियुगमें खानपानकी व्यवस्था दृढ़ताके साथ मानना अवश्य ही उचित है। अतः इस घोर तमोमय युगमें वर्णगुरु ब्राह्मण जातिमें एक शुद्ध श्रेणी आचारवान् ब्राह्मणोंकी ऐसी रहनी उचित है कि जो ब्राह्मणश्रेणी खानपानके सदाचारोंको पूर्ण रीतिसे मानें और अपनी आध्यात्मिक शक्तिको पूर्ण रक्षा कर सकें। इसके लिये हिन्दूजातिके सब नेताओंको सदाचारी ब्राह्मणोंको उत्साह देना उचित है और पुरस्कार तथा सम्मानादि द्वारा उनकी इस पवित्रताकी सदा पूजा करना कर्त्तव्य है। दूसरी ओर वर्तमान आपत्तियोंका सामना करनेके लिये आपद्धर्मका आश्रय लेकर खान पानकी इस कठिनताको कुछ शिथिल कर देने पर भी विशेष हानि नहीं होगी। इस समय प्रथम तो चारों वर्ण अपने अपने धर्म पालन करनेमें असमर्थ हैं, दूसरी ओर कर्म संकरता सब वर्णोंमें आजानेसे ब्राह्मण क्षत्रियादि प्रत्येक वर्ण अन्य वर्णोंके कर्मादि कर ही रहे हैं। ब्राह्मणगण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रके कर्म करते हुए सदा देख, पड़ते हैं। क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण पूजा यज्ञनादि कुछ कर्मोंको छोड़ कर बाकी चारों वर्णोंके कर्म करनेमें भी प्रवृत्त हो रहे हैं। अतः मानना ही पड़ेगा कि इस समय आर्य जातिमें जन्मगत पवित्रताके रहने पर भी कर्मगत पवित्रताकी श्रृङ्खला प्रायः नष्ट हो गई है। सुतरां भगवान्की ऐसी इच्छा ही प्रतीत होती है कि रजोवीर्यकी शुद्धिकी ओर पूरा तथा अधिकसे अधिक ध्यान रखकर खान-पानके आचरणमें अपेक्षाकृत शिथिलता आपद्धर्मके अनुसार कहीं कहीं कर दी जायगी तो वर्तमान देशकालमें विशेष हानि नहीं होगी। नौयात्रा, रेलयात्रा, आकाशयात्रा आदिकी जैसी रीति आजकल जगत्में प्रचलित हुई है और उसका प्रवाह जिस प्रकार दिन व दिन बढ़ रहा है उसके अनुसार यह सबको मानना पड़ेगा कि इन यात्राओंमें खान पानकी कठोरता कुछ कम करना अवश्य ही पड़ेगा। युद्ध, वाणिज्य, लौकिक विद्या

संग्रह आदिके विचारसे भी विदेश यात्रा तथा अनार्यभूमिमें यात्राके साथ ही साथ यदि इन नियमोंकी शिथिलता न की जायगी तो स्वदेश और स्वजातिकी उन्नति होना वर्तमान समयमें सर्वथा असम्भव है। इस कारण जहां तक सम्भव हो खान पानके धार्मिक लक्ष्यको न भूलकर केवल आपद्धर्म्म समझकर यदि खान पानमें कुछ कुछ शिथिलता अर्थ और कामकी इच्छा करने वाले व्यक्ति करें तो वे प्रायश्चित्तसे शुद्ध हो सकेंगे। विशेषतः शास्त्र भित्तिहीन केवल देशाचार तथा लोकाचार आदि जो सब कुरीतियां चल पड़ी हैं उनको अवश्य उठा देनी चाहिये। चौकाकी रेखाको स्पर्श करते ही रेखासे दूरवर्ती अन्नका अपवित्र हो जाना, ब्राह्मण ब्राह्मणका जल तथा अन्न ग्रहण न करना इत्यादि रीतियां अवश्य ही अशास्त्रीय तथा अज्ञानसे उत्पन्न हैं। सब देशके शुद्धाचारी ब्राह्मण यदि परस्परका बनाया हुआ अन्न ग्रहण करें, सब देशके क्षत्रियगण, वैश्यगण और शूद्रगण यदि अपने अपने वर्णका अन्न ग्रहण करें तो शास्त्रविरुद्ध कदापि नहीं हो सकता। सामाजिक नेतृवर्ग यदि इन सिद्धान्तोंको लक्ष्यमें रखकर सामाजिक संस्कार की व्यवस्था करेंगे और धर्मलक्ष्यको अपने सम्मुखसे नहीं हटायेंगे तो सब प्रकारसे मङ्गल हो होगा।

वर्त्तमान देशकाल पात्रका एक बड़ा जटिल सामाजिक विषय पतितोद्धारका है। प्राचीन अनार्य जातियोंसे जो क्रमशः अनेक जातियाँ हिन्दु जातिके अन्त्यजोंमें शामिल हो गई हैं अथवा ऐतिहासिक युगमें जो जातियाँ अनार्य अवैदिक धर्म्ममें अन्तर्भुक्त होकर आचारभ्रष्ट हो गई हैं अथवा पृथिवीके अन्य अनार्य्य धर्मावलम्बी प्रजा जो हिन्दु बनना चाहती है ऐसी तीन श्रेणीकी प्रजाके लिये वर्त्तमान आपत्कालमें हिन्दुनेतृवर्गको क्या करना उचित है? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान करनेके लिये इस समय अवश्य ही आपद्धर्मकी शरण लेना उचित है। वर्णाश्रमधर्म्ममें रजोवीर्यकी शुद्धि परम आवश्यकीय

है। और चातुर्वर्ण्यकी बीजरक्षा करना हिन्दुनेताका सबसे प्रधान कर्तव्य है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इस कारण बलपूर्वक यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जातिको अनार्य धर्ममें प्रवेश कराया गया हो तथा उसका या उनका रजोवीर्य शुद्ध रहा हो तो तत्तद्वर्णके नेतागण प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने अपने वर्णोंमें ले सकते है। परन्तु यदि वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उनके रजोवीर्यमें भेद पड़ गया हो तो तत्तद्वर्णके अधिकारी उनको कदापि अपने वर्णोंमें न लेवें। यदि ऐसा लेंगे तो उनका वर्ण भी भ्रष्ट हो जायगा। जिन जातियोंमें रजोवीर्य शुद्धि नष्ट हो गई हो परन्तु वह हिन्दु होना चाहती हैं उनको भी योग्य प्रायश्चित्त कराकर हिन्दु जातिकी सीमाके भीतर ला सकते हैं। वे शुद्ध वर्णमें नहीं लाये जा सकते। परन्तु 'धर्मपुत' 'ब्रह्मपुत' 'अग्निपुत' आदि नाम देकर उनको हिन्दु बनाते हुए उनकी एक स्वतन्त्र श्रेणी बांधी जा सकती है। और यदि ऐसा धर्मपुत आदि जातियां सात अथवा ततोधिक पीढ़ी तक विशेष आचारवान् समझे जायें तो उनको क्रमशः कुछ उच्चाधिकार भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार पृथिवीकी अन्य अनार्य धर्मावलम्बी प्रजा भी योग्यता दिखाकर यदि पूज्यपाद महर्षिगण प्रदर्शित आर्य मार्ग की शरण लेना चाहें तो उनके साथ भी हिन्दु नेतृवर्ग इसी श्रेणिका व्यवहार कर सकते हैं। दूसरी ओर सनातन धर्मियोंके अन्तर्गत जो पतित और अन्त्यज जातियां है उनको उठाकर एक बार ही उन्नत करनेका जो वर्त्तमान कालीन आग्रह है वह भी शास्त्र-विरुद्ध तथा सनातन धर्मियोंकी पवित्रता भ्रष्टकारी है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यदि उनका आचरण सात अथवा ततोधिक पीढ़ीसे अच्छा चला आता हो और वर्त्तमानमें भी उनकी स्थिति योग्य समझी जाय तो उनको क्रमशः कुछ उच्चाधिकार दिया जा सकता है। कुछ भी हो हिन्दु नेतृवर्गको सदा ही सनातन धर्मके विशुभाव और आर्य जातिकी चिरप्रसिद्ध उदार नीतिको कदापि भूलना उचित

नहीं है। उनके प्रतिमुहूर्त निम्नवर्णोंके साथ प्रेम, सौहार्द्र, दया तथा भ्रातृ भावका आचरण करनेसे विरत होना उचित नहीं है।

वर्तमान अर्थ और काम प्रधान युगमें विवाह पद्धतिकी त्रिलोक पवित्रकर आर्यश्रृङ्खलाके जो तोड़नेका प्रवाह दिखलाई पड़ता है वह बहुत ही मर्मविदारक है। क्योंकि त्रितापतप्त दुर्बल पराधीन आर्यजातिके निकट अपने गौरव करने योग्य और कुछ भी नहीं है, केवल अपनी जातिकी रजोवीर्य शुद्धि और अपनी माताओंकी पवित्रता यही दो प्रधान अवलम्बन हैं। रजोवीर्यकी शुद्धि भी केवल हमारी माताओंकी पवित्रतापर ही निर्भर करती है। माताओंकी पवित्रताकी मूलभित्ति सतीधर्म पालन है। त्रिलोकपवित्रकारिणी आर्यनारियोंके सतीत्व धर्मका दिग्दर्शन इससे पहले अध्यायमें करा चुके हैं। वैवाहिक रीति नीति अथवा नारीधर्ममें आपद्धर्मके अनुसार कुछ ही संस्कार किया जाय परन्तु ऐसा कोई भी परिवर्तन करना उचित नहीं है कि जिससे हमारी माताओंके सतीत्व संस्कारमें कुछ भी न्यूनता हो। इस कारण आर्यजातिके श्रेष्ठ वर्णोंमें विधवा विवाहका नाम भी नहीं लेना उचित है और सदा यह सिद्धान्त रखना उचित है कि जिन जातियोंमें विधवा विवाह होता है वह जाति श्रेष्ठ जाति नहीं है। हाँ, निम्नश्रेणीकी शूद्र जाति अथवा अन्त्यज जातिमें विधवा विवाहकी प्रथा सदासे जारी है और अब भी रह सकती है। और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ आदि उन्नत जातियोंमें यदि कोई स्त्री अनाचारिणी होकर पुरुषान्तर ग्रहण करे तो उसकी एक स्वतन्त्र श्रेणी बनाई जा सकती है और वह श्रेणी निम्न तथा निकृष्ट समझी जायगी। भारतवर्षके प्रान्तोंमें कहीं कहीं इस प्रकारकी श्रेणियाँ अब भी प्रचलित हैं। परन्तु साथ ही साथ हिन्दुविधवाओंको जो देवी रूपसे और संन्यासिनी रूपसे आदर तथा पूजा करनेकी विधि प्राचीनकालमें प्रचलित थी वह सम्मान श्रेष्ठ वर्णोंमें अक्षुण्ण रहना चाहिये। क्योंकि बिना गुणकी

पूजाके गुण कदापि स्थायी नहीं हो सकता। जबतक हिन्दू समाजमें सतीत्वकी पूजा और विधवा धर्मकी पवित्रताका आदर बना रहेगा तबतक आर्यमहिलाएँ अपनी पवित्रताकी रक्षा करती हुई अपनेको धन्य समझेंगी इसमें सन्देह नहीं। दूसरी ओर वृद्धावस्थामें विवाह यदि वंश रक्षा तथा धर्मबुद्धिसे रहित हो तो पुरुष समाजमें निन्दनीय होना उचित है। उसी प्रकार धर्मभावरहित होकर केवल अर्थ कामके निमित्त पुरुषोंके लिये बहुविवाह पवित्र हिन्दू समाज में अवश्य ही घृणास्पद होना उचित है। और यह सदा स्मरण रखना उचित है कि आर्यजातिका विवाह अर्थ और कामके निमित्त नहीं है, धर्म और मोक्षके निमित्त है।

हिन्दू समाजमें विवाहादि के सम्बन्धमें जो बड़ी बड़ी कुरीतियाँ प्रचलित हैं उनकी ओर हिन्दुनेताओंको सबसे पहले ध्यान देना उचित है। आर्य जातिकी पवित्रता भ्रष्ट करनेवाली तथा उसको बड़ा भारी धक्का देनेवाली कुरीतियोंमेंसे सबसे बड़ी कुरीति वरसे कन्याकी आयुका अधिक होना है। अनेक स्थानोंमें देखनेमें आता है कि कुलमर्यादा तथा अर्थकामके विचारसे कन्याकी आयु वरसे अधिक होने पर भी माता पिता ऐसे विवाहके करनेमें पाप नहीं समझते हैं। दर्शनशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र दोनोंका ही यह सिद्धान्त है कि इस प्रकारका विवाह केवल पाप जनक ही नहीं है किन्तु आर्य्यजातिको नष्ट भ्रष्ट और लोप करनेवाली है। अधिक आयुकी स्त्रीका माताके समान समझनेकी आज्ञा स्मृतिशास्त्रमें पाई जाती है। इस कारण सबसे प्रथम सनातन धर्म नेताओंको इस कुरीतिको एक दम रोक देनेका प्रयत्न करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें ऋषिगोत्रके भूल जानेसे लौकिक गोत्रके प्रचार होनेसे प्रमादसे अथवा अर्थकामके लोभसे स्वगोत्रमें विवाह करना भी पापजनक नहीं समझा जाता। दर्शन शास्त्रद्वारा यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित है कि सगोत्र विवाह द्वारा जाति और वंश

अवश्य ही नष्ट हो जाता है। स्मृतिशास्त्र हाथ उठाकर कहता है कि सगोत्रा कन्या माताके तुल्य है। अतः आर्यजातिके नेतृवर्गको जहाँ तक हो सके आर्ष गोत्रोंके प्रचार कराने तथा सगोत्र विवाहके बन्द करनेके विषयमें सदा प्रयत्न करना उचित है। कन्याविक्रयका पाप गोहत्याके तुल्य स्मृतिशास्त्रमें समझा गया है। अतः कन्याविक्रयीको सनातनधर्मी समाज पतित समझे ऐसा प्रयत्न सदा होना उचित है। और ऊपर लिखित सब पापोंके लिये गुरुतर समाजदण्डविधान होना उचित है। कालप्रभावसे आर्यजातिकी अर्थदृष्टि इतनी बढ़ गई है कि ब्राह्मणक्षत्रियादि उच्च वर्णोंमें तिलक और पण आदिके नामसे वरपक्षवाले कन्या पक्षसे इतना धन बलपूर्वक वसूल करते हैं कि जिससे हिन्दुसमाजकी बड़ी भारी क्षति और निन्दा देखनेमें आ रही है वस्तुतः यह प्रथा भी अशास्त्रीय, अकीर्तिकर और घृणित है इस प्रथाके द्वारा दिनदिन सद्गृहस्थगण दरिद्र और नीच बनते जाते हैं, तथा विवाहके पवित्र लक्ष्यको एक बार ही भूलते जाते हैं और कुटुम्बोंमें आत्मीयता नाश और अशान्ति कलहकी वृद्धि होती जाती है अतः सब वर्णके नेतृवर्गको दृढ़व्रत होकर इस सामाजिक कुप्रथाके दूर करनेमें पुरुषार्थ करने चाहिये और साथ ही साथ अपने इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले स्वधर्मनिरत स्वदेशहितैषी युवकोंको विवाह करते समय स्वयं इस प्रथाको सामने न आने देना चाहिये। धार्मिकयुवकगण यदि चाहें तो ये स्वतः ही प्रतिज्ञाबद्ध होकर इस कुप्रथाको अति सुगमरीतिसे दूर कर सकते हैं। एक अच्छी प्रथा जो इस समय कुप्रथामें परिणत हुई है उसका उल्लेख इस स्थानपर अवश्य ही करना उचित है। ब्राह्मण जातिमें एक कौलिन्य प्रथा प्रचलित है जैसा कि बङ्गाल तथा उत्तर पश्चिम देशके कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा मैथिल ब्राह्मणोंमें अब भी प्रबल रूपसे देखनेमें आती है। प्राचीन कालमें

कौलिन्य मर्यादा तप, विद्या, विनय और सदाचार आदि गुणावली के अवलम्बनसे चलाई गई थी। अब उन गुणावलियोंके ऊपर विचार न करके केवल लकीर पीटी जाती है। जिससे अब भी समाजमें अनेक अनर्थ होते हैं। अतः शास्त्र, युक्ति और न्याय पर ध्यान देकर इस प्रथाको उठा देना उचित होगा और जिसमे गुणकी पूजा समाजमें अधिक बढ़ जाय उसके लिये प्रयत्न करना उचित होगा। उत्तर भारत और राजपुतानेमें विवाहके समय अति घृणित गाली बकना आदि जो घृणित कुरीतियां प्रचलित हैं इस प्रकारकी कुरीतियोंको बलपूर्वक दृढ़ शासनके साथ बन्द करना उचित है। इस विषयको सब श्रेणिके लोग ही स्वीकार करेंगे। वक्तव्य यह है कि सबसे प्रथम सामाजिक कुरीतियोंको दूर करके तब अन्यान्य गुरुतर विषयोंमें ध्यान देना उचित होगा। कुरीतियों के दूर करनेसे समाजमें आत्मबलकी प्राप्ति होगी और तब अन्यान्य गुरुतर समाज संस्कार सम्बन्धीय विषयोंमें सफलता हो सकेगी।

आर्यमहिलाओंके पर्देके विषयमें बहुत कुछ शंका समाधान वर्तमान कालमें सुननेमें आता है। विशेषतः भारतवर्षके कई प्रान्तोंमें स्त्रियोंके लिये कुछ भी पर्दा प्रचलित नहीं है। परन्तु कई प्रान्तोंमें पर्देकी रीतिकी बहुत कुछ दृढ़ता देखनेमें आती है। इस कारण उक्त देशोंकी पारस्परिक सामाजिक रीतिनीतियोंमें भी बहुत कुछ अन्तर पड़ता है। वर्तमान समयमें यह विषय बहुत गुरुतर दिखलाई देनेपर भी इसकी मीमांसामें बहुत काठिन्य नहीं है। वस्तुतः प्राचीनकालमें न तो बेपर्दगी ही थी और न पर्देकी गुरुतर कठोरता ही थी। वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंके पाठ करनेसे अति सुगमतासे सिद्ध होता है कि प्राचीनकालमें आर्यगण आर्यमहिलाओंके लिये अन्तःपुरनिवासकी दृढ़ताको अवश्य ही बहुत सावधानतासे रखते थे। आर्यमहिलाकी शील रक्षाके विषयमें वे बहुत ही दृढ़मत थे। पुरुषके संसर्ग तथा पुरुषकी

बराबरी करनेसे आर्यमहिलाओंको अवश्य ही बचाते थे। परन्तु पर्देकी उतनी कठोरता उस समय नहीं थी जितनी कि मुसलमान साम्राज्यके समय प्रचलित हुई है। त्रिवर्णकी आर्यमहिलाओंका यज्ञादि कार्यमें प्रत्यक्षरूपसे सम्मिलित होना, क्षत्रिय महिलाओंका स्वयम्बर तथा युद्ध कार्यमें सहायिका बनना, अतिथिसेवाकी त्रिलोक-पवित्रकर प्रथा आदि द्वारा यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकालमें पर्देकी कठोरता नहीं थी। उसी प्राचीन आदर्श पर इस प्रथाकी भी संस्कार होना उचित है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्त्री-स्वतन्त्रताको पूज्यपाद महर्षिगण आर्यजातिकी रजो-वीर्यशुद्धि तथा स्त्रीजातिकी पातिव्रत्य रक्षाके लिये सदा ही हानिजनक समझते थे। और इसी सिद्धान्तको अब भी हिन्दुजातिको लक्ष्यमें रखना चाहिये। स्वाराज्य-प्राप्तिकी राजनैतिक व्यवस्था तथा स्त्री जातिकी राजनैतिक क्षेत्रमें बराबरकी अधिकार प्राप्ति (Franchise) आदि वर्त्तमान देशकालके आवश्यक विषयोंमें चाहे हिन्दुजातिको कितना ही अग्रसर होना पड़े परन्तु पूर्वकथित सिद्धान्तोंको कभी लक्ष्यसे च्युत नहीं होने देना चाहिये।

वर्णधर्म और नारीधर्मके विषयमें बहुत कुछ विचार किया गया। अब आश्रमधर्मके विषयमें आपद्धर्मको लक्ष्यमें रखकर कई बातें विचारणीय हैं। इस समय ब्रह्मचर्य्याश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा प्रायः असम्भव है। क्योंकि ब्राह्मण जातिकी जीवनयात्रामें बहुत कुछ फेर पड़ जानेसे और भारतको राजनीति, समाज-नीति तथा शिक्षानीतिमें बहुत अन्तर हो जानेसे प्राचीन रीतिके अनुसार गुरुकुलवास असम्भव है। विशेषतः धनके द्वारा जब विद्या तथा विद्यागुरुका विनिमय होना निश्चित ही है तो प्राचीन कालके गुरुकुल वासकी पुनः प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। और सबसे बड़ी बात यह है कि गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्ट हो जानेसे ब्रह्मचर्य्य व्रतका दृढ़ पालन होना एक प्रकारसे असम्भव

ही हो गया है। अतः आपद्धर्म समझकर इस समय माता पिताके निकट रहकर ही अथवा छात्रनिवासमें रह कर ही ब्रह्मचर्य्याश्रमके कुछ कुछ नियम पालन कुछ काल पर्य्यन्त विद्यार्थिगण कर सकेंगे तो बहुत फल हो सकेगा। चाहे विद्यार्थी गण संस्कृत पाठशालाओंमें जाकर पढ़ें, चाहे स्कूल या कालेजके बोर्डिङ्गोंमें रहकर पढ़ें और चाहे माता पिताके निकट रह कर ही विद्याभ्यास करें उनको निम्नलिखित विषयों पर ध्यान देना और दिलाना अवश्य उचित होगा। यज्ञोपवीत संस्कारके अनन्तर कमसे कम एक या तीन वर्ष तक दृढ़ताके साथ उनके पिता माता बालकोंसे बिना किसी शिथिलताके ब्रह्मचर्य्याश्रमके खान पान, आचार, शयन, सन्ध्यावन्दन हवनादि ब्रह्मचर्य्याश्रमोपयोगी नित्य कर्म करावें। विद्यार्थी दशामें अपने सम्प्रदायकी उपासना और धर्म शिक्षोपयोगी ग्रन्थोंका अध्ययन अवश्य उनसे कराया जाय। नित्य कर्मका अभ्यास बराबर यथासम्भव रीतिपर रखवाया जाय। एकादशी आदि व्रतका भी यथासम्भव साधन कराया जाय। यज्ञोपवीत होनेके अनन्तर कमसे कम तीन दिन या सात दिन ब्रह्मचर्य्याश्रमोपयोगी वेष व दण्डादि अवश्य धारण कराकर कुछ संस्कार डाल दिया जाय। जहाँ तक सम्भव हो विवाह देरीसे किया जाय और विवाह होनेपर भी गौना देरीसे किया जाय। ब्रह्मचर्य्य तथा वीर्य्य रक्षाका माहात्म्य उपदेश तथा पुस्तकादि द्वारा उनके चित्तपर अंकित कर दिया जाय। गुरुजनोंकी भक्तिके नियम और शीलताके सदाचार प्रथम अवस्थासे ही बलपूर्वक अभ्यास कराये जायँ। कमसे कम इतना होनेपर भी ब्रह्मचर्य्याश्रमका संस्कार बालकोंके चित्तपर अंकित रहेगा और भविष्यत् आश्रमोंमें काम आवेगा।

गृहस्थाश्रमकी मर्य्यादारक्षा और गृहस्थाश्रममें दैव सहायता प्राप्तिके लिये सबसे पहले ब्रह्मयज्ञरूपी ऋषिपूजा, देवयज्ञरूपी देव

पूजा, पितृयज्ञ-रूपी, पितृपूजा, भूतयज्ञरूपी नानाप्राणिरक्षक अधिदैवपूजा और नृयज्ञ रूपी अतिथिसेवाका दृढ आचरण अवश्य कर्त्तव्य हैं और यह सङ्कल्प रखना चाहिये कि पञ्च महायज्ञको न करनेसे हिन्दु गृहस्थ पतित होता है। हिन्दु जातिमें अनेक व्यक्तियोंकी एकान्नवर्तिता बहुत ही शुभकर है और इसमें स्वार्थत्यागादि अनेक मधुर वृत्तियोंका स्वतः विकाश होता है। हिन्दू गृहस्थमें जितना वृद्धपूजा, खानपानादिका सदाचार, विलासिताका अभाव, शास्त्रीय पर्व तथा व्रतादिका आदर, घरकी विधवाओंकी सम्मानरक्षा और सुशिक्षा, नारी जातिकी पवित्रतारक्षा, स्त्री पुरुष उभयका इन्द्रियादि संयम दानधर्मकी मर्यादा रक्षा आदि सद्वृत्तियोंका पालन होगा उतना ही गृहस्थाश्रमकी उन्नति होगी। गृहस्थको सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य तथा गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमूलक है और वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम निवृत्तिमूलक होनेसे उनसे उच्चकोटिके हैं। ऐसा स्मरण रहनेपर उनकी प्रवृत्ति लालसा घटकर निवृत्तिकी ओर प्रेरणा बनी रहेगी।

शास्त्रोक्त वानप्रस्थाश्रमका चलना इस समय उतना ही कठिन है जितना शास्त्रोक्त ब्रह्मचर्याश्रमका चलना कठिन है। राजाकी सहायता न होनेसे और प्रजामेंसे धर्मभावके नष्ट हो जानेसे तपोवनकी प्रथा बिलकुल उठ गई है और तपोवन न रहनेसे वानप्रस्थाश्रमका पूरा निर्वाह होना असम्भव है। वर्त्तमान समयमें गृहस्थाश्रमी तृतीय अवस्थामें पहुँचनेपर किसी तीर्थमें जाकर वास करते हुए वानप्रस्थाश्रमके संयम, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या, नियमित उपासना, नित्यहवनादि, जगत्सेवाव्रत, नियमित शास्त्रपाठ, एकान्तवासका अभ्यास आदि सत्कार्योंका अनुष्ठान होनेपर वानप्रस्थाश्रमोपयोगी बहुतसे कर्त्तव्यपालन तथा उन्नति लाभ कर सकेंगे। वर्त्तमान समयमें ऐसी प्रथा प्रचलित है कि

अब हिन्दु गृहस्थ पेन्शन आदि लेते हैं तो तीर्थादिकोंमें आकर वास करते हैं। परन्तु वे ऊपर लिखित सदाचारोंके प्रति कुछ भी ध्यान न देकर परनिन्दा, परचर्चा आदि द्वारा वृथा कालक्षेप करते हैं। इस प्रकारकी अमङ्गलकर प्रथा जिससे दूर हो इसके लिये प्रयत्न होना चाहिये। प्रत्येक तीर्थके एकान्त स्थानमें ऐसे आदर्श स्थान बनने चाहिये, जहां धर्मपुस्तक-संग्रह और सत्सङ्गका प्रबन्ध रहे और वहां निवृत्तिकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तिगण आकर आत्मोन्नति कर सकें।

सन्न्यासाश्रमकी दशा सब आश्रमोंसे अधिक शोचनीय हो गई है। प्राचीनकालमें अधिक लोग वानप्रस्थ ही होते थे और सन्न्यासाश्रममें विरले ही कोई भाग्यवान् महात्मा पहुंचते थे। फलतः प्राचीन कालमें संन्यासाश्रमधारी व्यक्तियोंकी संख्या बहुत थोड़ी थी। परन्तु वर्त्तमान समयमें वर्णाश्रमका बन्धन शिथिल हो जानेसे और हिन्दु राजदण्ड तथा समाजदण्डका अभाव होनेसे जो चाहे सो सन्न्यासी बन बैठता है। उसका परिणाम यह हुआ है कि सन्न्यासी तथा सब प्रकारके साधुओंकी संख्या कई लाख होगई है। सन्न्यासी व्यापारी हैं, सन्न्यासी सिपाही हैं, सन्न्यासी डाकू हैं, सन्न्यासी जमींदार हैं, सन्न्यासी साहुकार हैं, सन्न्यासी दलाल हैं, सन्न्यासी दवादि बेचते हैं, सन्न्यासी कामिनी काञ्चनका संग्रह करके गृहस्थ बन सृष्टि उत्पन्न करते हैं। वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु सन्न्यासी—इस प्रकारसे सन्न्यासीकी पदवी सबसे बड़ी होनेपर भी इस समय ऐसा कोई अपकर्म नहीं है जो सन्न्यासी वेशधारी मनुष्यगण नहीं करते हैं। सन्न्यासी और साधुओंकी अगणित श्रेणियाँ हो गई हैं और सब जातिके लोग इन श्रेणियोंमें भर्त्ति हुआ करते हैं। ये सब बातें शास्त्रविरुद्ध और धर्मविरुद्ध हैं इसमें सन्देह नहीं। सन्न्यासाश्रमकी दुर्गतिकी सीमा नहीं है। दूसरी ओर इस समयके साधु

सन्न्यासीगण गृहस्थके भाररूप हो गये हैं। कुछ ही हो अब आपद्धर्मके अनुसार इस समय इस आश्रमके निर्वाहके लिये और देशकालपात्रानुसार वर्तावके लिये क्या क्या करना चाहिये सो अवश्य विचारने योग्य है। महर्षि याज्ञवल्क्यने शूद्रके लिये एक आश्रम, वैश्यके लिये ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्यरूपी दो आश्रम, क्षत्रियके लिये ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थरूपी तीन आश्रम और ब्राह्मणके लिये चारों आश्रमोंका विधान किया है। अर्थात् उनके मतानुसार सन्न्यासाश्रमके अधिकारी केवल ब्राह्मणवर्ण ही हो सकते हैं। परन्तु इस समय सब वर्णोंके लोग ही और यहां तक कि स्त्रियां तक सन्न्यासाश्रममें आते हुए दिखाई दे रहे हैं। नाना पन्थके साधुगण नाना प्रकार वेश धारण करके चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट दिखाई देते हैं। समाजकी ऐसी उच्छृङ्खलता एकाएक रोकी नहीं जा सकती। साथही साथ वर्णाश्रमकी मर्यादारक्षा भी अवश्य कर्त्तव्य है। इस कारण अन्य आश्रम धारियोंका कर्त्तव्य है कि वे सन्न्यासियोंको प्रणाम करते समय केवल मुखसे 'नमोनारायणाय' या और कोई प्रणाम योग्य शब्द कहें और जबतक यह न मालूम हो कि वे उच्च वर्णके हैं तबतक शरीरसे प्रणाम न करें। ऐसा होनेपर सन्न्यासाश्रमकी भी पूजा बनी रहेगी और वर्णाश्रमकी भी मर्यादा बनी रहेगी। सन्न्यासाश्रमके आचार्योंका यह कर्त्तव्य होना उचित है कि उनके निकट शिष्यके आते ही वे एकदम उन्हें परमहंस परिव्राजकाचार्य जीवन्मुक्त न बनाया करें। उसकी शिक्षाका क्रम अवश्य रक्खा करें और शास्त्रोंमें कुटिचक, बहूदक, हंस, परमहंस इस प्रकारसे सन्न्यासकी जो चार अवस्थाएं हैं उनके अनुसार चार प्रकारके आचार, चार प्रकारके विचार और चार प्रकारके साधन मार्गके द्वारा क्रमशः सन्न्यासाश्रमी शिष्यको अध्यात्म मार्गमें अग्रसर करनेका प्रयत्न करें। हिन्दु सामाजिक नेताओंका अवश्य यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि साधु सन्न्यासियोंको योग्यता

अयोग्यताके अनुसार उनके प्रति सम्मान करें और साधुसन्यासियोंकी संख्याको अधिक बढ़ने न देवें। क्योंकि केवल नामधारी साधु सन्यासियोंसे समाजको हानि है। कलियुग तमःप्रधान है इस कारण सन्यासियोंका इस युगमें निष्काम परोपकार तथा जगत्सेवाव्रतधारी अवश्य होना चाहिये, नहीं तो जड़ता, अलसता, स्वार्थपरता, अनुदारता, विषयस्पृहादि बलवती होकर उनका पतन अवश्यम्भावी है।

आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मोक्ष होता है। जैसा वृक्षका बीज होता है वैसा ही कर्मका बीज संस्कार कहाता है, मनुष्यका जैसा संस्कार होता है वैसे ही उसमें कर्म करनेकी योग्यता होती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार वेद और शास्त्रोंमें १६ संस्कार प्रधान माने हैं और उन्हीं संस्कारोंसे सम्बन्ध रखकर और भी अनेक संस्कार शास्त्रोंमें बताये गये हैं। गर्भाधान आदि आठ संस्कार प्रवृत्तिके हैं जिनका अन्तिम संस्कार विवाह है और निवृत्तिके भी आठ संस्कार हैं जिनमेंसे अन्तिम संस्कार सन्यास है। इन संस्कारोंकी ऐसी महिमा है कि इन्हीं संस्कारोंकी कृपासे आर्यजाति अनन्त दुःखोंको सहती हुई भी अनादिकालसे अबतक जीवित है और वर्णाश्रम धर्मका नमूना भारतवर्षमें पाया जाता है। यह संस्कार शुद्धिका ही फल है कि आर्य जातिमें अध्यात्मलक्ष्य और तत्त्वज्ञानका बीज अपने स्वरूपमें दिखाई देता है। परन्तु कालप्रभावसे अब इन वैदिक संस्कारोंका एक प्रकारसे लोपसा ही होने लगा है। इस कारण बहुत ही सावधानतासे इन संस्कारोंकी बीजरक्षा होनी चाहिये, नहीं तो आर्यजातिमेंसे आर्यपन लुप्त हो जायगा। विवाह होते ही उनके गुरुजनोंका कर्तव्य है कि पतिपत्नीको गर्भाधान संस्कारकी महिमा समझा देवें और उनके चित्तमें अच्छी तरहसे खचित कर देवें कि स्त्रीपुरुषका सम्बन्ध केवल पशुकी

तरह इन्द्रिय वृत्ति चरितार्थ करनेके लिये नहीं है। उनको यह भी समझा दिया जावे कि स्त्री पुरुषोंका जो सहवास है वह किस प्रकारसे स्वभावसे ही दैवपीठ उत्पन्न करता है और उस पीठमें ऋषि, देवता तथा पितरोंका आविर्भाव भी हो सकता है, इस कारण पीठकी पवित्रतारक्षाका प्रयोजन भी उनको भली भाँति समझा देना चाहिये। प्रथम तो गर्भाधान संस्कार शास्त्रविधिके अनुसार होना उचित है और यदि ऐसा न भी हो तो वरवधूको इस प्रकारसे गर्भाधान रहस्य समझा देनेपर उनके चित्तमें कुछ धर्म-संस्कार रहेगा, जिससे धार्मिक सन्तति हो सकेगी। अन्यान्य संस्कार भी यदि यथासमय न हो सके तो यज्ञोपवीत होनेसे पहले एक साथ करा देने चाहिये और यज्ञोपवीत संस्कार तो अवश्य ही विधिपूर्वक कराना उचित है और उसके बाद ब्रह्मचर्याश्रमकी विधि बालकोंको कमसे कम एक मास या पन्द्रह दिन मानवा कर उनके चित्तमें उसका संस्कार जमा देना चाहिये।

सनातनधर्मावलम्बी गृहस्थोंका सबसे प्रधान कर्त्तव्य-कर्म सन्ध्यावन्दन और पञ्चमहायज्ञका साधन है। त्रिसन्ध्या वास्तवमें ब्रह्मोपासना है। प्राचीनकालमें द्विजमात्र ही तीनों समय ब्रह्मोपासनाके लिये त्रिसन्ध्या तथा गायत्री उपासना करते थे। वस्तुतः तीनों सन्ध्याओंमें गायत्री उपासनायुक्त त्रिसन्ध्याका साधन सर्वव्यापक निराकार निर्गुण ब्रह्मकी ही उपासना है। गायत्री मन्त्रके अर्थसे ही इस विज्ञानकी सत्यता सिद्ध होती है। कलियुगमें जब मनुष्योंका अधिकार घट गया है तो पूज्यपाद महर्षियोंने त्रिसन्ध्याका उपासनाके साथ सम्बन्ध न रखकर उसको नित्यकर्म रूपसे करनेकी आज्ञा दी है। उसका नित्य साधन करना अवश्य कर्त्तव्य है। यदि वर्त्तमान देश-काल-पात्रके अनुसार तीनों कालके सन्ध्याके समय विस्तारित सन्ध्या-पद्धतिके साथ गायत्री उपासनायुक्त सन्ध्याका साधन न हो सके तो प्रातःकाल और सायङ्काल सन्ध्या-

वन्दन अवश्य ही करना उचित है। कालकी सेवा अवश्य होनी चाहिये। सूर्य्य और नक्षत्रवर्जित प्रातःकाल तथा सायंकालमें चाहे किसी अवस्थामें गृहस्थगण रहें, चाहे कहीं कोई कार्य्य करते हों अथवा रेल आदि यानमें जाते हों, कालका अपलाप न करके उस समय अवश्य ही और कुछ न हो सके तो मनसे ही मानस ध्यानपूर्वक सन्ध्यावन्दन तथा गायत्रीजप अवश्य कर लेना उचित है।

पञ्च महायज्ञ एक असधारण साधन है। यज्ञसे नित्य ऋषिगणकी तृप्ति होती है जिनकी कृपासे इस जगत्‌में ज्ञानका विस्तार होता रहता है। दैव जगत्‌के सञ्चालक तथा कर्मके नियन्ता देवताओंकी तृप्ति देवयज्ञसे होती है। स्थूल शरीरके सञ्चालनेवाले और कुल तथा जातिके सञ्चालनेवाले नित्यपितरोंकी पूजा पितृयज्ञसे होती है। उद्भिज्जस्वेदजादि नाना प्रकारके जीवोंके रक्षक देवताओंको तृप्ति भूतयज्ञके द्वारा होती है और मनुष्यमात्रके साथ अपना धार्मिक कर्त्तव्य-पालन नृयज्ञके द्वारा होता है। इन पञ्च महायज्ञोंका त्याग कदापि गृहस्थोंको नहीं करना चाहिये। अति संक्षेप विधि द्वारा भी हो सके तो भी पञ्च महायज्ञका साधन करना अवश्य उचित है। और कुछ न हो सके तो तर्पण द्वारा पञ्च महायज्ञका आपत्कालोपयोगी साधन तो अवश्य ही करना चाहिये। और अतिथिका सत्कार तो मनुष्यका कर्त्तव्य है। यदि कुछ भी सामर्थ्य न हो तो जल, आसन और मिष्ट वचन द्वारा अतिथिका सत्कार किये विना किसी अभ्यागतको घरसे जाने देना उचित नहीं है।

तीर्थोंकी मर्यादारक्षा, तीर्थदर्शन, व्रतादिका अनुष्ठान, गोसेवा, देवमन्दिर दर्शन इत्यादि कार्य नैमित्तिक कार्योंमेंसे ऐसे हैं जिनपर विचार करना अत्यावश्यक है। तीर्थोंकी मर्यादारक्षा प्रत्येक हिन्दुका अवश्य कर्त्तव्य है। क्योंकि प्रत्येक तीर्थ नित्यपीठरूप है और

उनमें कुछ न कुछ शक्ति रहना भी अवश्यम्भावी है। धनवान् व्यक्तियोंको उचित है कि वे नये मन्दिर बनानेकी ओर ध्यान न देकर यदि प्राचीन तीर्थोंके मन्दिरोंके जीर्णोद्धारकी ओर ध्यान देवें तो उनको अधिक पुण्य होगा और ऐसा करनेमें उनको दैवी सहायता भी अवश्य मिलेगी। तीर्थोंके पुरोहितोंके कल्याणके लिये तीर्थयात्री मात्रका यह कर्त्तव्य होना चाहिये वे पात्र कुपात्रका विचार अवश्य ही रक्खें और वे प्राचीन लकीरको न पीटकर तीर्थोंमें जिनको विद्वान् तथा सदाचारी समझें उन्हींका अधिक आदर करें और उनको तीर्थ पुरोहित बनावें। इस प्रकारके गुणकी पूजा होनेपर तीर्थके पण्डे लोग आपसे आप ही योग्य बननेकी चेष्टा करेंगे। प्राचीन व्रतोपवासोंकी रक्षा अवश्य होनी चाहिये। विशेषतः एकादशी पूर्णिमादि व्रत जिनके साथ शारीरिक स्वास्थ्य रक्षाका बड़ा भारी सम्बन्ध है, उनका पालन तो स्त्री-पुरुष मात्रको करना उचित है। इस सम्बन्धमें इतना कहना आवश्यक है कि हिन्दु जातिके जितने वेदिक पौराणिक तथा तान्त्रिक त्यौहार हैं उनके यथादेशकालपात्र जारी रखनेसे जातिमें जीवनी शक्ति बनी रहेगी। साथ ही साथ यह भी विचार रखना चाहिये कि जिन जिन त्यौहारोंमें पवित्रताका नाश होकर कुप्रथा तथा निन्दनीय आचरण प्रवेश कर गये हैं उनके दूर करनेकी ओर सामाजिक नेताओंकी दृष्टि अवश्य ही पड़नी चाहिये। इस प्रकारसे धार्मिक मेलोंका भी संस्कार होना उचित है। मेलेमें जन सम्मेलन स्वतः ही होता है। इस कारण उस उत्तम अवसरका लाभ अवश्य ही ऐसा उठाना चाहिये जिससे केवल वैषयिक आनन्दकी प्राप्ति न हो किन्तु प्रजाका ध्यानतान तथा प्रजामें धर्मकी वृद्धि हो सके। जितने मन्दिर हैं सब भगवान्के स्थान हैं ऐसा मानकर मन्दिरके सामने आनेपर एमसे कम मनमें भगवत्प्रणाम करना चाहिये। और मन्दिर तथा देवमूर्त्तियोंमें साम्प्रदायिक भाव द्वारा पक्षपात

करना मनुष्योंकी उन्नतिका सर्वथा बाधक है। क्योंकि सब देवतागण ही अङ्गाङ्गी रूपसे एक अद्वितीय भगवानके ही स्वरूप हैं। गोसेवा हिन्दुमात्र और यहाँ तक कि भारतवासी मात्रका अवश्य कर्त्तव्य है। गोजातिकी हानि होनेसे कृषि प्रधान भारतवर्ष अन्नहीन निर्धन होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। गाका दूध तथा घृत न मिलनेसे आर्य्य जातिका आर्य्यत्व रह ही नहीं सकता। यज्ञादि कोई भी दैवकर्म बिना गव्य घृतके सुसम्पन्न हो ही नहीं सकता। आर्य्य जातिकी आधिभौतिक उन्नति, आधिदैविक उन्नति, आध्यात्मिक उन्नति तीनों ही गोजातिकी उन्नतिपर निर्भर करती हैं। इसके अतिरिक्त धर्मका सम्बन्ध जो गोजातिके साथ है उसके वर्णन करनेकी ही आवश्यकता नहीं है। इस कारण हिन्दू मात्रको साक्षात् अथवा परोक्षरूपसे गो जातिकी सेवाको परमधर्म समझना उचित है। गोशाला खोलकर, डेयारी फार्म खोलकर, गोचरभूमि दान करके, वृषोत्सर्ग करके, घरमें गो सेवा तथा गो-पालन करके और यहां तक कि प्रतिदिन गो-ग्रास देकर गो सेवा करना हिन्दुमात्रका कर्त्तव्य होना उचित है।

भारतवर्षमें धर्मशाला बनानेकी रीति तथा सदावत खोलनेकी रीति बहुत कुछ प्रचलित है, यह दोनों कार्य बहुत ही पुण्यजनक हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु देखादेखि धर्मशाला बनाना और जहां आवश्यकता नहीं वहां बनाना, अनावश्यक रूपसे यशके लिये अर्थव्यय करना यह सब बातें बहुत ही अनुचित हैं। क्योंकि जो मनुष्यजाति धनका अपव्यय करती है वह अवश्य ही दरिद्र हो जाती है। देशकाल-पात्र विचार करके धर्मशाला आदि बनानेका विचार रखना उचित है। जहां विद्या-प्रचारमें सहायता हो, जहां तीर्थयात्री, और असहाय व्यक्तियोंकी सहायता हो, जहां तपोनिष्ठ सदाचारी वानप्रस्थ और सन्यासियोंकी सहायताकी आवश्यकता हो, जहां सच्चे ब्राह्मणोंका उपकार हो, जहां विदेशीय

अतिथियोंकी सेवा हो, ऐसे स्थानोंमें ही धर्म्मशाला बनाना उचित है। धर्मशालाके स्थान रजोगुणमय नहीं होने चाहिये, केवल आरामके लायक होने चाहिये। सदाव्रतके लिये भी इसी प्रकारके विचारोंकी आवश्यकता है। सदाव्रतोंमें प्रायः कर्मचारी लोग धनको लूटते हैं या अपने स्वार्थ-बुद्धिसे लोगोंमें बांटते हैं। बड़े बड़े तीर्थोंका अन्न प्रायः गुण्डोंमें अधिक जाता है। अतः सदाव्रत समूहकी सुरक्षा जातिकी ओरसे होना उचित है। जातिकी ओरसे सदाव्रतोंकी सम्हालके लिये विश्वासपात्र निरीक्षक रहना उचित है। सभाओंके द्वारा भी उनके निरीक्षणका प्रबन्ध रहना उचित होगा और इसी प्रकारका धर्मदानका अन्न विद्यार्थी, सच्चे ब्राह्मण, सच्चे साधु सन्यासी और यथार्थ दरिद्र, दीन, दुःखी तथा अनाथ विधवाओंकी सेवामें लगे और अन्य प्रकारसे काम न हो, इसका प्रबन्ध होना उचित है।

गृहस्थाश्रमके कल्याणके लिये इस समय बहुतसी बातें विचारणीय हैं। हिन्दु समाजमें गृहस्थोंमें एकान्नवर्त्ती होनेका रिवाज प्राचीनकालसे चला आता है। पाश्चात्य जातिके अनुकरणसे अब पढे लिखे लोग उसे उठा देनेका विचार कर रहे हैं। अब एक गृहस्थमें सब लोग एक साथ रहकर खान पान करने और मिलकर एक बड़े गृहस्थ कहलानेकी कुप्रथा समझने लगे हैं। अवश्य ही पाश्चात्य जातिकी रीति नीति और शिक्षा प्रणालीमें इस प्रकारकी प्रथा हितकर हो सकती है। क्योंकि उनका सब आचार व्यवहार और सब लक्ष्य अर्थ कामभय है और वहांकी जातियां इस मनुष्य जीवनको केवल प्रवृत्तिमय ही समझती हैं। इस कारण उस जातिमें कोई किसीके अधीन रहना सुविधाजनक नहीं समझता। भाई भाई मिलकर रहना तो जानते ही नहीं, यहाँतक कि पिता मातासे भी सम्बन्ध कम रखते। इतना तक कि पति स्त्रीका भी हिसाब अलग अलग ही रहता है। निवृत्ति-

मार्गप्रिय और अध्यात्मलक्ष्ययुक्त आर्यजातिका अधिकार हुआ और हो है। जिस आर्य जातिका वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है, जिस आर्य जातिके पठदशावी ब्रह्मचर्य जीवनमें त्याग और सेवाधर्मकी ही दीक्षा दी जाती है, जिस आर्य जातिकी मध्यम अवस्थामें वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या और सन्यासाश्रमका सर्वत्याग विहित है, उस आर्यजातिके गृहस्थाश्रममें आत्मीय स्वजनोंके लिये स्वार्थत्यागकी प्रणाली अवश्य ही हितकर है, इसमें सन्देह नहीं। जब केवल अपनी स्त्री और अपने पुत्रोंको लेकर मनुष्य गृहस्थाश्रममें वास करता है तो उसको अधिक त्यागकी आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि इतना त्याग तो पशु-पक्षी भी समय-समयपर किया करते हैं, परन्तु हिन्दु जातिमें जो बहुत आत्मीयोंके एकाश्रवर्ती होनेका रिवाज प्रचलित है, यह सामाजिक प्रथा अपने आपही गृहस्थके नर-नारियोंको त्यागकी उत्तम कक्षा और निवृत्ति-मार्गकी सीमामें पहुंचा देती है। आर्य जातिकी यह प्रथा वास्तवमें देवदुर्लभ है, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दु गृहपतिका यह धर्म है कि उसके भ्राता-भगिनी इत्यादि सब आत्मीय स्वजन बहु परिवारमें जितने मनुष्य हों,सब जब गृहदेवताओंको निवेदित किये हुए अन्नको ग्रहण कर तृप्त हो जाते हैं तथा अतिथिकी पूजा हो जाती है तब गृहपति प्रसाद ग्रहण करते हैं और उसके बाद गृहपत्नी प्रसाद पाती हैं। गृहस्थमें जो बड़ा होता है वह सबके लिये त्याग अभ्यास करता है। इसी प्रकार गृहस्थकी स्त्रियां पुरुषोंके लिये त्याग स्वीकार करती हैं और गृहस्थके पुरुषोंमेंसे पर्यायमें जो छोटे होते हैं उनके लिये पर्यायमें जो बड़े होते हैं वे त्याग स्वीकार करते हैं। इस सुन्दर प्रथाकी कृपासे गृहस्थ नरनारियोंकी उद्दाम कामवृत्ति लज्जा तथा शीलवश शिथिल हो जाती है, शमनके द्वारा क्रोध दुर्बल हो जाता है, त्याग अभ्यासके द्वारा लोभहीन वीर्य बना रहता है, विस्तारको प्राप्त

होकर मोह प्रभावरहित हो जाता है, दूसरेके लिये सहन करना सीखनेसे तथा दूसरेके मुखापेक्षी होनेसे मदरूपी मातङ्गको अङ्कुशके दबावमें रहना पड़ता है और लोकलज्जाके भयसे मात्सर्य हीनप्रभ हो जाता है और इस सुखमय तथा दिव्य भावमय प्रथाके आश्रयसे अपने आप ही दया, सहिष्णुता, तितिक्षा, उदारता, श्रद्धा, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, तपस्या, क्षमा, पारस्परिक सहानुभूति, समदर्शिता, आदि देवजनदुर्लभ वृत्तियां विकाशको प्राप्त होती रहती हैं। इस कारण यह प्रथा अनार्य जातिके लिये असुविधाजनक होनेपर भी अध्यात्म हृदययुक्त आर्यजातिके लिये बहुत ही हितकर है इसमें सन्देह नहीं। इस कारण इस एकान्नवर्त्तिता प्रथाका हिन्दु जातिमेंसे उच्छेद होना कदापि उचित नहीं है। जिस प्रकार त्रिगुणात्मक विश्वमें कोई भी वस्तु दोषरहित नहीं है, उस प्रकार इस पवित्र प्रथामें भी आलस्य, अकर्म्मण्यता, परमुखापेक्षिता आदि दोषोंकी सम्भावना हो सकती है। परन्तु सत्‌शिक्षा, सदाचार-पालन और गृहपतिके धर्मानुशासन द्वारा इस प्रकारके दोष सुगमतासे दूर हो सकते हैं।

आर्य्यजाति जिस प्रकार आध्यात्मिक विचारसे चिरकाल ही स्वाधीन थी, उसी प्रकार आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारोंमें भी सदासे स्वाधीन रहना इसका स्वभाव था। इस कारण हिन्दु समाजके नेतृवृन्दका ऐसा करना परम कर्त्तव्य है कि जिससे अन्न तथा वस्त्रके लिये यह जाति परमुखापेक्षी न होने पावे। यद्यपि वर्णधर्मके अनुसार चारों वर्णोंके विशेष विशेष कर्त्तव्य अलग अलग बांट दिये गये हैं और जिनमें फेर पड़ना धर्मशास्त्रसे विरुद्ध माना गया है परन्तु वर्त्तमान घोर आपत्‌कालमें आपद्-धर्मकी रीतिको मानकर हिन्दु समाजके नेतृवृन्द, समाजपति और गृहपति समूहका यह कर्त्तव्य होना उचित है कि ऐसे ऐसे सुगम उपाय सुकौशलपूर्ण रीतिसे अवलम्बन करे कि जिससे

हिन्दु प्रजाको अन्न तथा वस्त्रके लिये परमुखापेक्षी न होना पड़े और न नौकरी पेशा, जिसको मनुजी महाराजने 'न श्ववृत्या कथञ्चन' कहकर कुक्कुर वृत्ति करके वर्णन किया है उसका भी अवलम्बन अधिक न करना पड़े। एकान्नवर्त्तिताकी प्रथा होनेसे एक गृहस्थमें बहुत लोगोंको अवकाश रहा करता है। इस कारण प्रत्येक गृहस्थमें अर्थोपार्जनोपयोगी शिल्पकलाका विस्तार होना उचित है। चाहे बड़ा गृहस्थ हो अथवा छोटा हिन्दुओंका जैसा सदाचार है उसके अनुसार वृद्ध तथा स्त्रियोंको अवकाश रहा ही करता है। यदि कातना, बुनना, छोटी छोटी हस्तकारियोंका सीखना जिसको घरुआ शिल्प (Home Industry) कहते हैं, इस प्रकारकी अल्पप्रयास तथा अल्पव्यय साध्य कलाओंका अधिकरूपसे प्रचार किया जाय तो अन्न वस्त्रका क्लेश दूर करनेमें जातिको विशेष लाभ पहुँच सकता है। कृषिविद्या जो कि भारतवर्षका प्रधान अवलम्बन है इस विद्याकी उन्नति और कृषिवृत्तिके अवलम्बनमें चारों वर्णोंके लोगोंको और यहाँ तक कि नरनारी दोनोंको वर्तमान आपद्धर्मके अनुसार विशेष उद्योगी होना उचित है। गोजातिकी उन्नतिमें दत्तचित्त होकर अच्छे अच्छे बैल और गाय जिससे उत्पन्न हो उसके उपाय अवलम्बन करके, पश्चिमी सायन्सकी मददसे अपनी कृषिविद्याकी यथासम्भव उन्नति करके जातीय अन्न वस्त्रके क्लेशको दूर करनेका प्रयत्न करना उचित है। अपने ही उद्यमसे यदि अन्न पैदा हो जाय, अपने ही उद्यमसे यदि खेत और बगीचोंमें रूई पैदा हो जाय, अपने ही काते हुए सूतसे यदि मोटा वस्त्र घरमें बुना जाय तो हिन्दु प्रजा प्राचीन रीतिके अनुसार अन्न वस्त्रके विषयमें पूर्णरूपसे स्वाधीन हो जायगी इसमें सन्देह नहीं है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि इस स्वाधीनताकी प्राप्तिके लिये समाजपति, गृहपति, और हिन्दु नेतृवर्गको ऐसा प्रयत्न अवश्य करना होगा कि जिससे प्राचीन

आर्य्योंके आदर्शपर पुनः भोजन वस्त्रकी सादगी हिन्दुप्रजाको पसन्द हो जाय। प्रतिमुहूर्त तथा हर उद्यममें इस बातपर अवश्य ही ध्यान देना उचित होगा। इसके अतिरिक्त बाग बगीचोंके स्थापन करनेकी विद्या, अश्व आदि पशु जातिकी उन्नतिकी विद्या, फलफूल आदिकी उन्नतिकी विद्या, शाक तरकारीकी पैदावारीकी विद्या आदि गृहस्थोंकी सहज विद्या जो प्राचीन कालमें भारतवर्षमें प्रचलित थी उनकी उन्नति करनेकी ओर और पढ़े लिखे नरनारियों-को जिससे इन विद्याओंकी ओर दृष्टि आकृष्ट हो और प्रजामें जिससे कुक्कुरवृत्तिरूपी नौकरीकी ओर स्वाभाविक अरुचि होकर इस प्रकारकी विद्याओं तथा शिल्प कला और वाणिज्य आदिकी ओर स्वाभाविक रुचि बढ़े इसका प्रयत्न विशेषरूपसे होना उचित है।

वर्त्तमान समयमें साधारणतः पृथिवी भरमें और विशेषतः भारत-वर्षमें जो परिवर्त्तन हुआ है, उसके अनुसार तीन प्रधान विषय विचारणीय हैं। यथा—पतित जातियोंकी शुद्धि, अनार्योंको हिन्दू बनाना और अनार्यभूमियोंमें गमन तथा समुद्र यात्रा। आपद्धर्मके अनुसार पतित जातियोंकी शुद्धिके लिये हमारे धर्माचार्यों तथा व्यवस्थादाता पण्डितोंको अवश्य ही उदारता दिखानी चाहिये। प्रथम तो राजनैतिक विचारसे भी ऐसा होना कर्त्तव्यके अनुकूल है, द्वितीयतः साधारण धर्मके विचारसे अपने पतित भाइयोंको यथा देशकाल सहानुभूति दिखाकर अपनी छातीसे लगाना धर्मानुकूल ही है और तीसरी तथा प्रधान बात यह है कि—जिस पतित जातिका रजोवीर्य बिगड़ा नहीं है उस जातिमें यदि दो चार कुरीतियां वर्णा-श्रम धर्मविरुद्ध भी प्रवृत्त हो गई हों तो यथायोग्य प्रायश्चित्तसे उन कुरीतियोंके निवारण द्वारा उक्त जातियोंकी शुद्धि करके उनको अपनेमें मिला लेना सर्वथा उचित ही है। अनार्य जातियोंको हिन्दु धर्मके सिद्धान्तके अनुसार शोधित करनेका विषय कुछ गुरुतर है। सनातनधर्मका यद्यपि यही सिद्धान्त है कि जो धर्म अन्य धर्मको

बाधा देवे यह कुधर्म है, अविरुद्ध धर्म ही सद्धर्म है, परन्तु यदि अन्य अनार्यधर्मावलम्बी स्वेच्छासे अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके अभिप्रायसे सनातनधर्मके अनुसार कर्म-उपासना-ज्ञान आदिके यथायोग्य कुछ कुछ अधिकार लाभ करके आध्यात्मिक उन्नति करना चाहें तो उनको अवसर देना अवश्य ही उचित होगा। किन्तु ऐसा होनेपर भी वे कदापि वर्णाश्रमको श्रेणिमें नहीं लिये जा सकेंगे। उनको 'धर्मपुत्र' नामक स्वतन्त्र जाति बनाकर उनका कल्याण किया जा सकता है।

भारतवर्षको छोड़कर आर्य जातिके यूरोप-एशिया आदिकी अनार्य भूमियोंमें स्थलपथमें रेल आदिके द्वारा जानेके विषयमें वर्तमान आपद्धर्मके अनुसार विशेष बाधा होनी नहीं चाहिये। धर्मयुद्ध तथा व्यापार आदिके लिये तो जाना उचित ही है, हां, जहां तक हो वैसे विदेश गमनमें सदाचारपालनका अवश्य ही विचार रखना उचित है। और ऐसी यात्रासे लौटकर संस्कार शुद्धिपूर्वक सनातनधर्मकी महत्वरक्षा तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये प्रायश्चित कर लेना उचित है। प्राचीनकालमें इस प्रकारकी यात्राके लिये धर्माचार्योंकी आज्ञा अवश्य थी इस प्रकारका प्रमाण स्मृति शास्त्रोंमें मिलता है। और ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि उन देशोंमें ब्राह्मणों की सहायता न मिलनेपर लोग अनार्य जातिमें परिणत हो जाते थे। इसी कारण इस विषयमें आजकल इतनी सावधानताकी आवश्यकता है जिससे जानेवालोंके हृदयमें अनार्यसे स्पर्शादिका प्रभाव न जमने पावे और देशमें लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त भी हो जाय। वर्त्तमान समयमें समुद्रयात्राका विषय अत्यन्त विचारणीय है। देशकी राजनैतिक उन्नति, व्यावहारिक विद्योन्नति, देशकी ऐश्वर्य तथा व्यापारोन्नति और अर्थकाम सम्बन्धीय सर्व प्रकार अभ्युदय के लिये समुद्रयात्रा अपरिहार्यसी प्रतीत होता है। पृथिवीकी अन्य सभ्य तथा अन्य शक्तियोंके साथ समकक्षता लाभ करना बिना

समुद्रयात्राके असम्भव हो है। दूसरी ओर आत्मरक्षाके लिये जिस प्रकार स्थलसेनाकी आवश्यकता है, उसी प्रकार नौसेनाकी भी आवश्यकता है। विशेषतः व्यापारकी वृद्धि तो आज दिन समुद्र-यात्रापरही निर्भर करती है। इस प्रकारसे समुद्र यात्राके अनुकूल अनेक कारण आज दिन दृष्टिगोचर होते हैं। इस कारण इस समय समुद्र यात्राके अनुकूल विचारको अत्यावश्यकता है। जहाँ तक सम्भव हो समुद्र यात्रा करनेवाले व्यक्तियोंको नौयात्राके समय और अनार्य भूमिमें पहुँचकर भी सदाचार और पवित्रता रक्षा तथा धर्मानुकूल खानपानका यथासम्भव प्रयत्न करना उचित है। और स्वदेशमें लौटकर यथासम्भव प्रायश्चित्त करके संस्कार शुद्धि तथा सनातनधर्मकी मर्यादा-रक्षा करना भी अवश्य कर्त्तव्य है। ऐसे व्यक्तियोंका हर समय यह ध्यान रखना उचित है कि त्रिलोक पवित्र कारी वर्णाश्रमसे युक्त सदाचारसम्पन्न और अध्यात्मलक्ष्यको सदा ध्यानमें रखनेवाली आर्य जाति पृथिवी भरमें एक अनोखी जाति है। और इसकी मर्यादा तथा असलियतकी रक्षा करनेसे उनके सुगौरवकी रक्षा होती है, धर्मकी बात ता स्वतन्त्र ही है। जो मनुष्यजाति या मनुष्य आत्मगौरवको नष्ट कर डालता है उसका जीवन ही वृथा है। इस विषयमें एक आवश्यकीय विचार हिन्दु जातिमें अवश्य रहना उचित है कि चाहे शूद्र हो, चाहे वैश्य हो, चाहे क्षत्रिय हो और शूद्र-वृत्तिजीवी, वैश्य-वृत्तिजीवी, क्षत्रिय-वृत्तिजीवी ब्राह्मण हो समुद्रयात्रा और अनार्यभूमिकी यात्रा आपद्धर्म समझकर कर सकेगा। परन्तु ब्राह्मण-वृत्तिजीवी जो ब्राह्मण होंगे, जो ब्राह्मण षट्कर्मनिरत या त्रिकर्मनिरत होंगे, जो पुरोहित तथा गुरु व्यवसायी होंगे, जो संस्कृताध्यापक श्रेणिके होंगे, ऐसे श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको कदापि उक्त प्रकारके आपद्धर्ममें भी पड़ना उचित नहीं है। यदि ऐसा होगा तो ब्राह्मण जातिके निर्वीज होनेका कारण बन जायगा। क्योंकि तप, आचार, त्याग यज्ञसेवन और वेद तथा शास्त्रानुशीलन

ही उनका प्रधान धर्म है।' विशेषतः ब्राह्मण धर्म मोक्ष प्रधान होनेसे उसको ऐसे कर्मकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही नहीं।

वर्तमान देशकालपात्रके अनुसार आर्य्यजातिके महत्त्वकी रक्षा और उसकी उन्नतिके लिये एक सामाजिक विषय तथा दो धार्मिक विषयोंपर हिन्दु समाजपति और हिन्दुनेतृवृन्दको सदा ध्यान रखना उचित है। इस समय प्रथम सामाजिक विषय विचार करने योग्य यह है कि जिस भारतवर्षमें पहले केवल आर्य्यजाति ही वास करती थी उसमें कई अनार्य्य जातियाँ तथा अन्यधर्मावलम्बी प्रजा वास करने लगी हैं जिनकी संख्या कम नहीं है। और जो हमारे स्वदेशवासी होनेसे उनसे अपनी आत्मीयता भी है इसमें सन्देह नहीं। सिद्धान्ततः जिस हिन्दु जातिमें न परधर्मी विद्वेषका रहना ठीक है और न केवल स्वजाति वात्सल्यकी अनुदारता स्थान पाने योग्य है, विशेषतः जिस जातिमें वसुधाको कुटुम्ब मानना आदर्शधर्म बताया गया है, ऐसी उदारताप्रिय आर्य्यजातिमें चाहे अपने स्वदेशवासियोंमें कोई किसी धर्मका माननेवाला हो सबके साथ आत्मीयता स्थापित रखना धर्मानुकूल ही होगा। चाहे कोई जैनधर्मावलम्बी हो, चाहे कोई बौद्धधर्मी हो, चाहे कोई ईसाईधर्मावलम्बी हो या चाहे कोई मुसलमानधर्मी ही हो, सबको भारतवासी रूपसे और परमपिता श्रीभगवान्की सन्ततिरूपसे आत्मीय मानकर प्रेमका वर्त्ताव, जिससे हिन्दू प्रजामात्र कर सके इसकी ओर हिन्दु नेतृवृन्दकी दृष्टि अवश्य रहनी चाहिये। सनातनधर्मके दार्शनिक सिद्धान्तानुसार अन्तःकरणको व्यापक माना गया है, दूसरी ओर दर्शनशास्त्र गवाही देता है कि यदि कोई अपने चित्तमें हिंसावृत्तिको छोड़कर दूसरेकी भलाई चाहता रहे तो दूसरा व्यक्ति हिंस्र होनेपर भी यह वैरभाव छोड़ देगा। इस दार्शनिक सत्यके अनुसार यदि आर्य्यजाति अन्य धर्मावलम्बी भारतवासियोंके प्रति अपनी

उदारवृत्ति रक्खेंगी तो वे अवश्य ही परधर्मी विद्वेषको छोड़कर आत्मीयके एक सूत्रमें बँध जायेंगे। आर्य्यजातिको अपने महत्त्वकी रक्षा, देशमें शान्ति और शक्तिका विस्तार और अपने अभ्युदयके लिये जिस प्रकार परधर्मियोंके साथ पूर्वकथित रूपसे प्रेमस्थापनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार सनातनधर्मके अन्तर्गत जो कर्म-उपासना ज्ञानके स्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्प्रदाय हैं उनके साथ भी उदारताका बर्त्ताव करना उचित है। कर्म्मकाण्डके जैसे वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिक आदि सम्प्रदाय हैं, उपासनाके जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय तथा इनके अन्तर्गत अन्यान्य उपसम्प्रदाय हैं, इसी प्रकार ज्ञानकाण्डके द्वैत अद्वैतवादी आदि सम्प्रदाय हैं, इनमें जो घोर साम्प्रदायिक विरोध रहा करता है और उस मतभेदके कारण शत्रुता तथा द्वेष बना रहता है इस अनुचित, अनुदार और अमङ्गलकर भावका जिससे दिन प्रतिदिन हिन्दु-समाजसे नाश हो जाय उसके लिये नेतृवृन्दका यथष्ट प्रयत्न करना उचित है। थोड़े ही विचारसे यह सिद्ध होगा कि वस्तुतः कर्म्मकाण्डके सम्प्रदाय सभी कर्म्मकी अलौकिकता, कर्म्ममें दैवी प्रेरणा और कर्म्मफलकी निश्चयताको स्वीकार करते हैं। केवल उनके क्रियांशमें तथा द्रव्यशुद्धि विषयमें कुछ मतभेद है। दार्शनिक सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक ही है। इसी प्रकार उपासनाकाण्डके चाहे शैव सम्प्रदाय हो, चाहे वैष्णव सम्प्रदाय हो और चाहे शाक्त आदि सम्प्रदाय हो और निर्गुण ब्रह्मोपासक सन्यासी हो सभी ब्रह्मके सगुणत्व और निर्गुणत्वको मानते हैं और उसी अद्वितीय ब्रह्मकी विभिन्न प्रकारसे उपासना करते हैं। इसी सिद्धान्तको समझाकर हिन्दुसमाजपति तथा नेतृवृन्दको उदार विचारकी प्रतिष्ठा कराना उचित है। ज्ञानकाण्डके सम्प्रदायोंमें भी जो मतभेद है वह भी अति सुगमतासे दूर हो सकता है यथा मुक्त दशामें अद्वैतभाव और बन्धन दशामें द्वैत भाव मानना ही पड़ेगा। यदि अद्वैत ब्रह्म

दशाको लक्ष्य करके कोई विचार प्रणाली अग्रसर होती हो और कोई विचार प्रणाली जीवदशाको समझकर उसकी प्रवृत्ति प्रकृतिके अनुसार उसके अभ्युदय कराकर निःश्रेयसकी ओर ले जाती हो तो दोनों विचार प्रणालियां ही श्रद्धा करने योग्य हैं इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकारके इङ्गित पर ध्यान देकर हिन्दुसम्प्रदायके समाजपति और हिन्दुजातिके नेतृवृन्द यदि आर्य्य नरनारियोंको सुशिक्षा देनेमें समर्थ होंगे तो अवश्य ही साम्प्रदायिक विरोधका दावानल उदारताके पूत सलिल सिञ्चनसे शान्त हो जायगा।

सनातनधर्मानुकूल दृष्टिके अनुसार अन्तिम विचारणीय विषय यह है कि पृथिवीकी अन्य जातियां जिस प्रकार इस जगतको देखती हैं, उस स्थूल प्रपञ्चमय दृष्टिके अनुसार आर्यजाति नहीं देखती। आर्यजातिकी दृष्टि कुछ अनोखी ही है। सनातन धर्मावलम्बीकी दार्शनिक दृष्टिके अनुसार यह स्थूल प्रपञ्च सूक्ष्म दैवराज्यकी प्रेरणा तथा संरक्षासे चलता है। कर्मराज्यके प्रेरक नियन्ता और कर्मके फलदाता देवतागण हैं। हिन्दुगण ज्ञान राज्यके व्यवस्थापक ऋषियोंको मानते हैं और सनातनधर्म स्थूल शरीरके व्यवस्थापक अर्यमादि नित्य पितरोंको मानता है। याग यज्ञ द्वारा इनकी पूजा होती है और पञ्चमहायज्ञ जैसे नित्य यज्ञोंसे इन सबकी सम्वर्द्धना तथा तृप्ति होती है। उसी प्रकार अग्निष्टोम, सोम, विष्णुयाग, रुद्रयाग, देवीयाग, सूर्ययाग, गणपतियाग, ब्रह्माण्डधारकयाग, विश्वम्भरयाग, सप्तशतीयाग, गायत्रीयाग, इन्द्रयाग आदि यज्ञोंके द्वारा दैवराज्यकी सम्वर्धना तथा देवताओंकी तृप्ति होती है। देवतागणके प्रसन्न होनेसे जाति और देशका सब प्रकार कल्याण होता है। इस कारण हिन्दु समाजपति, हिन्दु नेतृवर्ग और सद्गृहस्थोंके गृहपति आदिका यह कर्त्तव्य होना उचित है कि पञ्चमहायज्ञका प्रचार नियमित रूपसे प्रतिगृहमें होवे, कमसे कम नित्य तर्पण जिसमें पञ्चमहायज्ञका अनुकल्प सम्मिलित

था, ऐसा तर्पण करके ऋषि, देवता, पितर तथा अन्यान्य नैमित्तिक देवताओं और नैमित्तिक पितरोंकी तृप्ति अवश्य सनातनधर्मावलम्बी गृहस्थ मात्रके यहां होना उचित है। पञ्चमहायज्ञके स्थानपर तर्पणकी विधि आपद्धर्म समझकर ही महर्षियोंने ऐसी सुलभ रीतिसे बाँध दी है कि अधिकसे अधिक दस मिनिटमें मनुष्य सब प्रकारका तर्पण करके स्वयं पवित्र हो सकता है और अपने कुल, जाति, देश सबको पवित्र कर सकता है। अतः ऐसी सुलभ तर्पण शैलीका प्रचार अवश्य होना उचित है और जब जब अवकाश हो, जब जब कोई विपत्ति पड़े, या सुविधा हो तभी पूर्वकथित वैदिक और स्मार्त नैमित्तिक यज्ञोंका भी पुनः प्रचार समाजमें अवश्य होना उचित है। ऐसा होनेपर यज्ञकर्त्ताके शरीर मन और बुद्धिकी ही उन्नति नहीं होगी बल्कि जाति और देशका अवश्य कल्याण होगा, इसमें सन्देह नहीं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि या तो ये सब यज्ञ निष्काम रूपसे किये जायँ, या यज्ञोंके सङ्कल्पमें उदारता रखकर देश, जाति और समाजके कल्याणकी ओर अधिक उदारता हो तो समस्त जगत्‌के कल्याणकी व्यवस्था रक्खी जाय। संस्कार इतना ही होना उचित है कि सङ्कल्पमन्त्र देश, जाति, समाज और संसारके सम्बन्धसे उदारताके साथ स्थिर किये जायं यही प्रवीण पितामह पूज्यचरण महर्षियोंके सिद्धान्तानुसार नवीन भारतमें नवीन देशकाल पात्रानुसार समाज संस्कारका दिग्दर्शन है।

राजनैतिक जगत् ।

आजकल भारतकी राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही विचित्र तथा परिणामसे पूर्ण दिखाई देती है। एक ओर आत्माकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता निजस्वरूप तथा उसके लिये हार्दिकी आकाङ्क्षा प्रकट किये बिना नहीं रहती है और दूसरी ओर विजातीय स्वार्थपरता आत्माको इस नैसर्गिक अधिकारसे वञ्चित करनेके लिये अनुदार दमननीतिके अवलम्बन किये बिना नहीं रहती है। इन दोनों परस्पर विरुद्ध भावोंके भीषण संग्राम द्वारा नवीन भारतमें राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही कोलाहलपूर्ण, अशान्तिप्रद तथा भविष्यत्के लिये भयजनक बन रही है। इस अशान्तिसे भारतको बचाकर राजनैतिक संसारमें शान्ति स्थापन करनेके लिये वर्तमान देशकालपात्रकी प्रवृत्तिके अनुसार प्रवीण पितामह पूज्यपाद महर्षियोंने क्या क्या उपदेश दिया है इसीका ही दिग्दर्शन कराना प्रकृत प्रबन्धका विवेच्य विषय है। अब नीचे इस विषयपर क्रमशः विवेचन किया जाता है।

आर्यशास्त्रमें आत्माको नित्यमुक्त, स्वराट् तथा स्वाराज्यमें विराजमान कहा गया है। श्रीमद्भागवतके पहले ही श्लोकमें—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'

इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् वेदव्यासने आत्माको नित्यमुक्त स्वराट् कहा है। आत्मा नित्यमुक्त है। जीव जब तक मायाकी प्रतारणामें पड़कर आत्माके इस नित्यमुक्त स्वभावको अनुभव नहीं करता है तभी तक जीवका बन्धन तथा आवागमन चक्र बना रहता है। तभी तक जीवको परिणामशील संसारमें अनेक प्रकारके दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु आत्माके नित्यमुक्त, स्वाराट्, स्वाराज्यमें विराजमान स्वरूपको देखते ही जीवका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है और तभी

जीव अपनेको ब्रह्म जानकर नित्यानन्दमय हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वाराज्यप्राप्तिमें आत्माका नैसर्गिक अधिकार (Natural right, birth right) है और स्वाराज्यप्राप्ति तथा परतन्त्रताको दूर करना ही सकल सुखोंका निदान है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने सुखदुःखका लक्षण निर्णय करते समय अपनी संहितामें कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
इत्युक्तं हि समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

सकल प्रकारकी परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता एक मात्र सुखनिदान है. संक्षेपसे सुखदुःखका यही लक्षण जानना चाहिये। आत्मा नित्य सुखमय और नित्य स्वतन्त्र है, जीव वही आत्मास्वरूप है, अतः सुख तथा स्वतन्त्रताके लिये जीवकी इच्छा क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी। क्योंकि जो जिसका नैसर्गिक स्वरूप है उसके लिये उसकी नैसर्गिक हृदयकी आकांक्षा होनी और बनी रहनी स्वाभाविक है। जन्मसिद्ध अधिकार (Brith right) तथा स्वभावसिद्ध अधिकार (Natural right) के लिये लालसा अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसके विना जीवका अस्तित्व ही वृथा है, क्योंकि स्वाधीन आत्माने यदि अपनी स्वाधीनताका ही अनुभव न किया तो उसके अस्तित्वका कोई भी प्रयोजन नहीं रह सकता है। यही कारण है कि सभी जीव स्वतन्त्रता अर्थात् स्वाराज्यको चाहते हैं। अब जीवको यह स्वाराज्य, यह स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त होती है सो ही विवेच्य है। मनुसंहितामें लिखा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

आत्माको सकल भूतोंमें और सकल भूतोंको आत्मामें देखकर

आत्मयज्ञपरायण महात्मा स्वाराज्यको लाभ करते हैं। यही आर्य्य-शास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्य सिद्धिका लक्षण है।

क्या भूमण्डलस्थित सभी जातियोंने आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यको लाभ किया है? कभी नहीं। प्रकृति-राज्यमें उन्नतिके तारतम्यानुसार जिस जातिने 'स्व' को जितना समझा है उसने स्वका राज्य भी उतना ही लाभ किया है। जिसने स्थूल-शरीर-मात्रको 'स्व' समझा है उस जातिका स्वाराज्य स्थूल शरीर-पर ही प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थूल शरीरको अन्य किसी जातिके अधीन न होने देकर उसे स्वतन्त्र रखनेमें ही वह जाति अपना स्वाराज्य समझती है। जिस जातिने सूक्ष्म शरीरको 'स्व' समझा है उसके लिये मनोराज्य तथा बुद्धिराज्यपर आधिपत्य विस्तार करना ही स्वाराज्य सिद्धिका लक्षण है। मनको विषयोंका तथा इन्द्रियोंका अधीन न बनाना, बुद्धिपर अविद्याका आवरण आने न देना, मन बुद्धि दोनोंका इहलोक परलोकमें अभ्युदय सम्पादन करना इस स्वाराज्य सिद्धिका निदर्शनरूप है। और जिस जातिने 'स्व' का अर्थ आत्मा समझा है, वह जाति केवल स्थूल शरीरको पराधीनतासे बचानेमें ही पूर्ण स्वाराज्य नहीं समझती तथा मन बुद्धिकी उन्नतिमें ही स्वाराज्यसिद्धिको नहीं मानती, किन्तु शरीर, मन, बुद्धि तीनोंके ही साथ आत्माको भी निज नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके तब पूर्ण तथा यथार्थ स्वाराज्यलाभ हुआ ऐसा विचार रखती है। समस्त पृथिवीके इतिहासको पाठ करनेसे बुद्धिमान् व्यक्तिको अवश्य ही ज्ञात होगा कि अब तक पृथिवीकी अन्य सभी जातियोंने केवल स्थूल शरीरको ही 'स्व' समझ रक्खा है और इसलिये स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताको ही वे स्वाराज्य समझती हैं। केवल 'पृथिवीपाल', 'ईश्वरपुत्र' आर्य्यजातिके पिता पितामह महर्षियोंने ही 'स्व' का यथार्थ अर्थ आत्मा है यह अनुभव किया था और तदनुसार केवल स्थूल

शरीरकी स्वतन्त्रतामें ही पूर्ण स्वाराज्य न समझकर शरीर, मन, बुद्धि आत्मा सभीकी स्वतन्त्रतामें सच्चा स्वाराज्य समझा था। इसीलिये आर्य्यजातिके लक्षण वर्णन करते समय यास्क आदि मुनियोंने "आर्य्यः ईश्वरपुत्रः" "आर्याश्च पृथिवीपालाः" इत्यादि लक्षण बताये हैं। अतः शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीको परतन्त्रतासे बचाना—यही आर्य्यजातिके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्य-सिद्धिका लक्षण है।

इस प्रकार चार पादोंसे पूर्ण स्वाराज्यसिद्धिका विधान महर्षियोंने क्यों किया था? क्या पश्चिम देशियोंकी तरह केवल स्थूल शरीरमात्रकी स्वाधीनतामें ही स्वाराज्य समझना यथेष्ट नहीं है? ऐसी शङ्कायें हो सकती हैं। और इनका समाधान भी पृथिवीके इतिहासमें जातीय उत्थान पतनके मौलिक कारणान्वेषी गवेषणा-परायण पुरुषोंके निकट प्रच्छन्न नहीं रहेगा। गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर जितनी जातियाँ कालसमुद्रके गर्भमें अनन्तकालके लिये एकबार ही डूब चुकी हैं उनके इतिहासों पर विचार तथा मनन करनेसे स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि अर्थ काम तथा पशुबल (Brute force) के द्वारा कोई भी जाति अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र कर सकती है किन्तु यदि मन, बुद्धिको आसुर भावसे स्वतन्त्र करनेके लिये उसके पास धर्म्मबल न होगा तथा आत्माको अज्ञानान्धकारसे मुक्त रखनेके लिये उसके पास ज्ञानबल, यथार्थ आत्मबल (Soul force) न होगा तो अर्थकाम और पशुबलकी प्रतिक्रियामें आसुरी उन्माद तथा अनाचार-अत्याचार-दुराचार-व्यभिचार युक्त पशुभावकी अत्यन्त वृद्धि द्वारा वह जाति थोड़े ही वर्षोंके भीतर अवश्य ही नाशको प्राप्त हो जायगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। दृष्टान्तरूपसे सोच सकते हैं कि गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर वेबिलोनियन्, एसिरियन्, इजिप्सियान्, ग्रीसीयान्, रोमान् आदि अनेक जातियोंका पूर्णरूपसे नाश हो

गया है, किन्तु सभीके नाशके मूलमें धर्महीन, आत्मज्ञानहीन पशुभाव प्रधान अर्थकाम ही प्रबल था। उन जातियोंने प्रधानतः पाशविकबल (Brute force) के द्वारा अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र किया था और अन्यान्य दुर्बल जातियों पर भी पशुबलके ही प्रभावसे अपना आधिपत्य जमाया था। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे घृताहुत वह्निकी तरह अर्थलालसा और कामलालसा अत्यन्त बलवती होकर राज्याधिकार प्राप्त उन जातियोंको शीघ्र ही मनुष्यसे पशु बना दिया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह कामना उत्तरोत्तर बढ़ने ही लगती है यह बात निश्चित है। संसारमें धर्मकी ही शक्ति इस कामनानलको नियन्त्रित करके इसके प्रबल वेगको शान्त करती है। मेरे पास जितना धन है इससे अधिक धन यदि मैं ठगी, चोरी, जुआई आदिसे कमा सकूँ तो चित्तको इस कामनाका रोकने वाला कौन है? मेरे पास काम भोगके लिये स्त्री आदि जो कुछ सम्पत्ति है, उससे भी अधिक सामानका संग्रह व्यभिचार, बलात्कार आदि द्वारा करनेको मुझे कौन रोकता है? क्यों नहीं मैं यथाशक्ति अन्याय उपायोंके द्वारा मेरी अप्रतिहत बलवती विषयलालसा, धनलालसा, कामलालसाको चरितार्थ करूँगा। संसारमें धर्म ही एक शक्ति है जिसने अर्थकामपरायण मनुष्यको इस युक्तिसे रोका है कि यदि वह अन्याय उपायोंसे अर्थ कामका संग्रह करेगा तो वासनाकी अग्नि बढ़ती बढ़ती प्रलयाग्नि बन कर कुछ दिनोंमें उसे ही भस्म कर देगी, उसके मनुष्यत्वका नाश कर उसको पूरा पशु बना देगी और नाना प्रकारके रागद्वेष रोगशोक आदिके

निर्यातन द्वारा थोड़े ही दिनोंमें उसको मार देगी। केवल इतना ही नहीं धर्मकी भविष्यद्भेदी ज्ञानमयी शक्ति उसको यह भी बता देगी कि अधर्मसे, अन्याय उपायोंसे अर्जित अर्थकाम बहुत दिनों तक रहता नहीं है बल्कि उसकी प्रतिक्रियामें आगामी जन्ममें या अत्युत्कट होने पर इसी जन्ममें अर्थ कामको ही नाश कर देता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसकी प्रतिष्ठा जिसने शरीर, मन, वचनके द्वारा की है उसको महर्षि पतञ्जलिके कथनानुसार जिस प्रकार सकल रत्नोंकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चोरी, ठगी, लुटाई, प्रवञ्चना आदि अन्याय उपायोंसे धनार्जन करने पर उसकी प्रतिक्रियामें इस जन्ममें या आगामी जन्ममें उस पापीको भीषण दारिद्र्य दुःखभोगना पड़ता है। उसी प्रकारसे परस्त्री लोभी मनुष्य आगामी जन्ममें स्त्रीहीन या असती स्त्रीके द्वारा दुःख प्राप्त एवं पर-पुरुष-लोभी स्त्री आगामी जन्ममें पतिहीना या कदाचारी पति प्राप्त होती है। इसी कारण श्रीभगवान् वेदव्यासने कहा है कि—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।"

धर्मसे ही चिरकाल स्थायी अर्थकामकी प्राप्ति होती है, तथापि लोग धर्मसेवा क्यों नहीं करते हैं? तृतीयतः अर्थकामके मूलमें धर्म न रहनेसे लालसाग्रस्त अतृप्त अर्थकामपरायण मनुष्य दूसरेके अर्थकामसामग्रीको छीनकर अपनी अर्थकामलालसाको अधिकाधिक तृप्त करना चाहता है, जिसके फलसे द्वेषानल अन्तर्विवाद और अन्तमें घोर अन्तर्जातीयसंग्राम (Revolution) होकर अर्थकामलोलुप जाति रसातलको चली जाती है। रोमन, ग्रीसीयन, बेबीलोनियन आदि जातियाँ इसी तरहसे नाशको प्राप्त हो गई हैं। पशुबलके द्वारा अर्थकाम तथा स्वराज्य, परराज्यको संग्रह करके धर्मबलसे पशुबलको नियन्त्रित तथा आत्माकी ओर दृष्टि न रखने

पर समस्त जाति इसी प्रकारसे मनुष्यपदसे च्युत, अनाचारी स्वमीचारी, महापापग्रस्त तथा पशुत्वकी चरमसीमा पर पहुँच कर अन्तमें नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि दूरदर्शी, तत्त्वदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल अर्थकाम तथा पशुबलके प्रभावमें स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताको ही स्वतन्त्रता नहीं कही है, किन्तु अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष चारोंकी सहायतासे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वतन्त्रताको ही यथार्थ स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण कहा है। जीवका मन या बुद्धि यदि विषयोंके परतन्त्र रहे तो केवल स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रता अनर्गलतामात्रको उत्पन्न करके जीवको और भी दुर्दशा तथा अधोगतिमें डाल देती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इस लिये अर्थकाम तथा क्षात्रशक्तिके द्वारा स्थूलशरीरको स्वाराज्य, धर्मबलसे मन बुद्धिका स्वाराज्य तथा ज्ञानबलसे आत्माका स्वाराज्य इस प्रकारसे चारोंकी स्वाराज्य सिद्धिमें ही पूर्ण स्वाराज्य सिद्धि होती है जिसका उपदेश पूज्यपाद महर्षियोंने पृथ्वीपाल ईश्वरपुत्र आर्यजातिके लिये किया है।

वह उपदेश क्या है? अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वाराज्यसिद्धिके लिये महर्षियोंने क्या क्या उपाय बताया है सो ही अब विचार करने योग्य विषय है। विचार करनेपर पता लगेगा कि आर्यजातिकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाके द्वारा अनायास ही चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यसिद्धि हुआ करती है और इसी लिये पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णधर्मपर इतना जोर दिया है तथा प्राकृतिक विधिके अनुसार चार वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यको पूर्ण रीतिसे पालन करें, इसका विशेष अनुशासन बताया है। मीमांसा शास्त्रका सिद्धान्त है कि—

कामप्रधानः शूद्रः ।।
अर्थप्रधानो वैश्यः ॥

धर्मप्रधानः क्षत्रियः ।

मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः ॥

शिल्पकला, कारीगरी, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि इत्यादि स्थूल कामनापूर्त्तिका सामान प्रस्तुत करके जातिको शारीरिक सेवामें सहायता करना शूद्रवर्णका प्राकृतिक धर्म है। कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा यथेष्ट अर्थ-संग्रह करके जातिका स्थूल शरीर बहुमूल्य रत्नोंसे सुसज्जित कर देना तथा जातीय दरिद्रताका एकबार ही आमूल नाश कर देना वैश्यवर्णका प्राकृतिक धर्म है। शिल्पकला, धन, रत्न, भूसम्पत्तिको विदेशी आकर लुण्ठित तथा अधिकृत न कर सकें, इसलिये बाहुबल, अस्त्रबल, सैन्यबल, युद्धकौशल द्वारा जातिको विजातीय आक्रमणसे सुरक्षित रखना क्षत्रियवर्णका प्राकृतिक धर्म है। अनर्गल अर्थकाममें या अनर्गल क्षात्रशक्तिमें जो जातीय अधनतिकर उन्मादकी स्वाभाविक स्थिति है, उसको धर्मबलसे रोककर समग्रजातिको आत्मा तथा मोक्षकी ओर नियोजित रखना ब्राह्मणवर्णका स्वाभाविक धर्म है। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकते हैं कि दूरदर्शी महर्षियोंने केवल चारवर्णकी नैसर्गिक व्यवस्थाके द्वारा ही शरीर-मन-बुद्धि-आत्मामय चतुष्पाद पूर्ण स्वाराज्यसिद्धिकी पूर्ण अनुशासनविधि बता दी है। वैश्य, शूद्र, क्षत्रियके ऊपर शारीरिक स्वाराज्य-प्राप्तिका भार है और क्षत्रिय ब्राह्मणके ऊपर मन-बुद्धि-आत्मा सम्बन्धीय स्वाराज्य लाभका भार है। बिना क्षात्रशक्ति तथा ब्राह्मणशक्तिकी समवेत सहायतासे वैश्यशक्ति और शूद्रशक्ति भी निरापद नहीं रह सकती है, इसलिये महर्षियोंकी यह आज्ञा थी कि, क्षात्रशक्ति और ब्राह्मणशक्ति परस्पर सहायक बनकर सबकी रक्षा करें यथा मनुसंहितामें—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं तु संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥

ब्राह्मशक्तिके विना क्षात्रशक्ति उन्नतिको प्राप्त नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके विना ब्राह्मशक्ति भी वृद्धिगत नहीं हो सकती है। दोनों शक्ति परस्पर मिलकर ही इहलोक परलोकमें सम्यक् वर्द्धित तथा कल्याणकारिणी हो सकती है। जिस प्रकार किसी रोपित वृक्षको पूर्णकलेवर बनानेके लिये केवल वृक्षमूलमें जलसेचन ही यथेष्ट नहीं होता, किन्तु वृक्षके चारों ओर वेष्टनी लगाकर उसे छाग, मेष, महिष, गौ आदिके आक्रमणसे भी बचाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जातिरूप विशाल वृक्ष क्षत्रियवर्णरूप वेष्टनी द्वारा विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणसे सुरक्षित रहता है और ब्राह्मणवर्णकृत धर्मवारिसिञ्चनसे पुष्टकलेवर बनकर जातिके प्रत्येक व्यक्तिको शान्ति छाया प्रदानमें समर्थ हो सकता है। यही ब्राह्मशक्ति तथा क्षात्रशक्तिके जातीय उन्नति सम्पादनार्थ परस्पर सहायक बननेका तात्पर्य है। इसके सिवाय धर्मशक्ति (ब्राह्मणशक्ति) तथा राजशक्ति (क्षात्रशक्ति) के परस्परापेक्षित्वका और भी एक गूढ़ कारण है। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें मनुष्यप्रकृति भी स्वभावतः तीन गुणकी होती है। इस कारण आर्यशास्त्रमें गुणानुसार विभक्त तीनों प्रकृतिके अधिकारियोंके लिये त्रिविध अनुशासन बताये गये हैं। सात्त्विक प्रकृतिके लिये योगानुशासन, राजसिक प्रकृतिके लिये शब्दानुशासन और तामसिक प्रकृतिके लिये राजानुशासन कल्याण तथा उन्नतिप्रद हैं। सात्त्विक प्रकृति ज्ञान तथा प्रकाश प्रधान है, इसलिये उसमें आत्मा अनात्माका प्रभेद मालूम होकर सत्यपन्थाका निश्चय हो जानेसे योगके अनुशासन द्वारा सात्त्विक अधिकारी आत्यन्तिक कल्याणको पा सकते हैं। राजसिक प्रकृति संशयात्मिका होती है, इसलिये उसमें सत्यपन्था क्या है, इस विषयका सन्देह रहता है। उस सन्देहको निवृत्ति करके यथार्थ पन्था बताना आचार्य तथा शास्त्रका कार्य है। आचार्योपदेश तथा वेदादिरूप शब्दानुशासन द्वारा राजसिक अधिकारी चित्तका

संशय दूर करके उन्नति पथमें अग्रसर हो सकते हैं। किन्तु तामसिक अधिकारीके लिये न योगानुशासन उपयोगी होता है और न शब्दानुशासन ही यथोचित फलप्रद होता है, क्योंकि उसकी समझ ही उलटी रहती है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

जो बुद्धि अधर्मको धर्म समझे और सब विषयमें उलटी ही समझ रक्खे वह तामसिक है। इस प्रकार बुद्धिवाले मनुष्यको सम्हालकर रखनेके लिये न योगानुशासन ही काम दे सकता है और न आचार्यका उपदेश तथा शास्त्र-वाक्य ही काम दे सकता है। ऐसी प्रकृतिके मनुष्य केवल राजदण्डसे ही ठीक रहते हैं। जो मनुष्य चोरी करता करता पुराना हो गया है या नरहत्या करता २ पाषाणहृदय हो गया है उसको योग बताना या वेदका उपदेश देना व्यर्थ परिश्रम मात्र है। उसके लिये तो राजानुशासनके अनुसार कठिन कारावास या फांसी आदि दण्ड ही कथञ्चित् फलप्रद हो सकता है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि सात्विक प्रकृतिके लिये योगानुशासन, राजसिक प्रकृतिके लिये शब्दानुशासन और तामसिक प्रकृतिके लिये राजानुशासन विहित है। सत्ययुगमें मनुष्योंकी प्रकृति सत्वप्रधान, त्रेतायुगमें रजःसत्वप्रधान, द्वापरयुगमें रजस्तम प्रधान और कलियुगमें तमःप्रधान होती है। इस विचारके अनुसार अन्यान्य युगोंमें और दो अनुशासन विशेष कार्यकारी होने पर भी तमःप्रधान कलियुगमें राजानुशासन ही विशेष फलप्रद हो सकता है। धर्मशक्ति तथा सामाजिक शक्ति इस युगमें जबतक राजशक्तिकी सहायतासे न चलाई जायगी तबतक मन्दमति जीवोंको अनाचार, अत्याचार, निरङ्कुशता, पापाचरण आदिसे बचा न सकेगी। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि इस समय हिन्दु जातिके व्यावहारिक

सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, जीवनमें कितने ही प्रकारके अनाचार फैले हुए हैं जिनका प्रतिकार विदेशीय तथा अन्यधर्मी राजशक्तिके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता है, क्योंकि विदेशीय होनेके कारण न यह इन बातोंको समझतीही है और न इनका प्रतिकार उनके द्वारा ठीक ठीक हो ही सकता है। इसलिये उन बातोंमें निरपेक्ष (neutral) रहना ही उनके लिये युक्तियुक्त है। किन्तु समाजकी मार्मिक विषयोंके प्रति उदासीनता समाजको दिन प दिन रसातलको लेजाती है यह निश्चय है। प्राचीन कालमें हिन्दुराजा इसलिये धर्मगुरु महर्षियोंकी अनुज्ञासे सामाजिक निरंकुशताके प्रवाहको सदा रोकते थे। आजकल जैसे ब्रह्मचर्याश्रम, संन्यासाश्रम आदिमें कितना ही गड़बड़ हो गया है, विवाह विधि, सामाजिक सदाचार आदिमें कितनी ही कुप्रथायें भी आ गई हैं, मन्दिर, तीर्थ, देवालय आदि स्थानोंमें धर्मके नामसे कितने ही अधर्म होते हैं ये सब अत्याचार प्राचीनकालमें राजानुशासनके बलसे नहीं होने पाते थे और अब भी हिन्दुजातिके पास धर्मानुकूल राजशक्ति हो तो शीघ्र ही ये सब अत्याचार निवृत्त किये जा सकते हैं। यही कारण है कि इस युगमें जातिको उन्नतिपथमें अग्रसर करनेके लिये धर्मशक्तिके साथ राजशक्ति अर्थात् ब्राह्मणशक्तिके साथ क्षात्रशक्तिके संयोगकी इतनी आवश्यकता है। यही ऊपर कथित मनुवचनका गूढ तात्पर्य है।

इस प्रकारसे प्राचीनकालमें ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिकी समवेत सहायतासे धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुर्वर्गकी सिद्धि तथा शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा रूपी चतुष्पादसे पूर्ण स्वाराज्यकी प्राप्ति आर्यजातिको हो सकी थी। इन दोनों शक्तियोंमें जब कहीं कुछ विरोध आजाता था तो श्रीभगवान् स्वयं अवतार धारण करके विपथगामी शक्तिकी निरंकुशताको दमन कर पुनः दोनोंका सामञ्जस्य विधान कर दिया करते थे। त्रेतायुगमें कार्तवीर्यार्जुन प्रमुख क्षत्रियोंकी

शक्ति निरङ्कुश तथा अत्याचारी बनकर ब्राह्मणशक्तिके नाशका कारण हो उठी थी, इसलिये श्रीभगवान्‌को ब्राह्मणकुलमें परशुराम-रूपमें अवतीर्ण होकर पापी क्षत्रियोंके नाश द्वारा दोनों शक्तियोंका समताविधान करना पड़ा। पुनः जब कुछ वर्षोंके बाद ब्राह्मणशक्ति दुर्वृत्त हो गई और ब्राह्मण वंशमें रावण जैसे राक्षस उत्पन्न होकर अधर्माचरण करने लग गये तो श्रीभगवान्‌को निरङ्कुश ब्राह्मणशक्ति-के दमनके लिये श्रीरामचन्द्ररूपमें क्षत्रिय कुलमें जन्म लेना पड़ा। उन्होंने रावणवंशका नाश करके ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर किया और आदर्श क्षत्रिय नरपतिका धर्माचरण करके आर्य्य-जातिको दीर्घकालव्यापिनी शान्ति प्रदान की। पुनः द्वापरयुगके अन्तमें दोनों ही शक्ति विपथगामिनी हो गई। जिससे देवांशो-त्पन्न भीष्म कर्णादि क्षत्रिय वीरगण तथा द्रोणाचार्य्य, अश्वत्था-मादि ब्राह्मणकुलभूषण पुरुषगण भी धर्मपक्षको छोड़कर पाप-पक्षानुकूल संग्राममें प्रवृत्त हो गये। अपने सामने कुलवधूको विवस्त्रा होती हुई देख कर भी किसीको विचार नहीं आया, धर्मके सिर पर पापका पदाघात देखकर भी किसीके हृदयमें आघात नहीं लगा, क्षत्रियधर्मको तिलाञ्जलि देकर निरस्त्र अभिमन्यु के प्राण हननमें किसीको लज्जा नहीं आई, निद्रित कुमारोंके सिर काटनेमें ब्राह्मणधर्मके अमानुष अपलाप नहीं प्रतीत हुआ, विश्वबन्धन-नाशकारी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको बाँधनेके लिये भी महापापमय स्पर्धा होने लगी, इधर कंस, शिशुपाल, अघासुर, बकासुर, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि आसुरीशक्तिसम्पन्न क्षत्रियोंके भीषण अत्याचारसे ससागरा धरा विकम्पित होने लगी, तब श्रीभगवान्‌को कृष्णरूपसे पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर दोनों शक्तियोंको ही उद्दण्डताको दबाकर दोनोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। उन्होंने कुरुक्षेत्रादि महासमरमें पापी क्षत्रियोंका नाश कराकर धर्मराज्य स्थापन कराया और गीता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञानमयी ब्राह्मण-

शक्तिकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकारसे जब जब दोनों शक्तियोंमें असामञ्जस्य या वैमनस्य फैला तभी श्रीभगवान्‌ने कभी स्वयं आवश्यकतानुसार अंशकला या पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर और कभी साम्प्रदायिक या राजनैतिक आचार्यादि विशिष्ट विभूतियोंके रूपमें प्रकट होकर वैमनस्यको विदूरित किया और चातुर्वर्ण्यकी धर्मानुकूल व्यवस्था विधान करके अर्थकामका पोषण, अर्थकाम तथा प्रजाकी रक्षा और अर्थकामके धर्मानुकूल विनियोग द्वारा मोक्षमार्गको निष्कंटक राजमार्गकी तरह बना रक्खा। और जबतक इस प्रकार चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यकी सिद्धि रही तबतक आत्मा सम्बन्धीय स्वाराज्यके साथ साथ स्थूलशरीर सम्बन्धीय स्वाराज्य भी आर्य्यजातिके भाग्यमें पूर्णरूपसे विराजमान रहा, जिससे यह जाति तथा यह भारतभूमि विजातीय आक्रमण तथा अधिकार विस्तारसे सदा सुरक्षित रही। यही सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके प्रथमचरणांश तक चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्य सम्पादन विधिका गूढ़ तत्त्व है।

पूज्यपाद महर्षियोंकी दूरदर्शितासे सम्प्राप्त चतुष्पादपूर्ण यह स्वाराज्य भाग्यचक्रके विपरीत परिवर्त्तनके कारण आर्यजातिके अधिकारसे कैसे निकल गया, अब यही विचारणीय विषय है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा भूभारहरणके बाद कुछ दिनोंतक भारतवर्षमें शान्ति रही। किन्तु जो भ्रातृविद्वेषरूपी विषवृक्षका बीज भारतीय क्षत्रियभूमिमें एक बार जम चुका था वह कदापि नष्ट नहीं हो सका। इसलिये पाण्डववंशीय कुछ नरपतियोंके एकच्छत्र साम्राज्य चलानेके बाद भारतवर्षमें एकच्छत्र नरपति कोई भी नहीं रह सके। समग्र भारतमें छोटे छोटे अनेक राजवंशोंके राज्य हो गये। इधर बौद्धविप्लवके प्रतापसे ब्राह्मणशक्तिमें बहुत ही दुर्बलता आगई जिस कारण परस्पर विद्वेषभावापन्न, संग्रामनिरत बन राजवंशियोंको संग्रामनिवृत्ति, एकता तथा शान्ति प्राप्तिके लिये

धर्मानुशासन बतानेवाली ब्राह्मणशक्तिकी विशेष सहायता नहीं प्राप्त हो सकी। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' एकता द्वारा ही कलियुगमें राजकीय शक्ति लाभ हो सकती है यह श्रीभगवान् वेदव्यासकी भविष्यद्वाणी है। किन्तु भारतके भाग्यमें इसका ठीक विपरीत फल ही हुआ। एक ओर क्षुद्र क्षुद्र राज्यके अधिपति राजागण एकताकी महिमाको भूलकर पारस्परिक अन्तर्विवादसे दुर्बल होने लगे, दूसरी ओर अन्तःसारहीन ब्राह्मणशक्ति द्वारा यथेष्ट सहायता न मिलनेके कारण क्षत्रिय जातिमें राजसिक शक्तिहीनता और धार्मिक दुर्बलता बढ़ती ही गई। इस प्रकारसे दोनों शक्तियोंके विषमगामी होनेके कारण शिल्पकलापरायण शूद्रशक्ति तथा धनरत्नप्रसू वाणिज्यपरायण वैश्यशक्तिका यथोचित रक्षक कोई न रहा। इस अवसरको देखकर विदेशसे भारतवासियोंपर मुसलमानोंका आक्रमण प्रारम्भ हुआ। महम्मद गजनवी, महम्मद घोरी आदि अनेक मुसलमानोंने रत्नप्रसविनी भारतमाताके रत्नभण्डारको खूब लूटा और अन्तमें दुर्बल क्षात्रशक्तिको पराजित करके आर्यजातिपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। जिस प्रकार स्वाधीनता सकल सुख तथा सकल उन्नतिका अद्वितीय निदान है, उसी प्रकार पराधीनता आत्महननका अद्वितीय अमोघ अस्त्र है। इसी अमोघ अस्त्रके निरन्तर आघातसे आर्यजाति दिन व दिन निर्वीर्य्य, साहसहीन, पराक्रमहीन, प्राणहीन बनने लगी। कलियुगके प्रभावसे तथा धर्मद्वेषी विजातीय अत्याचारके परिणामसे धर्मजीवनमें भी बहुत ही शिथिलता आगई। लोग अर्थकाम प्रिय होकर स्वधर्म छोड़ म्लेच्छसम्बन्ध स्थापनमें भी सङ्कोच नहीं करने लगे। केवल शिशोदीय, राठोर आदि दो चार वंशके क्षत्रियोंने स्वधर्म पालन द्वारा आत्मरक्षा तथा इस अवनतिकर प्रवाहसे जातिकी यथा कथञ्चित रक्षा की। इधर इन्द्रियपरायणता, अत्याचार, प्रजापीड़न, परधर्मविद्वेष, परजातिविद्वेष, प्राणिहिंसा आदि

अनेक दोषोंसे यवनशक्ति भी दिन व दिन हीनबल होने लगी और नरपति औरङ्गजेबमें इन दुर्गुणोंकी पराकाष्ठा होनेके कारण उन्हींके राज्यकालसे यवनजातिका पतन प्रारम्भ हो गया। अकबर आदि मुसल्मान सम्राटोंने अपना बुद्धिबल तथा राजनैतिक कौशलसे हिन्दू मुसल्मानके भीतर जो कुछ एकतास्थापन किया था, औरङ्गजेब आदिके परधर्मविद्वेष तथा परजातिविद्वेषके प्रभावसे वह सभी एकता नष्ट होगई, जिससे हिन्दू मुसल्मानके भीतर निरन्तर संग्राम द्वारा दोनों जातियाँ और भी क्रमशः हीनबल होने लग गई। इस प्रकारसे हिन्दुशक्ति तथा मुसल्मानशक्तिका परस्पर संघर्ष और उसके परिणामरूप दोनोंकी शक्तिहीनताको देखकर पश्चिम देशकी कुछ जातियोंने वाणिज्यके व्याजसे भारतवर्षमें प्रवेशाधिकार लाभ किया। चूँकि उन जातियोंका स्वभाव ही ऐसा है कि वह वाणिज्य-शक्तिके साथ राजशक्तिको मिलाये रखती है (Flag follows the trade) इसलिये उन्होंने हिन्दुजाति तथा मुसलमान जातिके भीतर वाणिज्य शक्तिके साथ धीरे धीरे राजशक्तिका भी प्रवेश कराना प्रारम्भ कर दिया, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि दोनों शक्तियोंकी क्रमदुर्बलताको देखकर पश्चिमीय उन जातियोंमेंसे किसी एक राजनैतिक कला कुशल -जातिने भेदनीतिके अवलम्बनसे दोनों जातियों पर अपना शासनाधिकार जमा लिया। आर्यजातिका गौरव रवि तो पहले ही अस्तमित हो चुका था, अब मुसल्मान जातिका भी गौरव सूर्य चिरकालके लिये काल समुद्रमें निमग्न हो गया।

जिस जातिने हिन्दू मुसल्मान दोनों जातियों पर शासनाधिकार विस्तार किया है, उसकी राजनैतिक चतुरता बहुत ही विचित्र है उस समुद्रके ऊपरकी लहरें ऐसी मनोमुग्धकर हैं कि भीतर कितने मकर नक्रादि प्राणघातक जल जन्तु हैं, इसका न पता लगता है और न पता लगानेकी एकाएक इच्छा ही होती है, केवल लहरोंके शुभ दर्शनसे मुग्ध होकर समुद्रमें गोता लगानेकी ही तीव्र इच्छा होती है।

हिन्दु-मुसलमान दोनों जातियोंने यहाँ खूब गोता लगाया, लवणाक्त कितना ही जल पेटमें जाकर पेटको बिगाड़ा तथा शरीरको अस्वस्थ कर दिया, मकर नक्रोंने किसीका हाथ काट लिया, किसीका पाँव काट लिया, किसीका प्राणघातही कर दिया। फिर भी जबतक वे जलमें गोता खाते रहे, तबतक उन्हें कुछ भी पता न चला। राजनीतिकुशल शासकजातिने उन दोनों जातियोंको जो कुछ सिखाया, शिष्य बनकर परम सौभाग्य समझ कर उन्होंने वही शिक्षा पा ली। जिस तरहसे रखना चाहा उसी तरहसे रहनेमें ही अपना निःश्रेयस समझने लगे। शासक जाति उसके अधीनस्थ शास्य जातिको पूर्ण शिष्य बनानेके लिये कई एक उपाय अवलम्बन करती है। प्रथमतः वह उसको पूरे शिष्य बनानेके लिये घर छुड़ाती है और माता पितासे भी उसे विमुख कर लेती है, क्योंकि गृह-त्यागी पितृमातृ त्यागी शिष्य ही सम्पूर्ण रूपसे गुरुके अधीन हुआ करते हैं। इसलिये शिष्यको सबसे पहले यही शिक्षा मिली कि वह इस देशका नहीं है, उसका प्राचीन घर भारतवर्ष नहीं है, वह गुरुके ही साथ किसी समय मध्यएशियामें कास्पियनह्रदके पास निवास किया करता था, पीछेसे जब गुरु पश्चिमकी ओर चले गये तो वह पूर्वकी ओर आकर भारतभूमिमें उपनिविष्ट (Colony) हो गया। अब गुरु भी यहीं आगये हैं। अतः भारतको अपना घर कहना मिथ्या है। भारतमाता उसकी माता नहीं है। और वह जो अपने पिताको आर्य कह कर दूसरेको अनार्य कहता है वह भी सिद्धान्त मिथ्या है। क्योंकि दोनोंका ही काकेसियन मुख होनेसे दोनों ही आर्य हैं। उसके पुराने इतिहासमें कोई वीर या उत्तम पुरुष हुए ही नहीं हैं। उसके राम, कृष्ण आदि असभ्य, चरित्रहीन, बुद्धिहीन लोग थे। उसके पौराणिक भीष्म, अर्जुन, भीम आदिकी कथा उपकथा मात्र है, सत्य बात नहीं है, क्योंकि भीम, अर्जुन, आदि नामके कोई पुरुष हुए ही नहीं इत्यादि इत्यादि शिक्षाके द्वारा

शिष्य अपना गृह तथा पिता माता सभीको भूल गया। किन्तु सब कुछ भूलने पर भी जबतक जातीय भाव तथा जातीय अभिमान है तबतक जातिका नाश कोई भी नहीं कर सकता है। जातीय भावके प्रगट करनेके लिये तीन वस्तु है यथा—जातीय भाषा, जातीय वेश और जातीय धर्म। लौकिक जगत्में देखा जाता है कि जिसके भीतर जो भाव होता है उसके मुखसे शब्द भी वैसे ही निकलते हैं, उसका रूप भी वैसा ही बन जाता है और धर्म भी वह वैसा ही देखाता है। भीतर क्रोधका भाव होनेसे शब्द क्रोधके निकलते हैं, रूप क्रोधीकी तरह भीषण बन जाता है और आचरण भी क्रोधी जैसा ही होने लगता है। भीतर प्रेम या भक्तिका भाव होनेसे शब्द प्रेमभक्ति पूर्ण निकलते हैं, मधुररूप प्रेमीभक्तके बन जाते हैं और धर्माचरण भी प्रेमीभक्तका ही होने लगता है, इत्यादि इत्यादि। अतः सिद्ध हुआ कि शब्द, रूप और धर्मके द्वारा ही भाव प्रकट होता है। इस कारण यदि किसी जातिके भावका नाश करना हो तो उसकी भाषा, उसका 'वेश' तथा उसके धर्मका नाश करना चाहिये। भाग्यचक्रसे आर्यजातिको तीनोंका ही नाश देखना पडा है। उसकी भाषा देववाणी मृतभाषा बनाई गई है, उसका जातीय वेश, जातीय खानपान, जातीय रूप बिगड़कर विजातीय हो चला हैं, और उसका अनादि प्रसिद्ध सनातन धर्म आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञान (Godless material science) के भवँरमें पडकर डूबता ही जारहा है। अब जब इतना तक होगया कि आर्यजाति गृहत्यागी, मातृत्यागी पितृत्यागी, भावत्यागी, भाषात्यागी, वेशत्यागी, धर्म त्यागी होगई तो बाकी छोटी मोटी बातोंके त्यागनेमें क्या देर लगती है। इसलिये शूद्रोंने कर्णकी तरह सूत्राकृति गुरुदक्षिणामें चढ़ाकर शिल्पकलाको परित्याग किया। वैश्योंने वाणिज्य लक्ष्मीको छोड़कर मन ही मन सन्तोषव्रत धारण कर लिया। क्षत्रियोंने रक्षा-धर्मके पालनका प्रयोजन न देखकर अस्त्रशस्त्रोंका परित्याग कर

दिया और ब्राह्मणोंने ब्रह्मपूजनको छोड़ कर अर्थकाम सेवामें ही मन प्राणको सौंप दिया। इस प्रकारसे आर्यजातिको चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यके स्थान पर षोड़शकला सम्पूर्ण पराधीनता ही मिल गई है। इसके अतिरिक्त अपने स्वरूपको भूलकर चिर उदार आर्यजातिने स्वधर्म विद्वेषी और स्वजाति विद्वेषी बन अपने पराधीनता शृङ्खल को और भी कठिन बना लिया है।

किन्तु अन्तर्यामी विधाताके विधानको कौन रोक सकता है? गत यूरोपीय महासमरमें पाश्चात्य सभ्यताके कुपरिणामको देखकर आर्य्यजाति तथा समस्त संसार चौंक उठा है और आर्य्यजातिको यह मालूम हो गया है कि, पाश्चात्य सभ्यताके ऊपरी चमत्कारमें मुग्ध होकर महर्षिप्रणीत प्राचीन आर्य्यसभ्यताके प्रति उपेक्षा करना उसकी कितनी भूल थी। गुरुकृपालाभके लिये यूरोपीय महासमरमें मनप्राण शरीर आत्मीय स्वजन सभीके समर्पण करने पर भी—उसके बदले जो कुछ मिला है उससे भी आर्य्यजातिकी आँखें खुल गई हैं। यही सिद्धान्त निश्चय हो गया है कि, संसार स्वार्थपरता, नीचता, कृतघ्नता तथा पशुभावसे भरा हुआ है, यदि कोई जाति अपनी उन्नति करना चाहे तो दूसरी जातिका मुखापेक्षी न होकर स्वावलम्बनकी सहायतासे अपने ही पाँव पर खड़ा होनेका पुरुषार्थ करना ही यथार्थतः उन्नतिलाभ करनेका उपाय है। वास्तवमें भिखारीकी तरह दूसरेके कृपाकटाक्ष-भिक्षु होनेकी अपेक्षा अपने आत्म बलिदान द्वारा जगन्माताको प्रसन्न करके मातृभूमिसे शक्तिमान् होना ही उन्नतिका मूलमंत्र है। अब राजनैतिक चक्रकी गति प्रजातन्त्र की (Republic) ओर प्रबल वेगसे हो रही है। और यह भी प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है कि, एक दो को छोड़कर पृथ्वीके जितने महादेश हैं वे सभी राजतन्त्र प्रणालीको छोड़ कर प्रजातन्त्र प्रथाको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा अकस्मात् क्यों हुआ इसका मूलान्वेषण करनेसे अनेक हेतु—देखनेमें आते हैं।

उनमेंसे तीन हेतु-विशेष प्रबल हैं यथा पश्चिमी सभ्यता (Western Civilisation) का अवश्यम्भावी परिणाम (२) राजाओंमें राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपस्यानाश तथा राजोचित गुणावलीका अभाव। (३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपः सञ्चय, और भगवत्कृपालाभ नीचे इन तीनोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

(१) पश्चिमी सभ्यताका अवश्यम्भावी परिणाम। (क) पश्चिमी सभ्यताका भौतिक विज्ञान (Material Science) मूलक होनेसे उसके द्वारा संसारका सामञ्जस्य बिगड़ता है। संसार यदि एक ओर सौ दो सौ करोड़ पतियोंके द्वारा और दूसरी ओर दस बीस करोड़ अतिदारिद्रमजदूरोंके द्वारा पूर्ण होजाय, तो, संसार कभी यथार्थ सभ्यताके शिखर पर चढ़ नहीं सकता। मध्यवित्त लोगोंके द्वारा ही संसारमें सकल प्रकारकी जातीय उन्नति प्राप्त हो सकती है क्योंकि उनको मजदूरोंकी तरह अन्नचिन्ता भी नहीं रहती और करोड़ पतियोंकी तरह धन-मद भी नहीं रहता है। वे दोनों असामञ्जस्य की आशङ्कासे बचकर व्यक्तिगत तथा जातिगत जीवनकी यथार्थ उन्नतिके लिये विशेष पुरुषार्थ कर सकते हैं। किन्तु भौतिक विज्ञानका जो मूलतत्व है उससे संसारमें मजदूर दल (Labour Class) और धनीदल (Capitalist) ही बढ़ते हैं, मध्यवित्तलोग (Middle Class) घट जाते हैं। किसी एक कारखाने या मिल आदिके दृष्टान्तसे इस विचारको मिलाकर देख सकते हैं। एक वस्त्रका या आटोकी मिल चलने पर क्या होता है? जिस धनीको मिल है, वही करोड़पती बनता है, बाकी उसमें काम करनेवाले मजदूर लोग चिर दरिद्र ही रहते हैं, एक मिलमें अनेक वस्त्रादि प्रस्तुत होनेके कारण मध्यवित्त लोगोंके लिये श्रम विभाग (Distribution of Labour) का सिलसिला एकबार ही नष्ट हो जाता है। वे स्वतन्त्ररूपसे शिल्पकलाका अभ्यास या उन्नतिसे वञ्चित होकर केवल दुकानदार या

नौकरी करनेवाले ही रह जाते हैं। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञान द्वारा श्रम सामञ्जस्य तथा अर्थ सामञ्जस्य बिगड़ कर एक ओर तो मध्यवित्त श्रेणी नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर मजदूर और धनियोंमें संग्राम शुरू हो जाता है। क्योंकि परिश्रम करें मजदूर, फायदा उठावें आलसी प्रमादी धनी, इससे मजदूरोंका चित्त बिगड़ता है, वे धनियों के प्रति द्वेष तथा ईर्ष्यापरायण होकर संग्राम करने लगते हैं, जिसका अवश्यम्भावी फल अन्तर्विवाद (Civil war) और पेंचकारिता (Bolshevism) है जो आज संसारके सामने प्रत्यक्ष होरहा है। आज जो समस्त यूरोपमें मजदूरदल और धनी दलोंमें भीषण संग्राम चल रहा है और बोलशेविज़्मका प्रभाव बढ़कर धनियोंके धन लूटे जा रहे हैं। प्रताप घटाये जा रहे हैं। इसका आदिकारण भौतिक विज्ञान प्रधान पश्चिमी सभ्यता ही है। किन्तु दुःख इस बातका है कि, इस प्रकार अशान्ति तथा जातीय संग्रामको मिटाकर शान्ति स्थापन करनेके लिये पश्चिमी सभ्यताने अभीतक कोई स्थायी उपाय नहीं सोचा है, उलटा संग्राम, अशान्ति, नरहत्या, जीवहत्या आदिकी पुष्टिके लिये मेशिनगन, जेप्लिन, हवाई जहाज पनडुब्बी आदि नामके ही सामान (Engines of distruction) तैयार किये हैं। इसका अन्तिम परिणाम यही होगा कि छोटे बड़ेको नहीं मानेंगे। प्रजा राजाको नहीं मानेगी, राजा प्रजामें भीषण संग्राम छिड़ जायगा और अन्तमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्यप्रणाली चल जायगी और इसके परिणाममें एकाकार बोलशेविज्म फैल जानेकी आशङ्का हो जायगी। इन्हीं बातों पर विचार करके पूज्य-पाद दूरदर्शी महर्षिगण भौतिक विज्ञानको ही जातीय उन्नतिका एकमात्र निदान नहीं समझते थे और मिल आदिकी सहायतासे वाणिज्यश्रीको न बढ़ाकर गृहशिल्प (Home Industries) की सहायतासे उसे पुष्ट करके श्रमसामञ्जस्य (Balance of labour) मध्यवित्त श्रेणीकी उन्नति तथा अर्थसामञ्जस्य विधान करते थे।

अतः विचार द्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि पश्चिमी सभ्यताका कुपरिणाम ही राजतन्त्र नाशका एक कारण है।

(ख) पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिक विज्ञान (God-bro Material Science) मूलक होनेसे इसकी जितनी वृद्धि होती है, मनुष्य हृदयसे आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, देवताओं पर भक्ति, सूक्ष्म जगत्पर विश्वास तथा स्थूलजगत्को ही सब कुछ न समझनेकी बुद्धि उतनी ही नष्ट हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि, ईश्वर तथा देवताओंकी विभूतियों परसे भी प्रजाकी श्रद्धा भक्ति उठ जाती है। स्वधर्मसेवी यथार्थ राजामें ईश्वर तथा देवताओंकी विभूति है।

"अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः।"

यह आर्यशास्त्रका सिद्धान्त ही है। इसलिये राजभक्ति ईश्वरभक्तिमूलक है। ईश्वरभक्ति जितनी नष्ट होगी, राजभक्ति भी उतनी ही नष्ट होगी। अतः ईश्वरभक्तिहीन भौतिक विज्ञानके प्रभावसे संसारमेंसे राजभक्ति अवश्य ही उठ जायगी और राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र प्रथा चल जायगी यह निश्चय है। पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिक विज्ञान मूलक है, अतः पश्चिमी सभ्यता ही राज्यतन्त्रका नाश करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापनका मूल कारण है।

(ग) पश्चिमी सभ्यता अर्थकामके ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें धर्म-मोक्षका नाम मात्र नहीं है, धर्महीन अर्थकाम किस प्रकारसे वासनाको बढ़ाकर मनुष्यको उन्मत्त कर देता है, इसका वृत्तान्त पहले ही कह चुके हैं। इस कारण यह बात निश्चय है कि, जिस जातिमें धर्महीन अर्थकामकी वृद्धि होगी उसमें वासनाका अन्त न रहेगा, मनुष्य वासनाको बढ़ाता हुआ चक्रवर्ती राजाकी पदवी तक पानेको ललचावेंगे जिसका फल यह होगा कि राजाकी राजसम्पत्तिको देख ईर्ष्या द्वेषसे जल मरेंगे और राजाको बड़ा न मानकर स्वयं

राजा-बननेकी इच्छा करेंगे और इससे यह भी परिणाम निकलेगा कि, सावधान न होनेपर प्रजाओंमें दिनबदिन निरङ्कुश स्वाधीनता प्रवृत्ति बलवती हो जायगी। अतः देखा गया कि, धर्ममोक्षहीन पश्चिमी सभ्यताके परिणामसे राजतन्त्रकी प्रधानता नष्ट होकर प्रजातन्त्र प्रथा अवश्य ही प्रतिष्ठित हो जायगी।

(२) राजाओंमें राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपोनाश। जगन्नियन्ता श्रीभगवान्‌का नियमही यह है कि, इस संसारमें अनावश्यक कोई भी पदार्थ रहने नहीं पाता। प्रकृतिमाता अनावश्यक वस्तुको शीघ्र ही प्रलयके गर्भमें डुबा देती है। इस नियमके अनुसार मनुष्योंमें भी यदि भगवान्‌के द्वारा प्राप्त किसी वस्तुका उपयोग न हो या दुरुपयोग हो तो वह वस्तु पानेवालेके पास बहुत दिनों तक नहीं रहेगी या आगे जन्ममें वह उससे शून्य होकर उत्पन्न होगी। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, इस जन्ममें धन पाकर जो अच्छे कार्यमें उसका उपयोग नहीं करेगा या पापकार्यमें उसका दुरुपयोग करेगा वह तीव्र पापसे इसी जन्ममें या साधारणतः आगामी जन्ममें निर्धनताको प्राप्त हो जायगा। चक्षुको पाकर उसका अपव्यवहार करनेवाला नेत्रशक्तिसे हीन होकर उत्पन्न होगा। बुद्धि पाकर उसका दुरुपयोग करनेवाला निर्बुद्धि होकर जन्मेगा। यह सब क्रिया प्रतिक्रियामय प्राकृतिक नियम है। पूर्वजन्मके सकाम तपस्याके फलसे मनुष्यको राज्य मिलता है। तपस्याके प्रभावसे अपूर्व उत्पन्न होनेके कारण राजाके शरीरमें सूर्य, चन्द्र, वरुण, यमादि आठ देवताओंकी विभूति प्रकट हुआ करती है। किन्तु, यदि राजा इन दैव-विभूतियोंका उपयोग न करें या दुरुपयोग करें यथा—सूर्यका अंश पाकर भी प्रजाओंमें प्रकाश विस्तार न करके अज्ञान या अन्धकारका ही विस्तार करे और कूट राजनीति कौशल द्वारा प्रजाका अर्थ तथा काल नष्ट करके प्रजाके जीवनको चिर दारिद्र्य तथा चिर दुःखमय बना देने और

इस प्रकारसे विद्याज्ञानके साथ कूट राजनीतिका सम्बन्ध मिलाकर राजशक्तिका अपलाप रूप तपःदस्कारी या पापाचरण करे, चन्द्रका अंश पाकर भी प्रजाको निजगुणसे आनन्द न देकर निज स्वार्थ-सिद्धिके लिये दुःख ही देवे, वरुणका अंश पाकर भी धन दानद्वारा प्रजाको पुष्ट न करके दुर्भिक्षके कराल ग्रासमें पतित करे और प्रजा शोषणसे धनोपार्जन द्वारा अपनी ही ऐश्वर्य, सुख, गौरव की वृद्धि करे अथवा राज्यमें व्ययाधिक्यनीति चलाकर राज्यको दुर्बल तथा प्रजाको दारिद्र्य दुःखसे पीड़ित करे। यमराजका अंश पाकर भी न्यायानुसार विचार न करके अन्याय तथा पक्षपातके साथ विचार करे और विचार विभागमें भी कूटराजनीतिको काममें लाकर अत्यन्त पापाचारी बने तो इस प्रकार दैवांशके दुरुपयोगके फलसे राजामेंसे दैवविभूतियां नष्ट हो जायँगी और उनमें राक्षसका अंश प्रकट होकर भीषण प्रजापीड़नका कारण हो जायगा जैसा कि शुक्रनीतिमें—

यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्॥

धर्मानुसार प्रजापालक राजामें देवांश प्रकट होता है, अन्यथा राक्षसांश प्रकट होकर राजाको प्रजापीड़क बनाता है और इसी प्रजापीड़नरूपी पापसे राजाकी क्या दुर्गति होती है सो भी महर्षि याज्ञवल्क्यजीने बताया है यथा—

प्रजापीड़नसन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते॥

प्रजापीड़न जन्य सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाके राज्य, वंश सम्पत्ति और प्राणके जलमें बिना निवृत्त नहीं होती है। इतिहासकी पर्यालोचन करने से ऐसा ही मालूम होता है। नहुष इन्द्र बनकर भी जिसे प्रजापीड़न पापसे ही गिर गया था। वेण, दुर्योधन, कंस

आदिका नाश भी इसी प्रकार से हुआ था। वर्त्तमान समयमें भी-समस्त जगत्में राजाओंमें दैवविभूतियोंका विरलही विकाश देखनेमें आ रहा है। उलटा आकुर या राक्षस विभूतिके विकाश द्वारा प्रजा-पीड़न तथा तज्जन्य पापसे राजाओंका तपःक्षय होरहा है। यह पूर्व जन्मकी तपस्या जब तक थोड़ी बहुत बाकी है तबतक तो उनका राज्य चलेगा, उसके बाद सम्पूर्ण तपस्याके नाश होते ही वे सब नष्ट हो जायँगे और संसारमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्य हो जायगा, यही वर्त्तमान समयमें राजनैतिक जगत्के अदृष्टचक्र का परिवर्त्तन दृष्टि गोचर हो रहा है।

(३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपः-संञ्चय और भगवत् कृपा लाभ। एक ओर तो राजगण पापाचरण, प्रजापीड़न, दुर्व्यसन आदिके द्वारा पूर्वतपस्याको खोकर शक्तिहीन होरहे हैं और दूसरी ओर प्रजा त्यागी, सच्चे धार्मिक नेताओंकी वशवर्त्तिनी होकर धैर्य्यके साथ अन्यायी राजाके अत्याचारोंको सहन करती जाती है और धैर्य्य, त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणोंके प्रभावसे विशेष तपःसञ्चय तथा दैवकृपा लाभकर रही है। इसके फलका होना सो अनायास ही मालूम हो सकता है। राजाकी ओरसे भगवत् कृपा हट जायगी और प्रजाके ऊपर करुणा निधान भगवान् की कृपादृष्टिकी वृष्टि होगी। संसारमें सहन शीलता त्याग और आत्मबलिदानके द्वारा ही निखिल शक्ति प्राप्त होती है। वसुदेव देवकी—यदि कंसके अत्याचारको सहन न करते तो श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र-उनके पुत्र बन, संसारमें प्रकट तथा उनका दुःख नाश व कंस विनाश न करते। द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय यदि पाण्डवगण धैर्य्य और धर्मको न रखते, तो श्रीभगवान्की कृपा तथा कुरुक्षेत्र युद्धमें उनको जयश्री नहीं प्राप्त होती। महात्मा ईसामसी यदि यहूँ-दियोंके मरणान्त अत्याचारको सहन न करते, तो ईसाई धर्म आज समस्त संसारमें इतना विस्तृत न हो जाता। अतः सहिष्णुतासे तपो-

लाभ और उससे दैवकृपा, भगवत् कृपा लाभ तथा अन्तमें तपस्याके फल रूपसे राज्यलाभ विधाताका अवश्यम्भावी विधान है। इन्हीं तीन विशेष कारणों को राजनैतिक जगच्चक्रकी गति कलियुग के इस अंशमें प्रजातन्त्रकी ओर चल रही है यही विचार तथा अनुभव सिद्ध सत्य जान पड़ता है।

जिस प्रकार प्रजातन्त्रकी ओर गति आजकल समस्त जगत्में हो रही है, यद्यपि प्राचीन हिन्दु-राज्यके समय ऐसी प्रजातन्त्र प्रथा नहीं थी, तथापि राज्यशासनमें प्रजामत और बहुमतका बड़ाही सम्मान था और प्रकारान्तरसे प्रजातन्त्र ही था। इसके उदाहरणके लिये बहुत दूर तक ढूँढ़ना नहीं पड़ेगा। आदर्श क्षत्रिय नरपति रामचन्द्रके राज्यतन्त्र पर विचार करनेसे ही—सिद्धान्त निर्णय हो जायगा। श्रीरामचन्द्रके राज्याभिषेकके समय महाराजा दशरथने प्रजाओंके भिन्न भिन्न पक्षोंकी सम्मति लेकर तब गुरु वशिष्ठसे अभिषेक कार्य कराया था। ऐसा रामायणमें लिखा है। श्रीरामचन्द्र अपने राज्यकालमें प्रजामतको कितना मानते थे सो रामायणके पत्र पत्रमें स्पष्ट है। यह उनके प्रजामतके माननेका ही पूर्ण निदर्शन था कि--बहुवार परीक्षा द्वारा संसारके सम्मुख सम्पूर्ण निर्दोषा प्रमाणित होने पर भी--परमसती सीताको केवल प्रजा-सन्तोषके लिये उन्होंने वनवास कराया था। प्रजामत माननेका एतादृश दृष्टान्त जगतके इतिहासमें अतीव दुर्लभ है। प्राचीन आर्यमतानुसार क्षत्रिय वर्णमेंसे ही नरपति हो सकते थे, अन्य वर्णोंमेंसे राजा नहीं हो सकते थे। इसका हेतु यह है कि, सत्वगुणमें क्रियाशक्तिका अभाव होनेसे सत्वगुणप्रधान ब्राह्मण वर्णमेंसे राजा नहीं हो सकते, तमोगुणमें प्रमाद अधिक होनेसे तमोगुणप्रधान शूद्रवर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते, वैश्यवर्णमें क्रियाशक्तिमूलक रजोगुण होनेपर भी उसकी प्रवृत्ति तमोगुणकी ओर है इस कारण वैश्य वर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते, केवल सत्वगुणकी ओर झुकते हुए रजोगुणके

युक्त क्षत्रिय वर्णमेंसे ही आर्यशास्त्रानुसार राजा हो सकते हैं। उनमें रजोगुणके कारण क्रियाशक्ति, युद्धशक्ति आदिका प्राचुर्य रहेगा और सत्वगुणके कारण धर्मभावका आधिक्य होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकर्म सञ्चालन हो सकेगा। इसी प्रकारसे राजतन्त्र-प्रणाली सञ्चालनका भार प्राचीन कालमें क्षत्रिय जातिपर था। किन्तु राजतन्त्र हो, प्रजातन्त्र हो, कोई भी तन्त्र स्वतन्त्र या निरङ्कुश नहीं था, दोनों ही तन्त्र धर्मतन्त्रके द्वारा नियमित था, जिससे राजतन्त्रकी स्वेच्छाचरिता तथा प्रजातन्त्रकी निरङ्कुशता किसीकी भी सम्भावना न थी; और उस धर्मतन्त्रकी व्यवस्थाका भार सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी त्यागी प्रजा दूरदर्शी महर्षियों पर था। निर्लोभ, अरण्यवासी, तपस्वी महर्षिगण समस्त प्रजाके प्रतिनिधि रूप होकर ज्ञानदृष्टि तथा धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार राज्यशासनकी प्रक्रिया क्षत्रिय नरपतिको बताया करते थे और इसी प्रकारसे धर्मतन्त्रके अधीन होकर नरपति प्रजामतके अनुसार राजतन्त्र चलाया करते थे। जहाँ पर कभी किसी राज्यके द्वारा धर्मतन्त्रकी अवमानना या अवहेलना होती थी, प्रजामतके प्रतिनिधि महर्षिगण उसी समय निरङ्कुश राजाको सावधानकर दिया करते थे। धर्मतन्त्रके पूर्णनाशकी आशङ्का देखने पर अन्यायी, अधार्मिक राजाको गद्दीसे उतारकर योग्य धार्मिक क्षत्रिय वीरको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करते थे। यही प्राचीन प्रथानुसार धर्मतन्त्र द्वारा राजतन्त्र और प्रजातन्त्रका सामञ्जस्य तथा क्षत्रिय नरपतिका धर्मानुकूल राज्यशासन व्यवस्था है। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि, प्राचीन कालमें राजतन्त्र-प्रथा प्रचलित रहनेपर भी वह वस्तुतः एक प्रकारसे प्रजातन्त्र ही था, जिसके निम्नलिखित लक्षणपर विचार किये जा सकते हैं।

(क) उस समय ग्राम ग्राम नगर नगरमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र पञ्चायतें थीं जिसका प्रमाण मध्ययुगके इतिहाससे भूरि भूरि मिल सकता है। (ख) धर्म परिषद्‌की व्यवस्थाकी दृढ़ आज्ञा स्मृति

शास्त्रमें है जिसके अनुसार उस राजकीय सभाके सभासद प्रजाओं-मेंसे चुने जाते थे। (ग) राजधर्म तथा प्रजाशासन प्रणालीके निर्णयमें राजा गण निरङ्कुश होने ही नहीं पाते थे, क्योंकि अरण्य वासी ज्ञानी तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा ये सब नियम बनाये जाते थे। जिससे पक्षपातकी कोई भी सम्भावना न थी जैसा कि आजकल बहुमतसे राजसभाओंमें होता है। ब्राह्मणगण निःस्वार्थता व्रतधारी तथा तपोधन होने के कारण और विशेषतः उनमें अन्तर्दृष्टि रहनेसे उनके सिद्धान्त पक्षपात रहित, सर्वजीवहितकारी और दूरदर्शितासे पूर्ण होते थे। अतः उस समय नवीन प्रजातन्त्र प्रणाली न रहने पर भी वस्तुतः वह प्रजातन्त्र ही थी, केवल उसमें विलक्षणता यह थी कि, उस प्रणाली में राजा प्रजा दोनों ही निरङ्कुश नहीं होने पाते थे। प्रजा राजाको सन्तति समझी जाती थी और राजा भगवानकी ओर से राजसम्पत्तिके रक्षक तथा आश्रयदाता समझते थे।

कालसे प्रभावसे अब इस प्रकार सर्व हितकर राजप्रणाली नष्ट-प्राय हो गई है। न ऐसे धर्मपरायणवीर क्षत्रिय नरपति ही रहे और न उस प्रकार धर्मतन्त्रकी सम्भावना ही रही। अब तो सर्वत्र अर्थ-कामका दोर्दण्ड प्रताप, स्वार्थपरता प्रजापीड़न, प्रजाका धनरत्न लुण्ठन, अविचार, अनाचार ही देखनेमें आरहा है। आर्यजाति स्वधर्म विद्वेषवह्निसे दग्ध होकर जब भारत साम्राज्यको खो बैठी थी, तब श्रीभगवान्ने आर्यजातिको स्वधर्मप्रेम शिक्षामें सहायता देनेके लिये स्वधर्मप्रेमी मुसलमान जाति पर भारत साम्राज्यका शासनभार सौंपा था। किन्तु कुछ वर्ष राज्य करनेके बाद औरङ्गजेब प्रमुख यवन नरपतियोंने आर्यजातिसे स्वधर्मप्रेम न रखकर जब आर्यधर्म-के मूलमें ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया तो भगवदिच्छाके विरुद्ध होनेसे भारतवर्षमेंसे मुसलमान राज्यका नाश हो गया। तदन्तर आर्यजातिमें स्वजाति-विद्वेष वह्निसे प्रबल देखकर श्रीभग-वान्ने आर्यजातिको स्वजातिप्रेम शिक्षामें सहायता देनेके लिये

स्वजाति प्रेमी अङ्गरेज जाति पर भारतका शासनभार सौंपा था। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतवासीको स्वजाति प्रेमकी शिक्षा नहीं मिली, उलटा हिन्दु जातिमें भ्रातृविरोध, अनैक्य, स्वजाति विद्वेषका बीज बोना प्रारम्भ हो गया है। अतः जिस उद्देश्यसे श्रीभगवान्ने उनको यहां पर भेजा था वह पूर्ण न हो सका। इधर ऊपर कथित तीनों कारणोंसे धर्मतन्त्रका नाश, तपस्याका नाश तथा सहनशील प्रजाओंमें दिन दिन तपोवृद्धि हो रहा है। अतः काल चक्रकी गति पर अनुन्धान कर देखनेसे यही अनुभवमें आता है कि, अब कलियुगके आगामी कुछ वर्षों तक संसारमें प्रजातन्त्रका ही ज़ोर रहेगा और इस प्रकारसे नानाजाति तथा राज्य का उत्थान पतन होते होते कलियुगके अन्तकालमें वही होगा जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवत्के १२ स्कन्धमें कहा है—

देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥

सूर्यवंशीय मरुराजा और चन्द्रवंशीय देवापि राजा अतीन्द्रिय योगशरीरमें कलापग्राममें निवास करते हुये अभीसे योग तथा तपस्याचरण कर रहे हैं। कलियुगके अन्तमें जब श्रीभगवान कल्किरूपमें ब्राह्मणवशमें अवतार धारण करेंगे और पापी म्लेच्छोंका नाश करके धर्मतन्त्रकी व्यवस्था करेंगे उस समय देवापि और मरु— कल्कि भगवान् की आज्ञानुसार आर्यजातिके अधिपति होकर भारतवर्षका शासनभार अपने हाथमें लेंगे और उसी समयसे पुनः वर्णाश्रमानुकूल धर्मानुकूल राजतन्त्रकी प्रतिष्ठा होगी। अतः हिन्दुजातिको वर्तमान राजनैतिक जगच्चक्रकी गतिके अनुसार आत्मरक्षा तथा यथुधार पूर्ण स्वाराज्य लाभके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और

श्रीभगवान् वेदव्यास कथित भावी शुभ समयकी शुभ उदय आकाङ्क्षासे आर्यशास्त्र सम्मत पवित्र वर्णाश्रम धर्मकी बीजरक्षा करनी चाहिये—यही दूरदर्शी मुनिगणका अकाट्य सिद्धान्त है।

भविष्यद्वाणीका अवश्यम्भावी फल जबतक भारतगगनमें नवोदित सूर्यकी तरह प्रकाशित नहीं होता है, तबतक आर्यजातिको पाश्चात्यराजनीति व्यवस्था तथा कौशलकाही आश्रय लेना पड़ेगा और ऐसा लेना अनेक कारणोंसे अपरिहार्य जान पड़ता है। पाश्चात्य राजनैतिक शैलीकी पर्यालोचना करनेसे तथा उस देशके इतिहासपर मनन करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि यद्यपि भारतकी सभ्यताने ही प्रथमावस्थामें समस्त पृथ्वीको सभ्यतालोकसे आलोकित किया था और यहांके आदर्शपर ही अन्य देशोंमें भी राजतन्त्रका प्रचार बना रहा था, परन्तु उत्तर कालमें उन उन देशोंकी सामाजिक उच्छृङ्खलताके कारण वहांकी राजतन्त्रप्रणाली धर्मतन्त्रच्युत होकर बहुत ही निरङ्कुशताको प्राप्त हो गई थी जिसका नमूना अभी कुछ दिन हुए रूसके जार (Czar) और तुर्कके सुलतानके राजचरित्रके देखनेसे ही प्रकट हो जाता है। एक ओरको निरङ्कुशताका यह आदर्श और दूसरी ओरके प्रजातन्त्रकी निरङ्कुशताका आदर्श वर्त्तमान यूरोपकी सार्वसामाजिक प्रजातन्त्र (Communionist republic) है। वस्तुतः यूरोपकी रोमन जातिको ही दोनों श्रेणियों की राजतन्त्र प्रणालीका शिक्षागुरु कह सकते हैं। वर्त्तमान समयमें निरङ्कुश राजतन्त्र प्रणालीका नाश भगवत् कृपासे पृथिवी भरके सभ्य समाजसे हो गया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु जितने प्रकारकी राजशासनप्रणाली पृथिवी भरमें प्रचलित है उनको तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम नियमित राजतन्त्रप्रणाली (Limited Monarchy) जिसका उदाहरण ब्रिटिश सम्राट् तथा जापान सम्राट् हैं। द्वितीय साधारण प्रजातन्त्रप्रणाली (Democratic Republic) जिसका उदाहरण फ्रान्स तथा यूनाइटेड्स्टेटस्

है और द्वितीय सार्वसामाजिक प्रजातन्त्रप्रणाली (Communionist) जिसका उदाहरण वर्त्तमान रूसकी प्रजातन्त्र प्रथा है। इन सभी प्रणालियोंमें यद्यपि निरङ्कुशता निवारणार्थ प्रजाकी ओरसे भी राजसभाएं चुनी जाती हैं यथा साधारण सभा और वृद्ध सभा किन्तु इस चुनावमें कुछ विशेषतः नहीं है क्योंकि वृद्ध सभाका चुनाव कहीं धनसम्पत्तिके विचार मात्रसे होता है जैसे इङ्गलण्डमें हाउस अफलार्डस। कहीं साधारण प्रजामतसे ही होता है और कहीं प्रथम सभाके सभ्य ही दूसरी सभाको चुन लेते हैं। जैसा कि फ्रान्स आदि देशोंमें होता है। दोनों ओरकी शक्तिका सामञ्जस्य दशाके लिये इस वृद्धसभाके संगठनमें और भी कुछ विशेषता होनी चाहिये और यह विशेषता उक्त वृद्धसभाके सभ्योंकी योग्यताके सम्बन्धसे होनी चाहिये। विद्वान् तथा प्राचीन राजनीतिकुशल नेतागण ही इसमें लिये जानेका नियम रहे तो और भी सावधानता होगी। आर्यजातिकी प्राचीन राजसभाके संगठनमें प्रवीणता, विद्या आदिका ही विचार रखनेका नियम था। मनुष्यकी उदास प्रवृत्ति स्वभावतः ही उसे नीचेकी ओर ले जाती है और यही कारण है कि जिस जातिके सामाजिक जीवनकी सुव्यवस्था नहीं है ऐसी जातियां या तो कालकवलमें कवलित हो जाती हैं या असभ्यताके अन्धकूपमें डूब जाती हैं। प्राचीन रोमन इजिप्सियन आदि पूर्वकथित जातियोंका इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वर्त्तमान राजनैतिक व्यवस्थाके संगठनमें पूर्वकथित दोनों सभाओंके अतिरिक्त एक तीसरी सभा और भी होनी चाहिये और ऐसा सभाका होना हमारे प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा दूरदर्शिताके अनुकूल होगा। राजा तथा मन्त्रि सभाके चुनावके द्वारा इस तीसरी सभाका संगठन होवे जिसमें सब धर्मावलम्बी प्रजाकी संख्याके अनुसार उक्त धर्म माननेवाले विद्वान् और स्वधर्मनिरत तपस्वी उदार धर्माचार्य या धर्मव्यवसायी ही चुने जायं और

जिनके चुननेमें विद्या, तप, उदारता, चरित्र, बल और भिन्न भिन्न धर्मके ज्ञानका विचार रक्खा जाय। सब बड़े बड़े विषयोंमें इनकी सम्मति ली जाय। विशेषतः सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी विषयोंमें इस सभाको हस्तक्षेप करनेका अधिकार रहे। इस प्रकारसे प्रजाओंकी सभा, वृद्ध राजनैतिकोंकी सभा और धार्मिक सभा इन तीन सभाओंका यथावत् संगठन होनेसे देश और प्रजाकी अधोगतिमें अवश्य ही बाधा होगी और कार्य भी अपेक्षाकृत ठीक चलेगा। यही इस समयके उपयोगी राजनैतिक व्यवस्थाका दिग्दर्शन है। नवीन भारतके इस परिणामशील समयमें प्रवीण पिता-पितामहकी दूरदर्शितासे लाभ उठाकर यदि हमारे राजनैतिक नेतागण कार्यक्षेत्रमें अग्रसर होंगे तो भारतवर्ष तथा समस्त संसारके लिये शान्ति और सुधारका सन्मार्ग अवश्य ही प्रकाशित होगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

धर्म जगत्।

राजनैतिक जगत् की तरह धर्मजगत्में भी आजकल बहुत ही आन्दोलन मचा हुआ है। इसका कारण क्या है। इस विषयमें विचार करने पर अनुसन्धित्सु जनसे अवश्य ही पता लगेगा कि केवल दो कारणोंसे धर्मजगत् में इतना कोलाहल तथा संघर्ष हो रहा है। एक-धर्मके नामसे अधर्माचरण और दूसरा सनातनधर्मके उदार, सर्वजन हितकर, सार्वभौम स्वरूपके विषयमें अज्ञान। अतः प्रवीण पूज्यपाद महर्षियोंके उपदेशानुसार संघर्षके इन दोनों हेतुओंके दूर करने पर धर्मजगत्का कोलाहल भी शान्त हो जायगा इसमें सन्देह नहीं है।

धर्मके व्याजसे अधर्माचरण केवल पापमय कलियुगके विपरीत स्वरूपका ही प्रताप है। इसीलिये आजकल अनेक धर्मस्थानोंमें, धर्मकर्ममें आश्रमादिके व्यवहारमें शास्त्रविरुद्ध, धर्मविरुद्ध आचरण देखे जाते हैं। आजकल जो अनेक तीर्थों में पुण्यके बदले पापाचार देखे जाते हैं, तीर्थगुरु नामधारी मनुष्यगण गुरु नामको भी अपने अन्यायाचरणसे कलङ्कित करते हैं, तीर्थोंमें पुण्यकार्य, तपस्या आदि द्वारा तीर्थमहिमाके सुरक्षित रहनेकी सम्भावना रहने पर भी-पुण्यकर्म, तपस्याके बदले पापकर्म और तपोनाशक विषय सेवाही तत्स्थानोंमें हुआ करती है, इसमें युगधर्म ही कारण है। इसी प्रकारसे देवमन्दिरोंमें, रामलीला, रासलीला आदि—धर्मोद्दीपक धर्मोत्सवोंमें, विवाहादि अनेक प्रकारके सामाजिक उत्सवोंमें तथा ब्रह्मचर्याश्रम, सन्यासाश्रम आदि तपोमूलक, धर्ममूलक आश्रमोंमें अनेक प्रकारके अनाचार, पापाचार, बीभत्स भाव, आश्रमविरुद्ध वैषयिक व्यवहार दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबके मूलमें भी युगधर्म ही मुख्यहेतु रूपसे जान पड़ता है। अतः इन सबके दूर करनेके अर्थ

देशकालोपयोगी उचित उपाय अवलम्बन करने पर धर्मजगत्‌में उत्पन्न प्रथम संघर्ष कथंचित् निरस्त हो सकेगा। इसमें पूर्व प्रबन्धमें वर्णित अनुशासनोंमेंसे आचार्यानुशासन तथा समाजानुशासन फलप्रद हो सकेगा और इन दोनोंसे भी काम न चलेगा। वहां राजानुशासन अर्थात् राजदण्डके द्वारा अधार्मिक प्रवाहसे रोकना पड़ेगा यही—आर्य जातिमें अवलम्बित प्रदर्शित चिरन्तन प्रथा है।

धर्मजगत्‌में कोलाहलका द्वितीय कारण सनातनधर्मके सर्वहितकर, उदार भावके विषयमें आर्यजनताका अज्ञान है। और इसी अज्ञनताके कारण ही भिन्न भिन्न सम्प्रदाय, पन्थ तथा धर्ममतावलम्बिगण परस्पर विवाद, संघर्ष तथा रागद्वेष जन्य संग्राम द्वारा अपनी और अन्य मतावलम्बियोंकी हानि करते हैं। दृष्टान्त रूपसे शाक्त, शैवादि पञ्च साम्प्रदायिक उपासनाओंको समझ सकते हैं। इन सम्प्रदायोंमें इसलिये कोलाहल मचे रहते हैं कि, इनके मतावलम्बिगण अपने अपने इष्टोंको दूसरेके इष्टोंसे बड़ा मानकर दूसरोंको तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं और इसी तरहसे झगड़ा मचता है। किन्तु वास्तविक तथ्य यह नहीं है। क्योंकि पञ्चोपासनोक्त विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति ये पांच ही सगुण ब्रह्म ईश्वर है; इसलिये कोई किसीसे छोटे या बड़े नहीं हैं। पञ्चतत्वोंसे जीव प्रकृतिके उत्पन्न होनेके कारण तथा प्रत्येक प्रकृतिमें पांच तत्वोंमेंसे किसी न किसी मतके प्राधान्य रहनेके कारण उपासकको रुचि मत भेदानुसार भिन्न भिन्न होती है यथा जिस उपासकमें आकाश तत्वकी प्रधानता है उसकी रुचि जिस मूर्त्तिध्यानमें होगी, अग्नितत्व प्रधान प्रकृति युक्त उपासकमें उस मूर्त्तिध्यानमें कदापि रुचि नहीं होगी। इसी प्रकार प्रत्येक तत्वकी प्रधानताके अनुसार रुचि भी भिन्न भिन्न होगी। यही कारण है कि पूज्यपाद महर्षियोंने जीवप्रकृति की भिन्नताको देखकर तत्व भेदानुसार उपासना भेद बताया है और एकही ईश्वरकी पञ्च प्रकार उपासनाका विधान ही किया है यथा कपिलतन्त्रमें—

नभसोऽधिपतिर्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

आकाशतत्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नितत्वके अधिपति महेश्वरी दुर्गा हैं, वायुतत्वके अधिपति सूर्य हैं, पृथिवीतत्वके अधिपति शिव हैं और जलतत्वके अधिपति गणेश हैं। ये पाँच देवता नहीं हैं, किन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वर ही हैं, केवल तत्वभेदानुसार मूर्तिभेद हैं, इसलिये कोई किसीसे छोटे या बड़े नहीं हैं। जिस उपासककी जैसी प्रकृति प्रवृत्ति हो, वह इसीके अनुसार इन पांचोंमेंसे किसीकी भी उपासना कर सकता है। उसके लिये अपना इष्ट परब्रह्म परमात्मा है और बाकी सब अपने इष्टकी ही विभूति होनेसे पूज्य तथा सेव्य है। इस प्रकार विचार बुद्धिके अनुसार कार्य होनेसे सम्प्रदायोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता। किन्तु सनातनधर्मके उपासना तत्वको इस निर्मूल रहस्यसे न समझकर वृथा ही लोग कोलाहल मचाते रहते हैं। अतः आचार्यानुशासन तथा वेदानुशासन द्वारा यथार्थ ज्ञानका जितना प्रचार होगा उतना ही धर्मजगतमें इस प्रकारका कोलाहल दूर हो सकेगा इसमें सन्देह नहीं है।

पूर्वलिखित दृष्टान्तसे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि, धर्मजगत्में इतने सम्प्रदाय, पन्थ तथा धर्ममतोंकी उत्पत्ति केवल प्रकृति, अधिकार तथा आध्यात्मिक स्थितिके वैचित्र्यके अनुसार ही होती है। "जिसको बड़ा समझे या जिसमें कुछ अलौकिक भाव देखे" उसकी पूजा करना मानवप्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है। इसी विचारके अनुसार जिस जातिकी या मानवसङ्घकी दृष्टि जहां तक अलौकिक राज्यमें पहुंचती है, उपासनाके प्रकार भी उसके लिये ऐसा ही होता है। असभ्य जङ्गली लोग सूक्ष्म राज्यमें कुछ भी प्रवेशाधिकार नहीं रखते हैं। इसलिये वे उनके स्थूल संसारसे उन्नत अदृश्य हुए, उनसे विभिन्न प्रकारके शरीरधारी तथा कुछ

अधिक शक्ति सम्पन्न भूत प्रेतको ही बड़ा मानकर उनकी पूजा करते हैं। यहाँ पर प्रेतोपासनाका अधिकार है, प्रेत ही इष्ट हैं। भील, कोल आदि जङ्गली लोग प्रेतोपासक होते हैं। तदनन्तर बुद्धि जब और कुछ उन्नत होती है तो प्रेत लोकसे पितृ लोक तक पहुंचती है और "हमारे पूर्वज पितृलोकमें पहुंचे हैं उनकी शक्ति महान् अलौकिक है" ऐसी बुद्धि इस अधिकारमें उत्पन्न होकर जातिको नैमित्तिक पितरोंकी उपासक बनाती है। जापान आदि देशोंमें इस प्रकार पितृ पूजाका अधिकार है। तदनन्तर बुद्धि जब और भी कुछ सूक्ष्मताको प्राप्त करती है तो अलौकिक तथा सूक्ष्म होनेपर भी केवल नैमित्तिक शक्तिकी पूजासे चित्त नहीं भरता है। तब नित्य दिव्यशक्तियोंकी उपासनाका अधिकार समझना चाहिये। इसी अधिकारमें पितर, देवता तथा ऋषियोंकी उपासना होती है और तरह तरहकी वासना तथा शक्ति सुख सम्पत्ति लाभकी आकाङ्क्षाके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य ऋषियोंकी, देवताओंकी तथा पितरोंकी उपासना करते हैं। अतः वासनामय मध्यम उपासनाका यही अधिकार जानना चाहिये। तदनन्तर संसारका अनित्यतापूर्ण दुःखमय स्वरूप समझकर मनुष्य नित्य सत्य सुखकी ओर अपने अन्तःकरणको जितना झुकाया जाता है उतना ही नित्यसत्यसुख स्वरूप परमात्माकी उपासनाका अधिकार मनुष्यको प्राप्त होने लगता है और इसमें बुद्धिकी सूक्ष्मताके तारतम्यानुसार प्रथमतः परमात्माके लीला विग्रहरूपी अवतारकी उपासनामें, द्वितीयतः मायाके सञ्चालक ईश्वर मायमय पञ्चमूर्त्तिकी उपासनामें और अन्ततः मायासे परे प्रपञ्चमय विश्वसे बाहर विराजमान् निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें साधकका अन्तःकरण तल्लीन हो जाता है। इस अन्तिम अधिकारमें ही उपासनाकी परिसमाप्ति और स्वरूपकी उपलब्धि है। अतः सिद्धान्त हुआ कि अधिकार, प्रकृति प्रवृत्ति भेदानुसार उदार सनातनधर्मके भीतर आत्मोन्नतिके

लिये सभी प्रकारके उपकरण भरे हुए हैं। केवल अपनी प्रकृति तथा अधिकारको समझकर दूसरेका बुद्धिभेदको न करते हुए गुरुनिर्दिष्ट यथानुसार आत्मोन्नति सम्पादनमें प्रवृत्त रहनेसे ही कल्याण प्राप्त हो सकता है। धर्मजगत्में आजकल जो इतना कोलाहल मचता है सो अपना तथा दूसरेका अधिकार न समझकर ईर्ष्याद्वेष तथा बुद्धिभेदमें प्रवृत्त होनेका ही कुपरिणाम रूप है। इसी प्रकारसे उपासना मार्गकी तरह ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गमें भी त्रिगुणभेद, सकाम निष्कामभेद, प्रकृति प्रवृत्तिभेद आदि बहुभेदानुसार बहुप्रकारके उन्नतिपथ निर्देश किये गये हैं। ये सब सनातनधर्मके भूषण हैं। इसमें अति अधम अधिकारीसे लेकर अति उन्नत अधिकारी तकके कल्याणके लिये उचित उपाय मिलते हैं। अतः सनातनधर्मके इस उदार सर्वजीव हितकर सार्वभौम स्वरूपको मनुष्य जितना जितना समझेगा उतनी ही धर्मजगत्में अशान्ति दूर होकर यथार्थ शान्ति प्रतिष्ठित हो सकेगी यही पूज्यपाद दूरदर्शी प्रवीण महर्षियोंका सिद्धान्त है।

केवल आर्य धर्मके अन्तर्गत ही भिन्न भिन्न सम्प्रदाय या पन्थ नहीं, अधिकन्तु संसार भरके सभी धर्म मतोंके मौलिक रहस्यों पर विचार करनेसे यही प्रतीत होगा कि इसी सनातन धर्मरूपी कल्पतरु की किसी शाखा या प्रशाखाकी छायाके आश्रयसे बनते हैं और तदनुसार ही इनके द्वारा धर्मके अन्तिम लक्ष्यरूप मुक्तिभूमिमें परम्परा रूपसे जीवोंकी गति होती है। जिस प्रकार समस्त नदियोंकी गति सरल या वक्र होने पर भी समुद्र ही सबका अन्तिम लक्ष्य है, ठीक उसी प्रकार सभी धर्ममत अद्वितीय परमात्मा की ओर ही मुमुक्षुको ले जाते हैं। पथ भिन्न भिन्न है और गतिके दूरत्व तथा कठिनाईमें पार्थक्य हो सकता है, परन्तु लक्ष्य सभीका एक है इसमें सन्देह नहीं। यह लक्ष्य जब तक मनुष्य देहात्मवाद भूमिमें रहता है तब तक उसके अन्तःकरणमें प्रकट नहीं हो सकता है, क्योंकि जहाँ अविद्याकी घनी

घटा छाई है वहाँ पर ज्ञानसूर्यका प्रकाश होना सम्भव नहीं; परन्तु देहात्मवाद भूमिसे थोड़ा अग्रसर होकर आत्माको स्थूल शरीरसे पृथक् माननेका अधिकार प्राप्त होते ही आत्माकी ओर निज निज अधिकारानुसार जीवका लक्ष्य स्वयं ही प्रकट होने लगता है और तब वह धीरे धीरे जानने लगता है कि 'आत्मा-स्थूल शरीर नहीं है, उससे कुछ अतिरिक्त वस्तु है अर्थात् जिस प्रकार चने या चावलके दानेके ऊपर छिल्के होते हैं, उसी प्रकार चेतन आत्माके ऊपर शरीरोंकी उपाधिमात्र है, आत्मा उनसे सम्पूर्ण पृथक् वस्तु है। उसी समय जीवोंमें आत्माके जाननेके लिये इच्छा उत्पन्न होती है और बाहर के विषयों में अनेक मतभेद तथा अधिकार भेद रहने पर भी सबके भीतर विराजमान तथा सबके लक्ष्यभूत परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीव उद्योग करना प्रारम्भ करता है।

सनातनधर्म सब धर्मोंका पितृस्थानीय है। इसीके अङ्गोपाङ्ग तथा शाखा प्रशाखाके आश्रयसे संसारके सभी धर्ममत उत्पन्न हुए हैं इसलिये सभीके सिद्धान्त सनातनधर्मके भीतर पाये जाते हैं। जिस प्रकार मूलवृक्षमें जो उपादान रहता है, उसीका विस्तार शाखा-प्रशाखाओंमें हो जाता है, उसी प्रकार सनातनधर्मके अनन्त अधिकारानुसार अनन्त सिद्धान्तोंका सन्निवेश किसी न किसी रूपसे सभी धर्ममतोंके भीतर प्राप्त होता है अतः न इसका किसी धर्ममतसे विरोध है और न किसी धर्ममतमें इसके साथ विरोध करनेका अवसर ही है। अब नीचे कुछ धर्ममतोंके सिद्धान्तोंका उल्लेख करके सनातनधर्मके सिद्धान्तोंके साथ उनका सामञ्जस्य बताया जाता है।

ईसाई धर्ममत, यहूदी धर्ममत तथा मुसलमान धर्ममतोंमें ईश्वर को निराकार कहने पर भी उनके अनेक क्रियाकलाप बताये गये हैं, यथा-वे सृष्टि स्थिति प्रलय करते हैं, पाप पुण्यकर्मानुसार जीवोंको स्वर्ग या नरक प्राप्त कराते हैं इत्यादि इत्यादि। विचार करने पर पता लगेगा कि हिन्दूधर्मके भीतर इन सभी सिद्धान्तोंका समावेश

किया गया है। पर पाप पुण्यकी विचारकर्त्री ईश्वरीयशक्तिको यमराज कहा गया है। सृष्टिकर्त्री ईश्वरीयशक्तिको ब्रह्मा, स्थितिकारिणी ईश्वरीयशक्तिको विष्णु और प्रलयकारिणी ईश्वरीयशक्तिको रुद्र कहा गया है। इसी प्रकारसे उपासना मार्गमें सहायता प्रदानार्थ अन्य धर्ममतोंकी तरह सनातनधर्ममें भी ब्रह्महईश. विराट्की पूजाके निमित्त कल्पनाकी गई है। धर्मकल्पद्रुमके ७२ शाखायुक्त स्वरूपका जो वर्णन आर्यशास्त्रमें मिलता है, उसमेंसे ईसाईधर्म और मुसलमान धर्मकी ईश्वरोपासनाको तामसिक ब्रह्मोपासना करके मान सकते हैं; क्योंकि इन दोनों धर्ममतोंका ईश्वरज्ञान सनातनधर्मके ब्रह्म ईश्वर और विराट्के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षणसे कुछ भी मिलने· पर भी निराकर, सर्वव्यापक आदि रूपोंका कुछ कुछ अनुभव उनके शास्त्रमें पाया जाता है। एक दिनमें सब जीवोंके पाप पुण्यके विचार की जो कल्पना तथा ईश्वरके द्वारा विचार करनेकी जो भावना उनके शास्त्रोंमें मिलती है सनातनधर्मके अनुसार वह अधिकार यमराजका कहा गया है। भेद इतना ही है कि सनातनधर्मके यमराज प्रत्येक मनुष्यके पाप पुण्यका विचार उसके प्रत्येक जन्मके अन्तमें किया करते हैं और इन मतोंमें विचार सबका एकबार ही होता है। इसमें केवल विचारकी असम्पूर्णता है, मतभेद कुछ भी नहीं है।

बौद्धधर्म्म तथा जैनधर्मके ऊपर सनातनधर्मने ऐसी उदार दृष्टि की है कि उनके प्रवर्तक बुद्धदेव तथा ऋषभदेवको श्रीभगवान्के अवतार कहकर उनकी पूजा की है। अवतारका विज्ञान जैसा इन धर्ममतोंने वर्णन किया है वैसा हिन्दुधर्ममें भी मिलता है। केवल बौद्ध तथा जैनाचार्योंने अवतारको पूर्णमानव कहा है और आर्यशास्त्र में उनको साक्षात् ब्रह्मा विष्णु शिवरूपी त्रिमूर्त्तिमेंसे विष्णु और शिवशक्तिका रूप बताकर अवतारतत्त्वको गंभीर महिमाको और भी परिस्फुट कर दिया गया है। सनातनधर्ममें श्रीभगवान्का अवतार अथवा देवता और ऋषियोंके अवतारोंका जो विस्तृत

वर्णन किया गया है उस प्रकार पूर्ण विज्ञान यद्यपि जैन और बौद्धमत के ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है, परन्तु पूर्वकथित ७२ अङ्गोंमेंसे लीलाविग्रहोपासनाके राजसिक और तामसिक स्वरूपका सादृश्य इन मतोंके तीर्थङ्कर और बुद्ध शब्दके साथ पाया जाता है, इसमें सन्देह नहीं। ये धर्ममत अपने अपने धर्मप्रवर्त्तकोंको पूर्ण मनुष्यरूपसे मानकर ईश्वरतत्वका यथार्थ स्वरूप न समझने पर भी इनके अवतारतत्वके रूपान्तरसे माननेवाले हैं इसमें सन्देह नहीं। अतः लीलाविग्रहोपासनाके विचारसे ये दोनों मत सनातनधर्मके ही अनुगामी हैं यह कहना ही पड़ेगा।

कर्मका विज्ञान जैसा कि आर्यशास्त्रमें बताया गया है वैसा बौद्ध और जैनधर्ममतोंमें भी पाया जाता है। केवल हिन्दूधर्ममें इस विज्ञान का बहुत विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। देवजगत्पर विश्वास के विषयमें भी इन दोनोंके साथ मतकी एकता देखी जाती है। मन्त्र-हठ-लय-राजरूपी योगचतुष्टयके क्रियासिद्धांशको भी इन मतोंके आचार्योंने अक्षरशः मान लिया है। बौद्धधर्मके ज्ञानकाण्डके साथ आर्यशास्त्रकथित सप्त ज्ञानभूमियोंकी बहुधा एकता देखी जाती है। केवल चार वर्ण और चार आश्रमके धर्मके विषयमें ही हिन्दूधर्मके साथ इन धर्ममतोंका कुछ मौलिक पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है सो यह सबं पर ही प्रकट है कि वर्णाश्रम धर्म हिन्दूजातिका एक ऐसा विशेष अधिकार है जो पृथिवीके और किसी धर्ममत या पन्थमें हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक लक्ष्ययुक्त हिन्दूजातिके इस वर्णाश्रम धर्मशैलीका अनुकरण और कोई नवीन जाति कर ही नहीं सकती और न इससे लाभ उठा सकती है इस कारण वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धसे जो पार्थक्य है वह पार्थक्य विशेष पार्थक्य है। उसकी गणना साधारणतः नहीं होनी चाहिये।

उपासनाराज्यमें आर्यधर्मने जो अपूर्व उदारता दिखाई है उसको देखकर कौन निष्पक्षपात मनुष्य चकित नहीं होगा? आर्यशास्त्रोंमें

अधिकार भेदानुसार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्थूल वस्तुओंकी पूजा से लेकर वृक्षपूजा, सर्पपूजा, प्रेतपूजा, मृत आत्माकी पूजा, वीर पुरुषोंकी पूजा, पिशाच यक्ष रक्ष गन्धर्वादिकी पूजा और तदनन्तर देव पूजा, ऋषिपूजा, पितृपूजा, अवतारपूजा, विष्णु शिवादि सगुण ब्रह्मपूजा और अन्तमें अद्वितीय नामरूपरहित निर्गुण ब्रह्मपूजा— इस प्रकारसे सभी अधिकारकी पूजापद्धति बताई गई है। इसमें संसारके सभी धर्ममत अपने अपने अधिकारानुसार उपासनाके विषय अन्तर्भूत देख सकते हैं।

भगवद्भक्तिके विषयमें हिन्दूशास्त्रमें जो अपूर्व वर्णन मिलता है उसके साथ ईसाई तथा मुसलमान धर्ममतोंके अवलम्बिगण भक्ति-सम्बन्धीय अपने अपने सिद्धान्तोंकी सम्पूर्ण एकता देख सकेंगे। इसी प्रकार परलोक तथा पुनर्जन्मके विषयमें भी बौद्ध, जैन तथा पारसी धर्ममतोंकी हिन्दूधर्मके साथ वैज्ञानिक एकता देखी जायगी।

पापी स्पिरिटके साथ जो पुण्यमय स्पिरिटका चिरविरोध पारसी धर्म, ईसाईधर्म, यहूदीधर्म तथा मुसलमानधर्म आदि धर्ममतोंमें वर्णित देखा जाता है उसका अति विस्तृत तथा विज्ञानानुकूल वर्णन स्थूल सूक्ष्म कारण जगत्में देवासुरोंके नित्य-संग्राम-वर्णन रूपसे हिन्दूशास्त्रमें भलीभाँति प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वर्ग और नरकके भी अनेक वर्णन दैवजगत्के वर्णन प्रसङ्गमें उन्नति तथा अवनतिके नाना स्तरवर्णन विचारसे हिन्दूशास्त्रमें पाये जाते हैं। पुण्यका पुरस्कार तथा पापका भीषण शासन जैसा कि ईश्वरीय विचार दिनके रूपसे अन्यान्य धर्ममतोंमें वर्णित है, वैसा और उससे भी बहुत अधिक तथा विस्तृत रूपसे हिन्दूशास्त्रमें भी पाया जाता है। जिन जिन धर्ममतोंमें पुनर्जन्म नहीं माना गया है उनमें सब आत्माओंके लिये मृत्युके बाद एक विचारका दिन बताया गया है। इसी संकुचित सिद्धांतका वैज्ञानिक विस्तारित वर्णन आर्य शास्त्रमें किया गया है जिसके अनुसार जीवको मृत्युके अनन्तर शुभाशुभ

प्राक्तन योगसे अनेक उन्नत तथा अवनत कोशोंमें सुख दुःख भोगके लिये जाना पड़ता है।

इस प्रकारसे अन्यान्य धर्ममतोंके साथ हिन्दूधर्मके अनेक वैज्ञानिक विषयोंकी एकता देखनेमें आती है। केवल आचार और वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धमें ही हिन्दूधर्ममें कुछ विशेषता पायी जाती हैं, जो उन सब धर्ममतोंमें नहीं देखनेमें आती। इसी कारण वर्णाश्रम धर्मको विशेषधर्म करके हिन्दूशास्त्रमें बताया गया गया है। यद्यपि अन्यान्य धर्ममतोंमें भी अपनी अपनी रीतिके अनुसार कुछ कुछ आचारके लक्षण तथा खानपान, विवाह और जीवनकी अवस्था विभागके रूपमें वर्णाश्रमके भी लक्षण देखनेमें आते हैं, तथापि अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण सामाजिक जीवनके सर्वमान्य नियम तथा रीतियोंके साथ उनका अभी तक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि जिस उदार और पूर्ण दृष्टिके साथ अति स्थूलसे लेकर अति सूक्ष्म तकका सामञ्जस्य तथा परस्परापेक्षत्वका विज्ञान अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महर्षियोंने अनुभव किया था, वैसा अनुभव अभीतक अन्यान्य देशोंमें तथा धर्ममतोंमें नहीं हुआ है। आचारका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ है। धर्मानुकूल स्थूल शरीरके उन्नति कर व्यापारको ही आचार कहते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीरका विस्तारमात्र होनेसे सूक्ष्मशरीरकी उन्नतिके लिये स्थूल शरीरको पवित्र रखना और उसके अर्थ आचार पालन करना अवश्य ही उचित है। उसी प्रकार वर्णाश्रमधर्मका सम्बन्ध दैवजगत्के साथ बहुत कुछ रहता है। जीवप्राकनानुसार देवताओंकी प्रेरणाके द्वाराही भिन्न भिन्न जातिमें जीवोंका जन्म होता है और तदनुसार चार आश्रमोंका पूर्ण या अपूर्ण पालन जीव कर सकता है। दैवजगत् अति दुर्ज्ञेय है। बिना सूक्ष्म योगदृष्टिके कोई भी उसका पता नहीं लगा सकता है। प्राचीन आर्य महर्षिगणने योगशक्तिके द्वारा स्थूल जगत्, सूक्ष्मजगत्

आध्यात्मिक जगत् तथा दैवजगत्का पता लगाकर और उनमें परस्परके साथ क्या नित्य सम्बन्ध विद्यमान है इसको भी अनुभव करके तीनों शरीरोंके द्वारा आत्मोन्नतिमें सहायता लाभार्थ आचार और वर्णाश्रमधर्मका विधान किया है। अन्यान्य धर्ममतोंकी उत्पत्ति जिन देशकालोंमें हुई है या जिन लक्ष्योंको लेकर उनके नियमादि प्रवर्त्तित किये हैं उनमें आर्यमहर्षियोंकी तरह सब ओर देखनेका अवसर नहीं हुआ है। यही कारण है कि वर्णाश्रमधर्म तथा आचारके विषयमें अन्यान्य धर्ममतोंके साथ मतभेद पाये जाते हैं; तथापि इस प्रकारकी विधियाँ लक्ष्यसिद्धिके अवान्तर साधनमात्र हैं। लक्ष्य सभीका एक होनेसे विशेषधर्मराज्यमें इस प्रकारकी विभिन्नता हानिकारक नहीं हो सकती। जिस प्रकार भूमियोंकी उच्चताका तारतम्य, उपत्यका अधित्यका आदिका भेद, वृक्षोंकी छोटाई बड़ाई, नदी समुद्र हृद आदिका पार्थक्य, पृथिवीके ऊपर चलते हुए ही दिखाई दे सकते हैं, किन्तु अति उच्च पर्वतशृङ्गपर आरोहण करनेसे अथवा व्योमयानपर चढ़कर शून्य मार्गमें बहुत ऊंचा चढ़नेसे ऊपर लिखित कोई भी पार्थक्य नहीं दिखाई देते, ठीक उसी प्रकार उच्च ज्ञानभूमिपर प्रतिष्ठित उदार महात्माकी दृष्टिमें धर्ममतोंके साधारण पार्थक्य अकिञ्चित्कर ही हैं और इसी उदार दृष्टिके साथ संसारके समस्त धर्ममतोंको प्रेममय अङ्कमें आश्रय देना ही सनातनधर्मका यथार्थ स्वरूप है।

अन्तिम लक्ष्यके एक होनेसे सत्यप्रयासी सभी साधक सत्यराज्यमें साधनाकी सभी बातें अभिन्नरूपसे ही प्राप्त करते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मुसलमान महात्माओंने भक्तिकी जो ११ दशाएं बताई हैं आर्यशास्त्रवर्णित भक्तिलक्षणोंके साथ उनका पूरा सामञ्जस्य दिखाई देता है। वे ११ दशाएं निम्नलिखित रूप हैं—

(१) मवाफिकत—इस अवस्थामें आत्मा, वैषयिक अनात्मभावोंसे हट कर श्रीभगवान्के भक्तोंके साथ अनुरागमें बद्ध होता है।

प्राक्तन योगसे अनेक उन्नत तथा अवनत लोकोंमें सुख दुःख भोगके लिये जाना पड़ता है।

इस प्रकारसे अन्यान्य धर्ममतोंके साथ हिन्दूधर्मके अनेक वैज्ञानिक विषयोंकी एकता देखनेमें आती है। केवल आचार और वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धमें ही हिन्दूधर्ममें कुछ विशेषता पायी जाती है, जो उन सब धर्ममतोंमें नहीं देखनेमें आती। इसी कारण वर्णाश्रम धर्मको विशेषधर्म करके हिन्दूशास्त्रमें बताया गया गया है। यद्यपि अन्यान्य धर्ममतोंमें भी अपनी अपनी रीतिके अनुसार कुछ कुछ आचारके लक्षण तथा खानपान, विवाह और जीवनकी अवस्था विभागके रूपसे वर्णाश्रमके भी लक्षण देखनेमें आते हैं, तथापि अत्यन्त स्पष्ट होनेके कारण सामाजिक जीवनके सर्वमान्य नियम तथा रीतियोंके साथ उनका अभी तक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ है। इसका प्रधान कारण यह है कि जिस उदार और पूर्ण दृष्टिके साथ अति स्थूलसे लेकर अति सूक्ष्म तकका सामञ्जस्य तथा परस्परापेक्षत्वका विज्ञान अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महर्षियोंने अनुभव किया था, वैसा अनुभव अभीतक अन्यान्य देशोंमें तथा धर्ममतोंमें नहीं हुआ है। आचारका सम्बन्ध स्थूल-शरीरके साथ है। धर्मानुकूल स्थूल शरीरके उन्नति कर व्यापारको ही आचार कहते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीरका विस्तारमात्र होनेसे सूक्ष्मशरीरकी उन्नतिके लिये स्थूल शरीरको पवित्र रखना और उसके अर्थ आचार पालन करना अवश्य ही उचित है। उसी प्रकार वर्णाश्रमधर्मका सम्बन्ध दैवजगत्के साथ बहुत कुछ रहता है। जीव-भावनानुसार देवताओंकी प्रेरणाके द्वाराही भिन्न भिन्न जातिमें जीवोंका जन्म होता है और तदनुसार चार आश्रमोंका पूर्ण वा अपूर्ण पालन जीव कर सकता है। दैवजगत् अति दुर्ज्ञेय है। बिना सूक्ष्म योगदृष्टिके कोई भी उसका पता नहीं लगा सकता है। प्राचीन आर्य महर्षिगणने योगशक्तिके द्वारा स्थूल जगत्, सूक्ष्मजगत्

आध्यात्मिक जगत् तथा दैवजगत्का पता लगाकर और उनमें परस्परके साथ क्या नित्य सम्बन्ध विद्यमान है इसको भी अनुभव करके तीनों शरीरोंके द्वारा आत्मोन्नतिमें सहायता लाभार्थ आचार और वर्णाश्रमधर्मका विधान किया है। अन्यान्य धर्ममतोंकी उत्पत्ति जिन देशकालोंमें हुई है या जिन लक्ष्योंको लेकर उनके नियमादि प्रवर्त्तित किये हैं उनमें आर्यमहर्षियोंकी तरह सब ओर देखनेका अवसर नहीं हुआ है। यही कारण है कि वर्णाश्रमधर्म तथा आचारके विषयमें अन्यान्य धर्ममतोंके साथ मतभेद पाये जाते हैं; तथापि इस प्रकारकी विधियाँ लक्ष्यसिद्धिके अवान्तर साधनमात्र हैं। लक्ष्य सभीका एक होनेसे विशेषधर्मराज्यमें इस प्रकारकी विभिन्नता हानिकारक नहीं हो सकती। जिस प्रकार भूमियोंकी उच्चताका तारतम्य, उपत्यका अधित्यका आदिका भेद, वृक्षोंकी छोटाई बड़ाई, नदी समुद्र ह्रद आदिका पार्थक्य, पृथिवीके ऊपर चलते हुए ही दिखाई दे सकते हैं, किन्तु अति उच्च पर्वतशृङ्गपर आरोहण करनेसे अथवा व्योमयानपर चढ़कर शून्य मार्गमें बहुत ऊंचा चढ़नेसे ऊपर लिखित कोई भी पार्थक्य नहीं दिखाई देते, ठीक उसी प्रकार उच्च ज्ञानभूमिपर प्रतिष्ठित उदार महात्माकी दृष्टिमें धर्ममतोंके साधारण पार्थक्य अकिञ्चित्कर हो हैं और इसी उदार दृष्टिके साथ संसारके समस्त धर्ममतोंको प्रेममय अङ्कमें आश्रय देना ही सनातनधर्मका यथार्थ स्वरूप है।

अन्तिम लक्ष्यके एक होनेसे सत्यप्रयासी सभी साधक सत्यराज्यमें साधनाकी सभी बातें अभिन्नरूपसे ही प्राप्त करते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मुसलमान महात्माओंने भक्तिको जो ११ दशायें बताई हैं आर्यशास्त्रवर्णित भक्तिलक्षणोंके साथ उनका पूरा सामञ्जस्य दिखाई देता है। वे ११ दशायें निम्नलिखित रूप हैं—

(१) मवाफिकत—इस अवस्थामें आत्मा, वैषयिक अनात्मभावोंसे हट कर श्रीभगवान्के भक्तोंके साथ अनुरागमें बद्ध होता है।

(२) मेल—इस अवस्थामें भक्तका चित्त भगवद्भावमें ही आसक्त हो जाता है और सांसारिक विषयोंके प्रति घृणा करने लगता है।

(३) मयानिसत्—इस अवस्थामें भगवान्के लिये भक्तके चित्तमें तीव्र आकांक्षा हो जाती है और वह वैषयिक वस्तुओंको क्रमशः छोड़ देता है।

(४) मवद्दत्—इस अवस्थामें एकान्तमें प्रार्थना द्वारा भक्तहृदय पवित्र होकर भगवान्के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

(५) हवा—इस अवस्थामें भक्तका हृदय सदा ही भगद्भावमें रति रखता है।

(६) सुह्रत—इस अवस्थामें भक्त का अन्तःकरण भगवान्के प्रति प्रेमसे पूर्ण हो जाता है और उसमें भगवच्चिन्ताके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता है।

(७) मुहब्बत—इस अवस्थामें भक्तका हृदय समस्त वैषयिक दोषोंसे मुक्त होकर उन्नत आध्यात्मिक गुणोंसे पूर्ण हो जाता है।

(८) शगफ—इस अवस्थामें हृदयका समस्त आवरण उन्मुक्त हो जाता है और प्रपञ्चका सभी विषय पाप करके जान पड़ता है।

(९) हैम्—इस अवस्थामें भक्त प्रियभगवान्के प्रेममें उन्मत्त हो जाता है।

(१०) वेल—इस अवस्थामें प्रियभगवान्की माधुरी भक्तहृदय-दर्पणमें अनुक्षण प्रतिफलित रहा करती है और भक्त इसी मधुर रसमें निमग्न हो जाता है।

(११) इश्क—यही अन्तिम अवस्था है इसमें भक्त अपनेको भूलकर भगद्भावमें ही तन्मय हो जाता है और उसीमें शान्तिमय परमानन्दमय विश्राम लाभ करता है। विचार करने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि आर्य शास्त्रकथित वैधी और रागात्मिका दशाकी भक्ति जिसका वर्णन धर्मकल्पद्रुमके तृतीय खण्डमें किया

गया है उसके साथ ऊपर लिखित ग्यारह अवस्थाकी अनेक विषयोंमें एकता है।

इसी प्रकार आर्यशास्त्रोक्त सप्त ज्ञानभूमियोंके साथ मुसलमान महात्माओंके द्वारा कथित आध्यात्मिक उन्नतिकी पांच अवस्थाओंकी अनेकांशमें तुलना हो सकती है। वे पांच अवस्था निम्नलिखित रूपहैं—

(१) आलम्—ए—नासूत्—यह अवस्था है जिसमें जीव वैषयिक वासनाओंके द्वारा बद्ध रहता है।

(२) आलम्—ए—मालकूट—वह अवस्था है जिसमें जीव परमात्माकी चिन्ता और साधनमें प्रवृत्त रहता है।

(३) आलम्—ए—जावरूट—वह अवस्था है जिसमें आत्माको कुछ कुछ ज्ञान होने लग जाय।

(४) आलम्—ए—लोहूट—वह अवस्था है जिसमें आत्मज्ञानका विशेष विकाश हो।

(५) आलम्—ए—हाहूट—वह अवस्था है जिसमें साधक आत्माको जानकर परमात्मामें निमग्न हो जाय।

जीव ब्रह्मकी एकताका आभास कहीं कहीं कुरानकी कविताओंमें भी मिलता है यथा—"मैं तुम्हारे साथ हूँ, तथापि तुम मुझे नहीं देखते हो?" "मैं जीवोंमें गुप्ततत्त्व हूँ और जीव भी वैसे ही मुझमें।" जब सुफी लोग इस तत्त्वको जान लेते हैं तब समस्त संसारमें सिवाय उनके प्रिय भगवान्के और उन्हें कुछ नहीं दीखता है और तभी वे कह उठते हैं कि "मैं सत्य स्वरूप हूँ" "मैं वही प्यारा हूँ"। इसी प्रकार अद्वैतवादके प्रचारके कारण ही हुसेनको जनपदवासियोंके हाथ प्राणदण्ड भोगना पड़ा था, क्योंकि साधारण प्रजा उनकी इन सब उच्च चिन्ताओंको समझ नहीं सकती थी।

मुसलमान धर्ममतकी तरह यहूदी धर्ममतमें भी वैसी अनेक बातें पाई जाती हैं जिनके साथ हिन्दुधर्मके अनेक विषयोंका मेल है। इस मतके धर्मग्रन्थोंसे यह पता लगता है कि इसके प्रवर्त्त-

कगण आर्यमहर्षियोंकी तरह आत्माकी जन्मांतरीय गतिको मानते थे। वे लोग ऐसा भी मानते हैं कि इनके दो आदि गुरु आदि पुरुष आदमसे ही प्रकट हुए हैं। इस विषयमें आर्यशास्त्रोक्त कल्पावतारके विज्ञानके साथ इस मतकी एकता है। इसके सिवाय वैदिक त्रिमूर्त्ति, गुरुतत्त्व आदि अनेक विषयोंमें हिन्दुधर्मके साथ इस मतकी समता देखनेमें आती है। उपासनाकी पद्धतियोंमें भी प्रायः हिन्दुशास्त्रीय सभी रीतियोंका ग्रहण इस मतमें किया गया है। मन्त्रयोगसाधनविधिके अनुसार भगवत्स्मरण कीर्तन, आनन्दविलास, नृत्यगीत आदि बहुत कुछ इनके यहांके साधनोंमें पाये जाते हैं।

यहूदी धर्ममतकी तरह पारसी धर्ममतमें भी हिन्दुधर्मके साथ बहुत विषयोंमें वैसी ही एकता देखनेमें आती है। इस धर्ममतके सभी सिद्धान्त अति प्राचीन ईरान धर्ममें मिलते हैं और उसी पर विचार करनेसे वैदिक धर्मके साथ कहाँ कहाँ सामञ्जस्य है उसका पता लगता है। आजकल इनके यहाँ हिटाईट शिला लिपिका आविष्कार हुआ है इससे निर्णय होता है कि आर्यशास्त्रमें जैसे वरुण, मित्र, इन्द्र आदि देवतागण माने गये हैं वैसे इनके यहां भी माने जाते थे। हिन्दूधर्ममें जैसे जलदेवता, अग्निदेवता आदिकी पूजा होती है, वैसेही इनके यहां भी दैत्यरिपु, युद्धदेवता, इन्द्र प्रमुख देवताओंकी पूजा होती थी और विशेष विशेष समयपर सोमरसका भी सेवन और पूजामें अर्पण होता था। देवता और असुरोंके विषयमें जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णन है वैसा इस धर्ममतमें भी मिलता है, केवल इतनाही भेद है कि यहाँपर सत्व गुणकी अधिष्ठात्री उत्तमकोटिकी चेतनशक्तिको देवता कहा जाता है और तमोगुणकी अधिष्ठात्री अधमकोटिकी चेतनशक्तिको असुर कहा जाता है, किन्तु इस धर्ममतमें असुरोंमें देवताओंके लक्षण और देवताओंमें असुरोंके लक्षण वर्णित किये गये हैं। इसमें केवल नामका

ही भेदमात्र है अर्थात् हम जिसका देवता नाम देते हैं वे उसको असुर नाम देते हैं और हम जिसको असुर नाम देते हैं वे उसको देवता कहते हैं। आर्यशास्त्रकी तरह इस धर्ममतमें भी संसारको देवासुर संग्रामका नित्यनिकेतन बताया गया है और मनुष्यके अन्तःकरणको भी उस संग्रामके लिये एक प्रधान स्थान कहा गया है। जब मनुष्य शरीर, मन, वचनसे अच्छा कार्य करता है तो स्वतः ही देवताओंकी शक्ति बढ़ती है; इसी प्रकार मन्द कर्मानुष्ठान करनेपर असुरोंकी शक्ति वृद्धिंगत होती है और तभी संसारमें तथा मनुष्यजीवनमें अनन्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं।

आर्यशास्त्रीय सप्त ज्ञानभूमियोंकी तरह इस धर्ममतमें भी आध्यात्मिक उन्नतिके छः सोपान बताये गये हैं, यथा—

(१) वाहु मानो—मनुष्योंकी समस्त सद्वृत्तियाँ जिससे आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर मनुष्योंकी चेष्टा होती है।

(२) आशेम—सत्य, उत्तम और धार्मिक समस्त गुणोंकी समष्टि।

(३) क्षात्रेम—दिव्यराज्य और दिव्यशक्तिका स्पष्ट विकाश।

(४) अर्मेति—दिव्य शक्तिके प्रति श्रद्धाप्रदर्शन।

(५) और्वातात्—पूर्णता प्राप्ति।

(६) अमेरेतात्—अमृतत्व लाभ।

ऊपर लिखित धर्ममतोंकी तरह ईसाई धर्ममतके भीतर भी कहीं कहीं एकताका आभास देखनेमें आता है। इस धर्ममतके प्रधान ग्रन्थ बाईबिलमें सृष्टि विकाशके विषयमें लिखा है कि सृष्टिके पहले सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ था, परन्तु परमात्माकी इच्छा करनेपर सर्वत्र प्रकाश हो गया। आर्यशास्त्रमें भी इसी इच्छाशक्तिका बहुधा वर्णन देखनेमें आता है। यथा—एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय। परमात्मा प्रलयके समय एकाकी ही थे, किन्तु प्रलय गर्भविलीन समष्टिजीवोंके संस्कार जब फलोन्मुख हुए तो उनके भीतर एकसे

बहुत होनेकी स्वतः इच्छा उत्पन्न हुई और उसी इच्छामें उनकी शक्तिरूपिणी माया प्रकट होकर उन्होंने समस्त संसारको प्रसव किया। अतः इन दोनों सिद्धान्तोंमें एकताका आभास अवश्य ही देखनेमें आता है। तदनन्तर सेन्ट जानके उपदेशमें भी मिलता है यथा—"सृष्टिके प्राक्कालमें शब्द था, वह शब्द ईश्वरके साथ था और ईश्वररूप था।" इसमें आर्यशास्त्रकथित शब्दसृष्टिकी झलक देखनेमें आती है। ईसाई धर्ममतमें जो पिता, पुत्र, पवित्रात्माका वर्णन देखनेमें आता है उसके साथ भी आर्यशास्त्रीय अवतार-आदिके विज्ञानकी एकता देखने में आती है। उसमें परमात्मा पिता हैं, संसारमें लीलाविलासके लिये नानारूपमें उनका प्रकाश पुत्रभाव है और उन्नत जीवात्माओंको अपनी ओर आकर्षण करना पवित्रात्माका कार्य है। श्रीभगवान् भी आर्यशास्त्रोंमें भक्तजनोंके कल्याणके लिये युगयुगमें वैसी ही महिमाके विस्तारकर्त्तारूपसे वर्णित किये जाते हैं।

ईसाई धर्ममतके प्रवर्त्तक ईसामसीके अनेक वाक्योंमें वेदान्त शास्त्रकी झलक देखनेमें आती है, यथा-"मैं अपने परमपिताके भीतर हूँ और तुम सब मेरे ही भीतर हो," "तुम मुझमें हो और मैं तुममें हूँ," "मैं और परमपिता एक ही हैं" इसमें प्रथम दोनों वाक्योंमें कुछ द्वैतका आभास रहने पर भी तृतीय वाक्यमें अद्वैत भावकी पूरी झलक आई है। यद्यपि पश्चिम देशके लोग अभीतक इन सब गम्भीर भक्तवाणियोंके रहस्यभेदमें समर्थ नहीं हुए हैं, तथापि अद्वैतभावके रहस्यभेद-कारी आर्यशास्त्रकी सहायतासे ही इन सब वाणियोंका यथार्थ स्वरूप संसारके सामने प्रकट हो सकता है।

"स्वर्ग मेरा है, पृथिवी मेरी है, पुण्यात्मा तथा पापी सभी मेरे हैं, ईश्वर मेरा है, तुम किसके लिये ढूंढ़ रहे हो, सब तो तुम्हारे ही हैं" इस प्रकारके वचन जो जन एपेलने कहे थे उसमें भी उसी

विज्ञानका स्पष्ट आभास मिलता है क्योंकि मुमुक्षु अपने भीतर ब्रह्मसत्ताका अनुभव करके उसीमें समस्त संसारको ओतप्रोत देख सकता है। यह सब आर्यदर्शनशास्त्रकी पञ्चम तथा षष्ठ भूमियोंके अनुभवका प्रमापक है। इसी प्रकार भक्तिशास्त्रमें भी जो "यह मेरा है" "मैं उसका हूँ" तथा "वह और मैं एक ही हूँ" इस प्रकारके तीन अन्तिमलक्ष्य बताये हैं इसका भी आभास कहीं कहीं ईसाई महात्माओंके वचनोंसे प्राप्त होता है। यथा—"प्रेमका यह स्वरूप ही है कि जिससे प्रेम किया जाय उसके साथ अभिन्न भावकी सिद्धि हो। परमात्माके साथ एकता प्राप्त करनेके सिवाय जीवात्माकी उन्नतिका और कोई भी उपाय या लक्ष्य नहीं हो सकता है।"

अतः उदार विचारके द्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि अन्तिम लक्ष्यकी अभिन्नताके कारण और ईश्वरप्रेरित ज्ञानज्योतिका विकाश सब जातिके उन्नत मनुष्योंके हृदयमें होनेकी सम्भावना रहनेके कारण अध्यात्म रहस्यकी ज्योति पृथ्वीके सब मतोंमें यथा-सम्भव प्रकाशित—होती आई है। आदि अन्तरहित काल समुद्रके गर्भमें अनेक धर्ममत डूब गये हैं और कितने ही धर्ममत सनातन-धर्मके आचार मानते हुए पीछेसे सनातनधर्मके पन्थ बन गये हैं। अभी भी अनेक धर्ममत उस समुद्रके ऊपरके स्तरपर बुद्बुदकी नाईं तैर रहे हैं परन्तु उन सभोंमें अनादिसिद्ध नित्यस्थित सर्वव्यापक सर्वजीवहितकारी सनातनधर्मकी ज्योति विद्यमान है। सनातनधर्म रूपी सूर्यके अनन्त किरणोंमेंसे एक या ततोधिक किरणकणकी सहायतासे प्रकाशित होकर पृथिवीके विभिन्न धर्ममत अपनी अपनी श्रेणीके मनुष्योंमें उन्नतिका मार्ग प्रदर्शन किया करते हैं। इसी कारण सनातनधर्मके प्रवर्त्तक पूज्यपाद आचार्योंने कहा है कि जो धर्म किसी धर्मको बाधा न दे प्रत्युत सहायता करे वही यथार्थमें सद्धर्म है। इसी कारण सनातनधर्मकी पूर्ण और सर्वजीवहितकारी वैज्ञानिक दृष्टिके सम्मुख पृथ्वीके सब धर्ममार्ग उसके प्रिय पुत्रपौत्रवत्

हैं। इसी कारण सचा सनातनधर्मावलम्बी किसी धर्मपन्थ या धर्ममतसे विरोध नहीं रखता। अपने आचारका पालन करनेमें असमर्थ होने पर भी सब दशामें उनके साथ-विचारसे ऐक्य स्थापन करता है और किसीकी निन्दा नहीं करता। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव ॥

जो धर्म किसी अन्यधर्म को बाधा दे वह धर्म कुधर्म है, परन्तु जो धर्म भेद सब धर्ममार्गों और अधिकारोंके लिये अविरोध हो वही सद्धर्म है। इसी कारण श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्ण चन्द्रने कहा है कि:—

सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

जो ज्ञान ज्ञानीके अन्तःकरणमें उदय होकर नाना प्रकारकी भिन्नताप्राप्त वस्तु तथा जीवोंमें भी अद्वितीय एकताके भावको ज्ञानीको दिखाया करता है, वही सर्वलोकहितकर सर्वप्रेममय ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहाता है।

यही उदार सनातनधर्मकी उदारतम दृष्टिके अनुसार सब धर्मोंका अपूर्व-उदार समन्वयका रहस्य संसार जितना जानेगा, उतना ही धर्मजगत्‌में साम्प्रदायिक विद्वेष तथा मतविरोध कम होकर चिर-शान्ति स्थापित हो सकेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

शास्त्र जगत्।

धर्मजगत्‌की तरह शास्त्रजगत्‌में भी बहुत कुछ भ्रमजाल फैला हुआ है। इसमें आर्यशास्त्रका कोई भी दोष नहीं है, केवल मनुष्य बुद्धिकी असम्पूर्णता ही इस प्रकार भ्रमजाल विस्तारमें कारणस्वरूप है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है—

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा।

योगसाधनके परिपाकमें जब ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है तब अतिस्थूलसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य तकका ज्ञान योगीके लिये करतलामलकवत् सहज साध्य हो जाता है। किन्तु इस प्रकार पूर्ण ज्ञानके पहले तथा अल्पज्ञान और अज्ञानकी भिन्न अवस्थामें मनुष्य अपनी बुद्धि, ज्ञान तथा भावके अनुसार ही वेद, स्मृति, पुराण, आदि सभी शास्त्रों पर विचार करता है और यही कारण ही शास्त्र तक होने पर भी बुद्धि, ज्ञान तथा भावकी भिन्नताके अनुसार अनेक मतमतान्तर, आन्दोलन, शङ्का तथा भ्रमजाल विस्तारक कारण बनजाता है। अतः शास्त्रजगत्‌में इस प्रकार कोलाहल निवारणके लिये सिवाय आर्यशास्त्रके यथार्थ स्वरूप परिज्ञानके और कोई भी उपाय नहीं है। स्मरण रहे कि आर्यशास्त्रके यथार्थ रहस्य केवल शाब्दिक पाण्डित्य द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि शास्त्र द्रष्टा या शास्त्रकर्ता पूज्यपाद महर्षियोंने केवल शाब्दिक पाण्डित्यके बलसे शास्त्रोंका प्रकाश या निर्माण नहीं किया था। किन्तु कठिन तपस्या, इन्द्रियसंयम, योगसाधना और ध्यान धारण· समाधि द्वारा ही समस्त आर्यशास्त्र उनके ध्यान दृष्टिगोचर हुए थे। इसलिये शाब्दिक पाण्डित्यके अतिरिक्त साधन तथा तपस्या राज्यमें मनुष्य जितना अग्रसर होताहै। उतना ही वेद, स्मृति, पुराणादि आर्यशास्त्रोंके यथार्थ

तत्व का अनुभवगोचर होता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। जो वस्तु भावगम्य या ज्ञानगम्य है, भाव या ज्ञान भी पूर्णताके अनुसार ही उसकी पूर्णता उपलब्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि नवीन भारतमें एकही शास्त्रके अनेकानेक अर्थ तथा मार्ग देखे जाते हैं। और अनन्त आन्दोलन शास्त्रजगत्‌के द्वारा अलोकित करते रहते हैं। अब नीचे वेदमी शास्त्रोंके कुछ स्वरूप बताकर शास्त्रजगत्‌में शान्तिविस्तारके लिये प्रयत्न किया जाता है।

महर्षि अङ्गिरा ने दैवीमीमांसामें कहा है कि:—

गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः ।

वेदमें गुणोंकी और भावोंकी पूर्णता है इसलिये वेद भगवान्‌का वाक्य है। गुणमयी प्रकृतिके त्रिगुण भेदानुसार प्रधानता तीन स्तर हैं, इसलिये संसारमें सात्विक, राजसिक और तामसिक, ये तीन प्रकारके जीव मिलते हैं। वेदका वेदत्व और अपौरुषेयत्व इस बात पर है कि भवरोगवैद्य वेदने तीनों प्रकारके अधिकारियोंके लिये आत्मोन्नतिकर उपाय बताये हैं। लौकिक शास्त्रोंका लक्षण यह है कि उनमें किसी गुणको प्रधान रखकर उपदेश किया जाता है। कोई ग्रन्थ सत्वगुणको ही प्रधान मानकर उपदेश करता है। किसीमें रजोगुणकी विशेषता पर लक्ष्य रखकर उपदेश किया जाता है। किसीमें तमोगुणके विचारसे उपदेश होता है। यदि प्रकृतिमें एकही गुण होता तो सबके वास्ते एक प्रकारका उपदेश हो सकता या विधि बताई जा सकती। परन्तु प्रकृतिमें जब तीन गुण हैं तो पूर्ण ग्रन्थ वही होगा जिसमें सब गुणोंके जीवोंके कल्याणके लिये युक्ति बताई जावे। पूर्ण वैद्य वही है जिसके पास सब प्रकारके रोग निवारणके लिये चिकित्सा हो। वेद पूर्ण हैं और भगवान्‌के वाक्य हैं, इसलिये वेदमें तीनों अधिकारियोंके लिये उपदेश किये गये हैं। वेदमें सात्विक अधिकारीकी आत्मोन्नतिके लिये ज्ञानयज्ञ, राजसिक अधिकारीके कल्याणके लिये राजसिक सोम आदि यज्ञ और तामसिक

अधिकारीके सुधारके लिये तामसिक श्येनयज्ञ आदिका भी विधान है। यह वेदका दूषण नहीं परन्तु भूषण है, पूर्णताका आदर्श है और सार्वभौम उदार भाव है। इसको आज कलके परिच्छिन्न बुद्धि लोग नहीं समझकर बहुधा आक्षेप करते रहते हैं। यदि संसारमें सबही लोग सात्विक होते तो वेद सभीके वास्ते ज्ञानयज्ञका उपदेश करता। परन्तु जब संसारमें राजसिक तामसिक लोग भी बहुत हैं तो वेदकी पूर्णता, अखिल जगत्कल्याणकारिता और अपौरुपेयता तभी होगी जब उसमें उन राजसिक या तामसिक लोगों पर भी कृपा करके उनके लिये भिन्न भिन्न आत्मोन्नतिकर उपाय बताये जायँगे। अन्यथा राजसिक, तामसिक अधिकारीको भी सात्विक ज्ञानयज्ञका उपदेश करनेसे उनके लिये बुद्धि-भेद और अनधिकार चर्चा होगी, जिससे उनका कल्याण न होकर अनिष्ट होगा। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है कि:—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्व्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्नो विचालयेत्॥

अज्ञ, कर्म मार्गमें आसक्त, सकाम पुरुषोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। विद्वान् और युक्त पुरुष स्वयं अनुष्ठान करके उनको उसी मार्गमें प्रवृत्त करें। मन्दमति अल्पदर्शी लोग प्रकृतिके गुणोंमें फँसकर गुण व कर्ममें लिप्त होते हैं। बहुदर्शी विचारवान् पुरुष उनको एका-एक उससे न हटावें। परन्तु सुकौशलपूर्ण अधिकारानुरूप उपाय बताकर धीरे धीरे उनको उन्नत करें। यही श्रीगीताजीमें भगवान्की आज्ञा है और यही विज्ञानवेदमें पूर्णतया प्रकट है। वेदमें पशुहिंसा आदिके विधायक मन्त्रोंको देखकर बहुत लोग घबड़ाते हैं और बहुत लोग अपनी विद्वत्ताके मदमें आकर या साम्प्रदायिक अनुदारभावसे

भावित होकर अपने सिद्धान्तके अनुसार उन मन्त्रोंका अर्थ करने लगते हैं। परन्तु यह सभी वेदके मर्मके न जाननेका फल है। यदि वेद में कहीं पशुहिंसाका मन्त्र मिल जाय तो इससे यह सिद्धान्त कदापि नहीं निकालना चाहिए कि भगवान् जीवकी हिंसा करनेके लिये उपदेश देते हैं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। इसका तात्पर्य्य और ही कुछ है जो नीचे लिखा जाता है।

यह बात पहले ही कही गई है कि त्रिगुणमय संसारमें सब प्रकारके मनुष्य होते हैं और गुणोंके तारतम्यानुसार रुचि, प्रकृति व प्रवृत्तिमें भी बहुधा भेद पाये जाते हैं। सात्विक मनुष्य स्वभावतः ही अहिंसापरायण होते हैं। रजोगुणी लोग, परन्तु ऐसे नहीं होते और तमोगुणी लोग इससे सम्पूर्ण विपरीत होते हैं। इसलिये सबके लिये सात्विक विधि तो हो ही नहीं सकती है और सबके लिये विधि भी अलग अलग न हो तो वेदपूर्ण और भगवद्वाक्य नहीं। अतः यह विषय विचार करने योग्य है। राजसिक या तामसिक यज्ञमें जहाँ हिंसाकी विधि है, वह विधि हिंसा बढ़ानेके लिये नहीं, परन्तु घटानेके वास्ते ही है। क्योंकि राजसिक या तामसिक होनेसे जिस मनुष्यकी प्रकृति ही जन्मसे हिंसापरायण बनी हुई है। जो मनुष्य यथेच्छ और अजस्र मांस भोजन करता है उसको एकाएक मांस छोड़कर सात्विक बन जानेके लिये उपदेश करना ही मूर्खता और अनधिकार चर्चा है। अतः उसके लिये ऐसी युक्ति होनी चाहिए जिससे वह मनुष्य मांस खाना धीरे धीरे कम करता हुआ अन्तमें हिंसाको सम्पूर्णरूपेण त्याग देवे। यही युक्ति वेदमें बताई गई है। वहाँ लिखा गया है कि यदि मांस खाना हो तो यज्ञ करके, देवताओंको निवेदन करके, विविध पूजा करके, ब्राह्मण भोजन कराके, देवताओंके प्रसादरूपसे यज्ञशेष मांस भोजन करो। क्योंकि गीतामें लिखा है। यथाः—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

यज्ञशेष भोजन करनेसे सकल प्रकारके पापोंसे मुक्त होते हैं। इस प्रकार यज्ञ करके मांस खानेका फल यह होगा कि कोई मांसाहारी मनुष्य जो कि अनर्गल मांस खा रहा था उसे यज्ञके सब कार्य्य करने पड़ेंगे, जिसमें सैकड़ों रीतिके अनुष्ठान बताये गये हैं, जिससे उसको व्ययाधिक्य होनेसे मांस खाना ही घट जायगा और पूजा आदिके करनेसे चित्तमें सात्विक भावका उदय धीरे धीरे होता जायगा, जिससे प्रवृत्ति घट जायगी और तृतीयतः यज्ञ शेष प्रसादके ग्रहण करनेकी बुद्धिके उदय होनेसे मांसके ऊपर जो लोभ था वह लोभ धीरे धीरे कम होता जायगा। अन्तमें फल यह होगा कि कुछ दिनोंके बाद वही रजोगुणी या तमोगुणी मांसाहारी मांसको त्यागकर सात्विक ज्ञानयज्ञका अधिकारी बन जायगा। यही वेदकी उदारता और पूर्णता है। इस पर विचार करनेसे बुद्धिमान् मनुष्य अवश्य समझ सकेंगे कि भगवान्के वाक्यमें ही इस प्रकार निष्पक्ष उदारभाव आ सकता है जिससे सकल अधिकारीका ही कल्याण और आत्मोन्नति हो। तद्तिरिक्त वेदोक्त कर्मविज्ञानके अनुसार "स्वर्गकामो यजेत्" इस प्रमाणसे वैदिक राजसिक यज्ञके प्रभावसे उसको परलोकमें स्वर्गादिक लोकोंकी प्राप्ति होगी। यही वेदका गुण विचारसे पूर्ण महत्त्व है।

वेदका और अपौरुषेयत्व, भावोंकी पूर्णता में है। यह बात पहले समुल्लासमें सिद्ध हो चुकी है कि परमात्माके तीन भाव प्रकृतिविलास या प्रकृतिलयके अनुसार साधकको उपलब्ध होते हैं। उनके अध्यात्मभाव मायासे अतीत, मनवाणीसे अगोचर, निर्गुण, निष्क्रिय परब्रह्म हैं। उनके अधिदैवभाव मायोपहित चैतन्य सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्ता ईश्वर हैं और उनके अधिभूतभाव अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय विराट् हैं। इसलिये सर्व्वकारण परमात्मामें जब तीन भाव हैं तो कार्य्य ब्रह्मरूपी इस संसारमें भी तीन भाव होने चाहियें। क्योंकि कार्य्य जब कारणका ही विस्तारमात्र है, तो कारणमें जो

कुछ भाव है सो कार्य्यमें भी अवश्य होगा। यही कारण है कि संसारकी समस्त वस्तुओंमें तीन तीन भाव देखे जाते हैं। कार्य्यब्रह्म में प्रकृति व पुरुषकी लीला गुण व भावोंकी लीलारूपेण पर्य्यवसित है। इसलिये जो महात्मा प्रकृति-पुरुष का तत्व जानकर मुक्त होना चाहते हैं उनको प्रत्येक वस्तुमें त्रिगुण और त्रिभाव देखने चाहिये। अन्यथा मुक्ति नहीं होगी। संसारमें बहुत ग्रन्थ हैं, परन्तु वे सब प्रकृतिमाताके ग्रन्थके पढ़नेकेवास्ते सहायकमात्र हैं। वास्तविक ग्रन्थ प्रकृतिकाही है। इसीको ही महर्षि लोग तत्वतः जानकर निःश्रेयस लाभ करते थे। इसको जानना पूर्णतया तब ही हो सकता है जब सर्व्वत्र, सकल वस्तुओंमें तीन गुणका विलास-तारतम्य और भावकी लीला देखी जाय। दृष्टान्तस्थल पर समझ सकते हैं कि मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्र अधिदैव है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें भी "कि तद्ब्रह्म किमध्यात्म" इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें त्रिभावकी लीला पूर्णतया दिखाई है। पूर्ण दृष्टि वही है जो सब वस्तुओंमें तीन भाव देखे। आजकल इस विषयमें बहुत ही अन्धेर चला हुआ है। प्रायः मनुष्य एक ही या दो ही भावको देखकर विचार करते अथवा एक ही भावको मानकर दूसरेको उड़ा देते हैं। यह सब भूल है। जिस वस्तुका अध्यात्म सत्य है उसका अधिदैव, और अधिभूत भी सत्य है। यथाः—मन सत्य है तो मन्तव्य और चन्द्रमा भी सत्य है। चक्षु सत्य है तो रूप तन्मात्रा और सूर्य्य भी सत्य है, और पूर्णद्रष्टा वही है जिसको तीन ही भाव दिखाई दे। अन्यथा अपूर्णदृष्टि हो जायगी। इसी प्रकारसे पूर्ण ग्रन्थ वही कहलावेगा जिसके प्रत्येक उपदेशमें तीन तीन भाव रहेंगे और वही पूर्ण भावयुक्त ग्रन्थ भगवद्वाक्य होगा। लौकिक ग्रन्थोंमें यह पूर्णता नहीं आ सकती है। गीताजीके प्रत्येक श्लोकमें तीन तीन भाव भरे हुए हैं। क्योंकि गीता भगवद्वाक्य है। इसको गवेषणापरायण, अन्तर्दृष्टिसम्पन्न लोग जान सकते हैं। इसी प्रकार वेदके प्रत्येक

मन्त्रमें तीन तीन भाव अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूत, भरे हुए हैं। इसमें कोई ऐसा मन्त्र नहीं मिलेगा जिसमें केवल एक ही भाव या केवल दो भाव हों श्रुतियोंमें कहा है कि:—

त्रयोऽर्थाः सर्व्ववेदेषु।

सब वेदोंमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, इस प्रकारसे तीन तीन अर्थ हैं। स्मृतियोंमें भी कहा है कि:—

यथा दुग्धञ्च भक्तञ्च शर्कराभिः सुमिश्रितम्।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम्॥
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखात्मकः।
नयते ब्राह्मणं नित्यं ब्रह्मानन्दं परात्परम्॥

जैसे दुग्ध, चावल और शक्कर मिलानेसे सुमिष्ट एवं देवभोग-योग्य परमान्न बनता है वैसे ही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंसे युक्त अमृतमयी श्रुति ज्ञानी पुरुषको ब्रह्मानन्द प्राप्त कराती है। इससे स्पष्ट हुआ कि वेदकी प्रत्येक श्रुतिके तीन प्रकारके भाव और तीन प्रकारके अर्थ हैं। ये तीनों मनुष्यकी साधारण बुद्धिगम्य नहीं है। आजकल वेदोंके तत्त्वोंको न जानकर मनुष्य इस विषयमें बहुत ही भ्रमयुक्त हो रहे हैं। कोई कोई तो सब श्रुतियोंको स्थूल अधिभूत भाव पर ही लगा देते हैं। कोई कोई क्लिष्ट कल्पना करके सब मन्त्रोंको आध्यात्मिक भावमें लगा डालते हैं। यह सब अपूर्ण मानवीय बुद्धिका लक्षण है। यदि वेद मनुष्यकृत होता तो ऐसी कल्पना सत्य होती। परन्तु वेद अपौरुषेय और ईश्वरकृत हैं, इसलिये ऐसी कल्पना सर्वथा मिथ्या है और तीनों भावोंका पूर्ण विलास ही सत्य है। एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद्में वर्णन है कि.—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च,
तत्र कनीयसा एव देवाः ज्यायसा असुरा.

स्व एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त । इत्यादि ।

प्रजापतिके द्वारा देवता और असुर दोनों ही उत्पन्न हुए, उनमेंसे देवता छोटे और असुर बड़े भाई हैं। ये दोनों इन लोकोंमें आपसमें स्पर्द्धा करते हैं। इस मन्त्रमें जो देवासुर संग्रामका वर्णन किया गया है इसको केवल एक भावमें लेनेसे पूर्ण अर्थ नहीं होगा। इसको तीन ही भावमें समझना चाहिये। इस भौतिक जगत्‌में जो गीतोक्त दैवीसम्पत्तिवाले और आसुरीसम्पत्तिवाले जीवोंकी आपसमें सदा ही लड़ाई होती रहती है, यह तो इसका अधिभूत अर्थ है। ठीक इसी तरहसे दैवलोकमें जो तमोगुणके अधिष्ठाता असुर और सत्वगुणके अधिष्ठाता देवताओंकी आपसमें लड़ाई होती रहती है, अर्थात् इन दोनों चेतनशक्तियोंकी लड़ाई अधिदैव देवासुर संग्राम है। तृतीयतः अध्यात्म अर्थात् मनोराज्यमें जो कुमति और सुमति का द्वन्द्व सदा बना रहता है, जिससे मनुष्य कभी कुमतिके चक्रमें आकर पाप करते हैं और कभी सुमतिके द्वारा प्रेरित होकर कृत पापके लिये अनुताप भी करते हैं, यह लड़ाई अध्यात्म राज्यमें देवासुर-संग्राम है। इस रीतिसे तीन तीन भाव देखनेसे तब वेदोंके मन्त्रोंका पूरा पूरा अर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। पूर्ण भगवान् और भावमय भगवान्‌के निश्वासरूपी वेदमें सर्वत्र ही एतादृश त्रिभाव विलास देखकर भक्तजनहृदय प्रफुल्लित होता है। फलतः पूर्वकथित विचारके अनुसार वेदोंमें त्रिगुणकी पूर्णता और त्रिभावकी पूर्णता होनेके कारण वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध हुआ।

वेदके इस प्रकार गम्भीर तत्वोंके समझनेके लिये किस प्रकार शिक्षा पहले प्राप्त करनी होगी सो नीचे लिखा जाता है। प्रथम तो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, इन छहों अङ्गोंका भलीभाँति अध्ययन करके वेदार्थ समझनेकी शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। इन छहों अङ्गोंमेंसे यदि एक अङ्गकी भी न्यूनता रहेगी तो विद्वान्‌की शक्ति पूर्ण नहीं होगी। इन अङ्गोंके ज्ञानका लाभ करनेके

अनन्तर सप्त दर्शनोंका ज्ञान भलीभाँति प्राप्त करना होगा। वैदिक सप्तदर्शन अन्य देशीय दर्शनोंके सदृश काल्पनिक भित्ति पर स्थित नहीं हैं। वे सप्त ज्ञानभूमिमें यथाक्रम प्रवेश करानेवाले सप्त अधिकारसे आविर्भूत हुए हैं। इस प्रकारसे षडङ्ग और सप्तदर्शनके रहस्योंको पूर्ण रीतिसे हृदयङ्गम करने पर और कर्म उपासना और योगादिकी सहायतासे चित्त निर्म्मल होने पर पूर्ण ज्ञानयुक्त वेदोंकी उपलब्धि हो सकती है; अन्यथा अनन्त, अपार और गम्भीर वेदसमुद्रके पार जानेको तो बात ही क्या है, उसमें प्रवेश करना भी असम्भव है। यही कारण है कि वेदार्थके विषयमें नवीन भारतमें नाना भ्रम उत्पन्न हो रहे हैं, जिनका निराश पूर्णगुण भावमय वेदभगवान् के सत्य स्वरूपके समझने पर ही हो सकता है।

वेदकी तरह स्मृतियोंके मर्मज्ञानके विषयके भी नवीन भारतमें अनेक प्रकारके मतभेद पाये जाते हैं उनके कारण निम्नलिखित है।

त्रिगुण भेदके अनुसार मनुष्यकी बुद्धि तीन प्रकारकी होती है। यथा—सात्त्विक, राजसिक व तामसिक। इन लक्षणोंके विषयमें गीतामें लिखा है कि—

> प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याऽकार्य्ये भयाऽभये।
> बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥
> यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्य्यञ्चाऽकार्य्यमेव च।
> न यथावत् मजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥
> अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता।
> सर्व्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥

जिस बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य्य, अकार्य्य, भय, अभय, बन्ध व मोक्षका ठीक ठीक ज्ञान हो उसीको सात्त्विकबुद्धि कहते हैं। जिसमें धर्म्म, अधर्म्म और कार्य्य, अकार्य्यका यथार्थज्ञान न हो, परन्तु कुछ सन्देहयुक्त ज्ञान हो उसका नाम राजसिकबुद्धि

है और जिस अज्ञानाच्छन्न बुद्धिके निकट सब विषय विपरीत रूपसे ही प्रतीत हों यथा—धर्म्ममें अधर्म्मबुद्धि या अधर्म्ममें धर्म्मबुद्धि हो उसको तामसिकबुद्धि समझना चाहिये। यद्यपि स्मृतिशास्त्रमें तीनों प्रकारके मनुष्योंके लिये ही धर्म्मोपदेश वर्णित हैं, परन्तु प्रधानतः राजसिकबुद्धि और तामसिकबुद्धिके मनुष्योंको सहायता देनेके अर्थ ही स्मृतिशास्त्रका आविर्भाव हुआ है।

शुद्ध सात्त्विकबुद्धिको प्रज्ञा अथवा ऋतम्भरा कहते हैं और राजसिक तामसिक शक्तिसम्पन्न बुद्धि ही प्रायः बुद्धिशब्दवाच्य होती है। त्रिविधबुद्धिके अनुसार धर्म्मानुशासन भी तीन प्रकारके होते हैं; यथा—योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन। संसारमें तमःप्रधान मनुष्योंके लिये राजानुशासन, रजःप्रधान मनुष्योंके लिये शब्दानुशासन और पूर्णपक्ष सत्त्वप्रधान मनुष्योंके लिये योगानुशासन है। स्मृतियोंमें राजानुशासन और शब्दानुशासन दोनोंका ही समावेश है। श्रुति अर्थात् वेदके द्रष्टा महर्षियोंकी स्मृतिकी सहायतासे जो धर्म्मशास्त्र प्रणीत हुए हैं वे ही स्मृति कहाते हैं। श्रुतिरूपी वेदमन्त्रोंमें मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने कुछ न्यूनाधिक्य नहीं किया है; अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें उनके समाधियुक्त अन्तःकरणमें जब जब जिस जिस प्रकारके सत्य ज्ञानमय भावोंका आविर्भाव हुआ था, उसी समय उन्होंने वैसे ही यथार्थ वैदिक शब्दोंमें उन्हीं सत्य स्वरूपोंका प्रकाश किया था। पूज्यपाद महर्षियोंने शब्दब्रह्मरूपा श्रुतियोंका प्रकाश करते समय अपने विचारकी कोई आवश्यकता नहीं समझी थी, परन्तु वैदिककालके अनन्तर जब धर्म्ममर्य्यादा बांधनेके अर्थ विशेष अनुशासन वाक्योंकी आवश्यकता हुई, तब उन्होंने अपने पूर्व विज्ञानमय वेदज्ञानयुक्त स्मृतियोंका आश्रय लेकर जिन वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, राजधर्म्म, प्रजाधर्म्म एवं लोकहितकारी साधारण धर्म्मके अनुशासन शास्त्रोंका प्रणयन किया है वे ही स्मृति कहाते हैं। स्मृतिशास्त्रोंमें पूर्णरूपसे वैदिकज्ञान और

विज्ञानका सम्बन्ध रक्खा गया है। कोई स्मृतिशास्त्रका अनुशासन वेदविरुद्ध नहीं है। अपि च भेद इतना ही है कि वेदोंमें लाघव और गौरवके विचारका सम्बन्ध अधिक रहनेके कारण परवर्त्ती कालमें प्रजाकी बुद्धि प्रभाहीन होकर उस गम्भीर विज्ञान द्वारा अपना कल्याण साधन करनेमें असमर्थ हुई थी। फलतः वेदके शब्दानुशासन भाग अर्थात् त्रिविध अधिकारमेंसे द्वितीय अधिकारके प्रकाशार्थ विस्तृत शब्दानुशासनरूपसे जीवोंके कल्याणार्थ पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियोंने यह स्मृतिशास्त्र प्रकाशित किया है।

वेदोंमें ज्ञान और विज्ञान दोनोंका ही सम्बन्ध रहनेके कारण योगानुशासन एवं शब्दानुशासन दोनोंका ही विस्तृत विवरण है। इसी कारण वैदिकज्ञान और विज्ञानके पथप्रदर्शक पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि प्रभुने दोनों अनुशासनोंके द्वारका उद्घाटन करनेके अर्थ प्रवेशाधिकाररूप दोनों शास्त्रोंका प्रणयन किया है। अनुशासन शास्त्रोंमें प्रधान स्मृतिशास्त्र जिस प्रकार अनुशासन के विचारसे जगत्की रक्षा कर सकते हैं वैसे और शास्त्र नहीं कर सकते, इस कारण स्मृतिशास्त्रकी इतनी महिमा है। स्वतन्त्र स्वतन्त्र कल्पमें जिस प्रकार वेदोंकी संख्या स्वतन्त्र स्वतन्त्र रीतिसे हुआ करती है, उसी प्रकार अनुशासन शास्त्रोंमें प्रधान स्मृतिशास्त्रोंकी संख्या भी नियमित हुआ करती है। इस कल्पके प्रधान स्मृतिग्रन्थोंकी संख्या मनु, याज्ञवल्क्य आदि क्रमसे बीस है।

तदतिरिक्त गोभिल, जमदग्नि, विश्वामित्र, प्रजापति, मरीचि, कश्यप आदि ऋषियोंकी उपस्मृतियाँ भी हैं। सब स्मृतियोंमें धर्म लक्ष्य एकही होने पर भी किसी स्मृतिकारने किसी विषयका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किसीने किसी विषयका स्वल्प रूपसे वर्णन किया है। सब स्मृतियोंका अनुशासन एक प्रकारका न होनेका कारण यह है कि सृष्टिविचित्रताके कारण वैदिक सिद्धान्तों की स्मृति जिस आर्ष अन्तःकरणमें जिस भावसे प्रकाशित हुई है,

उन आचार्य्य महर्षियोंके द्वारा वैसेही भाववाले स्मृतिशास्त्र प्रकाशित हुए हैं। इस कारण सब स्मृतियोंका अध्ययन करना युक्तियुक्त है।

स्मृतियोंमें कहीं कहीं कुछ मत विरोध भी प्रतीत हुआ करता है, जिससे जिज्ञासुओंके, हृदयमें प्रायः शंका उत्पन्नहोना असम्भव है, परन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपने अपने संहिताग्रन्थोंमें भली भांति प्रकाशित कर दिया है कि ऐसे मतोंकी अनैक्यताका कारण क्या है? जहाँ पदार्थकी गुरुता और विज्ञानकी सूक्ष्मता हो, वहाँ मतविरोध होना असम्भव है, परन्तु जहां पदार्थकी सूक्ष्मता और विज्ञान की प्रबलता हो, वहाँ आचार्य्योंके मतमें विरोध होना सम्भव ही नहीं है। उदाहरणस्थल पर समझ सकते हैं कि कन्याके पाणि-ग्रहण कालके विषयमें तो किसी महर्षिके मतमें विरोध न होगा, अर्थात् कन्या में रजोधर्मके प्रारम्भ से पूर्व विवाह कर देनेकी आज्ञा सब पूज्यपाद ही देते हैं। परन्तु जब कन्याकी अवस्थाका विचार किया जायगा तो अवश्य मतिविरोध होना सम्भव है क्योंकि पूर्व विचारमें विज्ञानकी दृढ़ता और दूसरे विचारमें विज्ञानकी सूक्ष्मता है। इस विषयको प्रमाणोंके साथ पहले ही कहा गया है। इसी विषयको दूसरे उदाहरणसे भी समझ सकते हैं कि सामुद्रिकलक्षणों-से मनुष्यके भविष्यत्‌का विचार करते समय भविष्यद्वक्तागणमें मतभेद हो सकता है, परन्तु शुद्ध गणितकी सहायतासे ज्योतिष शास्त्रके फल द्वारा भविष्यत्‌का निर्णय करते समय प्रायः मतभेद होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इस कारण यह अवश्य विचार रखना उचित है कि पूज्यपाद महर्षिगणके मतोंमें यदि कहीं विरोध सा प्रतीत हो तो उससे जिज्ञासुगणको विचलित होना उचित नहीं है, किन्तु देश काल और पात्रके विचार द्वारा अनुशासनके रहस्य समझनेमें यत्न करना मुख्य कर्त्तव्य है, और ऐसा करनेसे नवीन भारत में स्मृतिशास्त्रसम्बन्धी भ्रमज्ञान दूरीभूत हो सकेगा। वेद व

स्मृति की तरह पुस्तकके विषयमें भी अनेक भ्रम फैले हुए हैं।

अर्वाचीन पुरुष पुराणके तत्वको न जानकर सन्देहजालमें विजड़ित हो रहे हैं। बहुतसे पश्चिमी विद्वान् और बहुतसे इस देशके विद्वान् इस विषयमें कई प्रकारके सन्देह कर रहे हैं। उनके समस्त सन्देहोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—(१) पुराण प्राचीनग्रन्थ नहीं हैं, नवीन ग्रन्थ हैं (२) वेदका ब्राह्मणभाग ही पुराण है, उसके अतिरिक्त जो कुछ पुराण नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब साम्प्रदायिक पुरुषोंकी कपोलकल्पना हैं (३) पुराणमें बहुतसी मिथ्या बातें आधुनिक पण्डितों ने घुसा दी हैं, जो विज्ञानविरुद्ध व भूगोलविरुद्ध हैं और बीभत्सरसकी भी पुराणोंमें अवतारणाकी गई है जिससे संसारकी हानि है। अतः उनके मतमें पुराण सर्व्वथा परित्याज्य हैं। अब इन सब सन्देहोंका एक एक करके निराकरण किया जाता है।

(१) पहला सन्देह अर्थात् पुराण नवीन ग्रन्थ हैं, इसके विषयमें जितनी बातें हुआ करती हैं उनमें मुख्य बात वे लोग यही कहते हैं कि जब पुराणमें बहुतसी नवीन नवीन घटनाओंका उल्लेख है जो जिस पुराणमें जिस घटनाका वर्णन है वह पुराण उस घटनाके बादका बनाया हुआ अवश्य होगा। पश्चिमी विद्वानोंने प्रायः इसी बातकी युक्ति दी है। किसी किसीने कहा है कि जब सभी पुराणोंमें बुद्धदेवका प्रसङ्ग मिलता है तो सभी पुराण बुद्धदेवके जन्मके बाद बनने चाहिये। किसी किसीने कहा है कि जब वैष्णवसम्प्रदाय चला था उसका वृत्तान्त श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण और पद्मपुराणमें है, तब ये तीन पुराण पञ्चदश शताब्दीके अन्तमें बनाये गये हैं। किसीने यह भी कह दिया है कि स्कन्दपुराणमें जगन्नाथ देवके मन्दिरकी बातें लिखी हैं इसलिये स्कन्दपुराण आधुनिक है। इस प्रकारसे अर्व्वाचीन पुरुषोंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक युक्तियाँ लड़ाई हैं, परन्तु विचार करने पर यह अवश्य निश्चय

होगा कि शास्त्रके मर्म जाननेवालोंके पास इस प्रकारकी युक्तियाँ नितान्त अकिञ्चित्कर हैं। पुराणमें किसी इतिहासके देखते ही, यह पुराण उस इतिहासके बाद बना हुआ है इस प्रकारकी कल्पना कर डालना, ऐसा ही हास्यास्पद है कि जैसा वेदके ब्राह्मणभागके विषय में किन्हीं किन्हीं अर्व्वाचीन पुरुषोंकी कल्पना हास्यास्पद है, जिन्होंने यह बात लिखनेमें सङ्कोच नहीं की कि जब ब्राह्मणभाग में बहुतसे राजाओंके इतिहास लिखे गये हैं तो ब्राह्मणभाग उन राजाओंके जन्म के बाद बने होंगे, अत: ब्राह्मणभाग अपौरुषेय और ईश्वरवाक्य नहीं हैं। इस प्रकारकी युक्ति कितनी निस्सार है सो वेदके अध्याय में दिखाया है। अब पुराणके विषयमें भी ऐसी ही युक्ति अर्व्वाचीन पुरुष देते हैं इसलिये यह भी पूर्व सिद्धान्तके अनुसार ऐसी ही निस्सार है। यदि पुराणोंके अन्तर्गत इतिवृत्तोंको देखकर पुराणोंका काल निर्णय करना हो तब तो कोई काल निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि पुराणोंमें ऐसी ऐसी बातें लिखी हैं जो अभी तक हुई ही नहीं हैं, भविष्यत्में होंगी। जैसा कि कलिका लक्षण, कल्कि अवतार-का जन्म इत्यादि, तो जिन पुराणोंमें ये सब बातें लिखी हुई हैं, उन पुराणोंके जन्म दिनका पता कैसे चलेगा, क्योंकि अर्व्वाचीन पुरुषोंके सिद्धान्तके अनुसार उन पुराणोंका जन्म ही नहीं होना चाहिये था, क्योंकि उनमें लिखी हुई घटनाएँ अभी तक हुई ही नहीं हैं, कितनी ही होती जाती हैं जिससे उनके होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता और कितनी ही घटनाएँ भविष्यत्के गर्भमें हैं। द्वितीयतः ये सब भविष्य में होनेवाली घटनाएँ जब हो जायँगी तब उनके परवर्त्ती कालके मनुष्य भी क्या यह सिद्धान्त करेंगे कि उन घटनाओं के होनेके बादके ही ये सब पुराण बने हुए थे जिनमें ये सब घटनाएँ मिलती हैं? और क्या उन लोगोंका इस प्रकारका सिद्धान्त मिथ्या नहीं होगा? यदि होगा तो यह बात निश्चय है कि आजकल-के अदूरदर्शी लोग जो इस प्रकारकी युक्तियोंको लेकर पुराणोंको

आधुनिक कह रहे हैं इनका भी सिद्धान्त सर्व्वथा मिथ्या है। आजकल विज्ञानकी उन्नतिके दिनोंमें ज्योतिषगणनाके द्वारा निश्चय होता है कि किस वर्षके किस समय पर किस देशमें किस तरहसे चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण होगा, पञ्चाङ्गमें ये सब बातें पहलेसे ही लिखी रहती हैं तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना पड़ेगा कि ज्योतिर्गणना या पचाङ्गका विषय सूर्य्यग्रहण या चन्द्रग्रहणके बादका बना हुआ होगा? कभी नहीं। यदि साधारण मनुष्योंकी गणना या साधारण विज्ञानसे आविष्कृत दूरवीक्षणकी दृष्टिकी सहायतासे इतनी भविष्यत् बातें ठीक ठीक मिलजाती हैं तो ऋषियोंके ज्ञानरूपी दूरवीक्षण यन्त्र जो कि चतुर्दश भुवनको भेद करके भूत भविष्यत् वर्त्तमान बातोंको करगतामलकवत् सामने धर देता था, उसके द्वारा भविष्यत्के दो चार वृत्तान्तोंको देख लेना क्या योगी और ज्ञानी ऋषियोंके लिये असम्भव होसकता है? आजकल योगकी शक्ति लुप्तप्राय हो रही है, जिस ज्ञानसे ऋषि लोग भविष्यत् देखते थे वो ज्ञान भी कलिकल्मषदूषितान्तः करणमें प्रकाशित नहीं होता है, इसलिये ऋषियोंमें क्या शक्ति थी इसकी कल्पना भी आजकल असम्भव हो गई है, इसीलिये इस प्रकार सन्देह होता है और युक्तियाँ भी दी जाती हैं। परन्तु यह बात सत्य है कि हमारी शक्ति नष्ट हो गई है, इसलिये ऋषियोंका ज्ञान झूंठा नहीं हो सकता है। महर्षि लोग त्रिकालदर्शी थे, उनके ज्ञाननेत्रोंके सामने भारतके भविष्यत्की जो जो बातें देखनेमें आईं थीं वे सब पुराणोंमें वे लिख गये हैं, उनमें नवीनताकी कल्पना कभी नहीं हो सकती है।

(२) द्वितीय शंका यह है कि वेदके ब्राह्मणभाग ही पुराण हैं, इनके सिवाय और पुराण, ब्राह्मणोंकी और साम्प्रदायिक पुरुषोंकी कपोलकल्पना है। ब्राह्मणभाग पौरुषेय और पुराण नहीं है, परन्तु अपौरुषेय और मन्त्रब्राह्म हैं। और वह मन्त्रभागके सदृश वेदका एक भाग है, इनके विषय में पूर्व परामर्शके अनुसार वेदका मर्म-

ज्ञान करनेसे ही ब्राह्मणमात्रको पुराण कहनेकी भ्रान्ति दूर हो-जावेगी। अब पुराणोंको साम्प्रदायिक पक्षपात या कपोलकल्पना-से उत्पन्न बतानेके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने जो कुछ युक्तियां दी हैं उन्हींपर विचार किया जाता है। पुराणको साम्प्रदायिक कल्पना कहनेका कारण यह दियागया है कि शिवपुराणमें शिवजीकोही परमेश्वर मानकर विष्णु गणेश आदिकोंको उनका दास बनाया गया है। ऐसाही विष्णुपुराणमें विष्णुको परमात्मा मानकर और देव शिव, गणेश, काली आदिको उनका दास बनाया गया है। देवी-भागवतमें देवीको ही परमेश्वरी मानकर विष्णु गणेश आदिको उनका दास बनाया गया है। ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें एक मनुष्य-की बनाई हुई और सत्य नहीं हो सकती हैं, अतएव अवश्य शिव-पुराण विष्णुपुराण आदि साम्प्रदायिक लोगोंकी पक्षपातपूर्ण कपोलकल्पना होगी। अर्वाचीन पुरुषोंका यही सन्देह है। दुःखकी बात है कि इस प्रकारसे अल्पबुद्धि लोगोंने पुराणों पर कटाक्ष करने-की स्पर्द्धा तो की है परन्तु पुराणके स्वरूपसे यह लोग परिचित नहीं हैं। इस प्रकार निन्दा करनेके पहले पुराण क्या वस्तु है, इसको जानना चाहिये था। पुराण इतिहास नहीं है यह पहले ही कहा गया है। पुराणमें इतिहासका अंश होनेपर भी वो अंश थोड़ा है, पुराण भावप्रधान ग्रन्थ हैं, इसमें भावकी महिमा पूर्णतया बतायी गयी है। भावकी महिमा किस प्रकार है, एक ही पदार्थ भावके भेदसे कैसे भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होता है, सो इस दृष्टान्तसे समझमें आवेगा कि एकही स्त्री सात्त्विक पुरुषके पास जगदम्बाके रूपसे, राजसिक पुरुषके पास सौन्दर्यके आधाररूपसे, तामसिक पुरुषके पास कामके यन्त्ररूपसे, पिताके पास कन्यारूपसे, पुत्रके पास मातारूप-से, पतिके पास पत्नीरूपसे, पुत्रके पास मातारूपसे, पतिके पास पत्नीरूपसे, भाईके पास भगिनीरूपसे, केवल भावकी ही भिन्नताके द्वार प्रतीत होने लगती है। शास्त्रों में कहा है कि:—

भवो हि भावनामात्रो न भवः परमार्थतः ।

संसार भावनामात्र है, परमार्थतः नहीं है । इसलिये भावमय संसारसे मुक्त होनेके लिये भावहीके अवलम्बनसे भावमय भावग्राही भगवान्के विविध भावोंके अनुसार मूर्त्तियोंकी कल्पना और मूर्त्तियोंकी उपासना श्रीभगवान् वेदव्यासजीने पुराणोंसे बतलाई है। सगुण उपासनाके लिये विष्णु शिव, शक्ति आदि जो पाँच मूर्त्ति बताई गई हैं वे सब विष्णु, शिव, आदि पृथक् पृथक् देवता नहीं हैं, परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरकी ही पञ्चभावानुसार पाँच प्रकारकी मूर्त्ति है। एक ईश्वरकी पञ्चमूर्ति बनानेका कारण यह है कि संसार पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ होनेके कारण एक एक तत्त्वकी प्रधानतासे मनुष्योंकी प्रकृति भी पाँच प्रकारकी होती है। इसलिये ही एक भगवान्की पाँच मूर्त्ति कल्पना की गई है। यथा—आकाशतत्त्वप्रधान प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये विष्णुकी उपासना, पृथ्वीतत्त्व-प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये शिवजीकी उपासना, अग्नितत्त्व प्रधान प्रकृतिवाले मनुष्यके लिये, देवीकी उपासना, इत्यादि तत्त्वोंके प्राधान्यसे भिन्न भिन्न प्रकृतियुक्त साधकोंके अधिकारोंके अनुसार साधनकी सुविधाके लिये ही एक ईश्वरकी पञ्चभावमय मूर्त्ति कल्पित हुई है। वास्तवमें यह पाँच एकही सगुणब्रह्म ईश्वर हैं, इनमें केवल भावकी भिन्नता है, तात्विक भिन्नता कुछ भी नहीं। इसका रहस्य पहले भी बताया गया है। अतः सिद्धान्त हुआ कि विष्णु, शिव, शक्ति आदि पृथक् पृथक् देव देवी नहीं है परन्तु एक ईश्वरकी ही पाँच मूर्त्ति हैं। पुराण भाव और उपासना प्रधानग्रन्थ हैं, इसलिये जिस पुराणमें भगवान्के जिस भावको प्रधान रखकर उपासना बताई गई है, उस पुराणमें उस भावकी मूर्त्तिको ही सबसे मुख्य माना गया है। यदि यह पञ्चमूर्त्ति पृथक् पृथक् होतीं तो पुराणके उस प्रकार वर्णनमें अवश्य दोष होता। जैसा कि शिवपुराणमें शिवको प्रधान मानागया है, विष्णुपुराणमें विष्णु देवको ही प्रधान माना गया है इत्यादि। परन्तु यह पञ्चमूर्त्ति

एक भगवान्की ही मूर्ति है इसलिये इसप्रकार वर्णनमें कोई प्रकार दोष नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार वर्णनमें वस्तुका प्रभेद कुछ नहीं है केवल अधिकारके अनुसार भावकाही प्रभेद है। अतः पुराणके साम्प्रदायिक पुरुषोंकी कपोलकल्पना कहना मिथ्या प्रगल्भमात्र है।

पुराणपर तृतीय सन्देहका कारण यह है कि लोग पुराणकी भाषाको समझकर पढ़ना नहीं जानते। पुराणमें तीन प्रकारकी भाषा वर्णित है, यथा-पुराणसंहितामें लिखा है कि:—

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथाऽपरा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥

पुराणों में समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा, तीन प्रकारकी भाषा हुआ करती है। समाधिभाषा उसका नाम है कि जिसके द्वारा ऋषियोंने वेदके अतिगम्भीर समाधिगम्य तत्वोंको जानकर ठीक ऐसा ही उन्हीं सूक्ष्म कठिन भाषामें पुराणोंमें लिख दिया है। लौकिकभाषा उसीका नाम है कि जिसके द्वारा ऋषियोंने समाधिगम्य कठिन तत्वोंको लौकिकरीतिके अनुसार लौकिकभावकी सहायतासे सकल प्रकारके मनुष्योंको समझानेके लिये बहुत प्रकारके रूपक और अलंकारके साथ अतिसरस लौकिकभाषा द्वारा प्रकट किया है। तृतीय परकीयभाषा उसका नाम है कि जिसमें पौराणिक इतिहासोंके द्वारा धर्मतत्व समझाया गया है। यह तीनों प्रकारका वर्णन स्वभावसिद्ध है, क्योंकि संसारमें सब अधिकारी एकसे नहीं होते और न सब समय एक प्रकारका भाव अच्छा ही लगता है, इसी कारण पुराणोंमें इस प्रकारका भाषावैचित्र्य है। समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा, इन तीनों का यथार्थ रहस्य बिना समझे पुराणशास्त्रोंका अध्ययन अध्यापन और उपदेश करना पूर्ण फलजनक नहीं होता और न पूर्ण आनन्दको ही देनेवाला होता है। ऋषियोंने सकल प्रकारके अधिकारियोंके कल्याणके लिये

कृपा कर पुराणशास्त्रमें सर्व, जीवहितकारिणी तीन प्रकारकी भाषाओंका वर्णन किया है परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि ऋषियोंकी उस प्रकारकी कृपाके कारण उनके प्रति कृतज्ञ न होकर अज्ञानी पुरुषोंने उनको गाली देना और उनके लेखों पर सन्देह करना प्रारम्भ कर दिया है। जहाँ पुराणोंमें सामाधिगम्य विषयोंको ऋषियोंने अलङ्कारके साथ लौकिकभाषामें वर्णन किया है, वहाँ उस लौकिकभाषाका क्या आध्यात्मिक सत्यभाव है; इसको न देखकर उस आलङ्कारिक लौकिकभाषाको ही इतिहास समझकर अज्ञानी लोग ठट्ठा उड़ाया करते हैं और पुराण पर अश्रद्धा करते हैं। आँखमें पीतरोग (Jaundice) होनेसे पृथ्वी पीली दीखती है। इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि पृथ्वी पीलीही है, परन्तु आँखमें रोग होना ही समझा जाता है, उसीप्रकार पुराणमें जिन लोगोंको दोष दीखने लगगया है, उसमें पुराणका कोई दोष नहीं, परन्तु देखनेवालेकी बुद्धिका ही दोष है। विचार करनेकी बात है कि जिन पौराणिक तत्त्वोंको ऋषिलोग जितेन्द्रिय होकर संयम, ध्यान, धारणा व समाधिके द्वारा कहीं समाधिभाषामें, कहीं लौकिकभाषामें और कहीं परकीयभाषामें वर्णन करते थे, उनको आजकलके इन्द्रियपरायण अश्रद्धालु विषयी लोग किस प्रकारसे समझनेकी स्पर्द्धा कर सकते हैं। भगवान्‌के प्रति भक्तिके द्वारा चित्त शुद्ध होजाय, इन्द्रियोंको दमन करके चित्त एकाग्र होजाय, धारणा व ध्यानके द्वारा चित्त उन्नत होजाय, तभी पुराणके गूढ़ विषय समझमें आसकते हैं। अन्यथा वृथा धर्म्मविहीन पाश्चात्य शिक्षाके मदमें उन्मत्त होकर, पुराणकी जो बातें बुद्धिमें न आईं, उनको उड़ा देना बुद्धिमत्ता और विद्वत्ताका परिचय नहीं, परन्तु भीरुता और अहङ्कारका परिचय है। उनके तत्त्वोंको धीर और शुद्ध बुद्धि होकर निर्णय करना ही विद्वत्ता और योग्यताका परिचय है। इसलिये पुराणके तत्त्वोंको न उड़ाकर उन्हें सिद्ध करना चाहिए। स्मरण रहे

कि पुराणकी परकीयभाषामें इतिहासका सम्बन्ध होने पर भी लौकिकभाषामें सब स्थान पर इतिहास नहीं है, उसमें बहुतसे आलङ्कारिक वर्णन होते हैं। केवल समाधिभाषाको सरल करनेके लिये ही लौकिकभाषाका प्रयोग होता है और समाधिभाषाश्रित धर्मको पुष्ट करनेके लिये परकीयभाषाका प्रयोग होता है। पुराणके समझनेके विषयमें भ्रम होनेका और एक कारण यह है कि लोग एक आध पुराणको पढ़कर ही सब विषयोंका सिद्धान्त निकालना चाहते हैं, परन्तु ऐसा करनेसे सिद्धान्त अच्छा नहीं निकलेगा, क्योंकि एक पुराणमें सब प्रकारकी भाषा या भावका वर्णन नहीं है, अधिकन्तु एकही तत्वको किसी पुराणमें समाधिभाषाके द्वारा और किसी पुराणमें लौकिकभाषाके द्वारा वर्णन किया गया है। इस प्रकार एकही तत्वको कहीं आध्यात्मिक भावमें, किसी पुराणमें आधिदैविक भावमें और किसी पुराणमें आधिभौतिक भावमें वर्णन किया गया है। इसलिये सब पुराणोंके पढ़नेसे ही ठीक ठीक तत्व मालूम हो सकता है, जोकि नीचेके दृष्टान्तसे स्पष्ट होगा। विष्णु पुराणके प्रथमाध्यायमें सृष्टिवर्णनप्रसंगमें प्रकृति और पुरुषके संयोग से जिस भाषामें महत्तत्व, अहंतत्व, मन, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदिकी सृष्टिका वर्णन किया गया है वह सब समाधिभाषा है। इसी समाधिगम्य तत्वको देवीभागवतमें प्रकृतिपुरुषकी रासलीलारूपसे लौकिकभाषा द्वारा बतोया गया है। अतः भाषा, भाव तथा मर्मज्ञानके साथ पुराणका पाठ करनेसे ही सब शङ्का दूर हो सकेगी।

ज्ञानका भण्डार होने पर भी अज्ञानी लोगोंके मुखसे तन्त्रशास्त्रके विरुद्ध बहुधा दो बातें सुननेमें आती हैं। प्रथम तो तन्त्रशास्त्रोंमें धर्मशास्त्रके विरुद्ध खानपानादिकी विधि वामाचार नामक तन्त्रोक्त आचारमें पाई जाती है और द्वितीय, तन्त्रशास्त्रोंमें मारण, वशीकरण आदि तामसिक सिद्धियोंका पाया जाना है। परन्तु धीरताके साथ

निरपेक्षबुद्धि द्वारा विचार करनेसे यही सिद्ध होगा कि "तन्त्रशास्त्रों में इतनी सब बड़ी बड़ी बातोंके साथ ऐसे निम्न अधिकारका वर्णन रहनेसे तन्त्रकी महिमा और उसका गौरव अधिक ही पाया जाता है"। जिस शास्त्रमें बड़ेसे बड़े विषय और छोटेसे छोटे विषय सभी पाये जाँय उस शास्त्रकी महिमा अधिक ही होनी चाहिए। विशेषतः वामाचारके विषयमें तन्त्रशास्त्र ही क्या कहते हैं उसका अनुवाद नीचे लिखा जाता है:—

"साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारवर्णन आचार्योंने किया है। यथाः—दिव्य, दक्षिण और वाम। साधकके अधिकार सात कहे गये हैं। यथा:—दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव। इन अधिकारोंके द्वारा साधक मुक्तिपदको उपलब्ध कर सकता है, इसमें संदेह नहीं। साधकके इन सात अधिकारोंके नाम तन्त्रादिशास्त्रोंमें दिव्य, दक्षिण और वाम आचारोंके अनुसार बहुप्रकारके हैं जो स्व स्व संप्रदायोंमें व्यवहृत होते हैं। वाम और दक्षिण एक दूसरेसे विरुद्ध हैं। दोनोंका लक्ष्य निवृत्तिमूलक होनेपर भी एक प्रवृत्तिपर और दूसरा निवृत्तिपर है। मनुष्योंमें प्रवृत्ति स्वाभाविकी है, किन्तु निवृत्ति महाफल देनेवाली है, इस कारण उपासनामें भी दोनों आचारोंका वर्णन देखनेमें आता है। आचार उपासनाके अन्तर्भावोंका परिचायक और त्रिविध शुद्धिपरिचायक है, ऐसा विद्वज्जनोंने कहा है। स्व स्व आचारके भेद श्रीगुरुमुखसे जान लेने योग्य हैं। जिस आचारमें निवृत्ति मार्गके पूर्णाधिकारिगण स्वम वतः रत होते हैं ऐसा दिव्याचार वा है जो पूर्वोक्त दोनों आचारोंसे तृतीय है। वाम और दक्षिण दोनों आचार परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु दिव्याचार दोनोंसे अविरुद्ध और सर्वजीवहितकर है। वाम आचार प्रवृत्तिपर और दक्षिण निवृत्तिपर है पर दिव्याचार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनोंसे अतीत है और यह द्वन्द्वातीत होनेसे परमानन्दप्रद माना गया है। शक्तिकी

उपासनामें समस्त तन्त्रशास्त्रके अनुसार यह आचार वामाचार और दक्षिणाचार इन दो भेदोंसे दो प्रकारका होता है। इस शक्तिकी उपासनामें शक्तिको प्रधानता होनेसे तत्त्वदर्शियोंने साधनोंका बहु विस्तार किया है एवं अधिकार भी दो रक्खे हैं। तन्त्रोंमें शक्ति उपासनाविधिका बहुत विस्तार है। तन्त्रशास्त्र महर्षियोंने दक्षिणाचारसे जो विपरीत हो उसे वामाचार कहा है। साधकके सात्विक होनेपर दिव्याचार कल्याणकारक होता है और राजसिक साधकके लिये पश्वाचार हितकारक है एवं तामसिक साधक वामाचारका अधिकारी है। वामाचारको ही वीराचार भी कहते हैं। यह कलियुगमें लोक कल्याणार्थ निर्णीत हुआ है। कलियुगमें अपनी अपनी प्रकृतिके वश जीवगण इस आचारके द्वारा अक्षेय कल्याणसाधन कर सकेंगे। इस प्रकार प्रवृत्तिकी क्रियाओंमें निवृत्तिके लक्ष्य रहनेके कारण घोर प्रवृत्तिकी चेष्टाओंमें भी साधक आत्मोन्नति करता हुआ सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मुनियोंसे आहत यही वामाचारका रहस्य है। प्रायः तन्त्रोंमें शक्ति उपासनामें ही वामाचार क्रिया प्रधान लतासाधनका वर्णन है। परन्तु वैष्णव आदि चार संप्रदायोंमें जहाँ युगल उपासनाकी विधि है, ऐसे संप्रदायोंमें भी इस क्रियाका वर्णन किसी किसी तन्त्रमें मिलता है। दक्षिणाचारमें जिस प्रकार दो भेद हैं उसी प्रकार वामाचारमें आठ भेद तन्त्रिकोंसे माने गये हैं। इस आचारमें साधकके सात अधिकार माने गये हैं सो क्रमशः उन्नति करता हुआ साधक श्रीगुरुदेवकी कृपासे प्राप्त करता है। वामाचारके इन्हीं सात अधिकारोंके नाम दीक्षा महादीक्षा आदि रूपमें पहले कहे गये हैं। अस्तु तन्त्रोक्त पूर्वकथित वर्णनसे ही वामाचार का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हुआ। इसके द्वारा तन्त्रशास्त्रमें सन्देहकारी सज्जनोंका सन्देह अपने आप ही दूर हो जायगा। इस विषयमें अब अधिक सिद्धान्त निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब दूसरा सन्देह निराकरण करनेके लिये पूज्यपाद महर्षिगणने

किसप्रकारसे सिद्धान्त निर्णय किया है सो विचार द्वारा देखने योग्य है।

भक्तिमार्गके प्रधान आचार्य्य भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजीने अपने सूत्रोंमें कहा है कि:—

सर्व्वाऽनृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात्।

सब छोड़ देने पर फिर सिद्धिकी क्या आवश्यकता हुआ करती है? आवश्यकता अवश्य है, क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकारकी होती है। तात्पर्य्य यह है कि यदि जिज्ञासुगणके हृदयमें यह शङ्का उठे कि जीवको तो सदा मुक्ति उपायका ही चिन्तन करना उचित है, भक्ति ही उनके लिये श्रेय है, तो पुन ऐश्वर्य्योंका वर्णन क्यों किया जाता है? साधक भक्तगण ऐश्वर्य्य लेकर क्या करेंगे? इनके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव अनन्त हैं, इस कारण जीवोंकी मति गतिका भी ठिकाना नहीं; सबही जीव मुक्तिके अभिलाषी थोड़ेही होते हैं। जो साधक ऐश्वर्य्यका भिखारी हो उसके अर्थ ऐश्वर्य्योंका होना भी आवश्यक है, क्योंकि जब साधक अपनी कामनाके अनुसार सिद्धियोंको प्राप्त कर लेगा; तबही वह आगेको बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिका अधिकारी होही नहीं सकता। इस कारण मध्यवर्त्ती साधकोंके हितार्थ और प्रार्थनाकारियोंकी प्रार्थना पूर्णकरणार्थ उन पर कृपावश हो आचार्य्यगणने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धियोंका वर्णन किया है। इसी सिद्धान्त पर स्थित रहकर प्राचीन आचार्य्यगणने प्रायः ही अपने साधनसम्बन्धीय ग्रन्थसमूहमें नाना सिद्धि तथा सिद्धियोंकी प्राप्तिका कौशल वर्णन किया है। हठयोगके ग्रन्थसमूह, लययोगके ग्रन्थसमूह, मन्त्रयोगके ग्रन्थसमूह और उपासनाकाण्डके ग्रन्थसमूहमें प्रायः ही इन सिद्धियोंका वर्णन पाया जाता है। विशेषतः सब प्रकारके साधनमार्गोंके आदि विज्ञानरूप "योगदर्शन" में इन सिद्धियोंका वर्णन बहुतही विस्तृतरूपसे किया गया है। वैदिकधर्म्म समाजमें जितने प्रकारके

साधनसम्प्रदाय प्रगट हैं उन सबोंकी ही एकमात्र भित्ति योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन है, जो कोई सम्प्रदाय ज्ञानोन्नति अथवा मुक्तिपदकी इच्छासे किसी प्रकारका साधन करता हो वह अवश्य इस अभ्रान्त और सार्व्वभौम विज्ञानके अनुसार ही होगा। इस दर्शनशास्त्रके पठन करनेसे स्वतः ही प्रमाणित होता है कि पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि भी सिद्धिवर्णन एवं सिद्धि विस्तारके विशेष पक्षपाती थे; इसी कारण योगिराज महर्षिजीने अपने योगदर्शनमें "विभूतिपर्व्वाध्याय" नामसे एक स्वतन्त्र अध्याय ही प्रणयन किया है। शास्त्रद्वारा एवं प्राचीन महर्षिगणके सिद्धान्त द्वारा सिद्धियोंकी पुष्टिका प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है। सिद्धिसमूह द्वारा प्रकृतिराज्य पर साधकका अधिकार दृढ़ हुआ करता है, इस कारण साधकका जबतक प्रकृति राज्यसे सम्बन्ध है तबतक निःस्वार्थरूपेण उसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे अवश्य रहना सम्भव है। यथा योगदर्शनमें:—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥"

सिद्धियाँ समाधिदशामें हानिजनक होने पर भी व्युत्थान या लौकिक दशामें, प्रवृत्तिपरायण मनुष्योंकी रुचि व विश्वास धर्म्म-मार्गमें बढ़ानेके लिये हितकर हैं। गुणभेदसे यद्यपि सिद्धियोंमें छुटाई बड़ाई हुआ करती है; गुणभेदसे यद्यपि साधकगण सिद्धिकी प्राप्ति द्वारा निःस्वार्थपरायण अथवा घोर स्वार्थपरायण हुआ करते हैं; गुणभेदसे यद्यपि निःस्वार्थ कर्म्म द्वारा साधकगण क्रमशः उन्नत-दशाकी प्राप्ति एवं स्वार्थपूर्ण कर्म्मद्वारा क्रमशः अधोगतिकी प्राप्ति किया करते हैं; तथाच साधकके साथ सिद्धियोंका सम्बन्ध अवश्य ही रहना सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं और पहली दशामें अर्थात् निम्नश्रेणीकी दशामें तो बालकको मिठाईके लोभसे अक्षरशिक्षा देने की न्याईं क्षुद्र सिद्धियोंका लोभ बहुत ही हितकर है इसमें सन्देह नहीं। तन्त्रोंमें निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकारकी सिद्धियोंका

वर्णन है और साधक गुणभेदसे तीन प्रकारके हुआ करते हैं, जिनमें से सात्विक साधकको तो सिद्धियोंकी इच्छा ही नहीं रहती, राजसिक साधकको उत्कृष्ट सिद्धियोंकी इच्छा रहती है और तामसिक साधक सदा निकृष्ट सिद्धियोंके लिये व्यग्र रहा करते हैं। इसी कारणसे राजसिक एवं तामसिक साधकोंकी कामनापूर्तिके अर्थ और साधनमार्गमें चमत्कार दिखाकर उनको अग्रसर करनेके अर्थ जीवों पर अतिकृपा कर तन्त्रशास्त्रोंने सिद्धियोंका प्रकाश किया है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगाकि यद्यपि साधनमार्गमें सिद्धियाँ दुःखदायी होती हैं परन्तु उन सिद्धियोंकी पूर्ण आवश्यकता भी रहनेसे तन्त्रशास्त्रोंमें इस प्रकारसे सिद्धियोंका वर्णन किसी प्रकारसे भी निन्दनीय नहीं हो सकता।

तन्त्रशास्त्र सर्व्वलोकहितकारी है ऐसा वचन तन्त्रोंमें प्रायः मिलता है। तन्त्रोंका प्रकाश कलिमलदूषित चित्त कलिकालके जीवोंके लिये विशेषकर से हुआ है। अतः कलिकालके प्रभावसे जिन साधकोंकी वासना निम्न श्रेणीकी और मन्द है व जो साधक भोगलोलुप हैं उनके अर्थ उक्त प्रकारका आचार और उक्त प्रकारकी क्षुद्र सिद्धियाँ उनको लोभ दिखाकर उपासनामार्गमें अग्रसर करनेके लिये सर्व्वथा हितकारी हैं इसमें सन्देह नहीं। फलतः निरपेक्ष विचारद्वारा यह निर्णय हुआ कि तन्त्रशास्त्रमें सर्व्वलोकहितकर अनेक उपयोगी और आध्यात्मिक उन्नतिकारी विषयोंके साथ यदि ऐसे निम्न कोटिके विषय भी हैं तो उससे कुछ दूषण नहीं है; प्रत्युत उनके द्वारा तन्त्रशास्त्रोंकी सर्व्वजीवहितकारिता और पूर्णता सिद्ध होती है। वेद पूर्ण हैं इसलिये वेदोंमें भी जैसा सात्विक, राजसिक व तामसिक साधकोंके उपकारके अर्थ ज्ञानयज्ञ, पशुयज्ञ और श्येनयज्ञका वर्णन है, जिनको अधिकारानुसार अनुष्ठान करनेसे अपकार न होकर उपकार ही होता है (जैसा कि वेदके विषयमें कहा गया है) उसीप्रकार तन्त्रके अन्तर्गत तामसिक साधनोंके विषयमें

भी समझना चाहिये। आज कल बहुत लोग जो उनपर हँसी उड़ाया करते हैं इसके दो कारण हैं। प्रथमतः अधिकारभेदके रहस्यको भूल जानेसे ही ये सब बातें खराब लगती हैं। स्मरण रहना चाहिये कि संसारमें कोई वस्तु खराब या कोई वस्तु अच्छी नहीं है। अच्छी बुरी अपने अपने अधिकारके अनुसार ही हुआ करती हैं। एक वस्तु जो किसी मनुष्यके लिये अच्छी है वही दूसरेके लिये बुरी हो सकती है। तन्त्रके खराब साधन सात्विक व राजसिक मनुष्योंके लिये खराब व पतनके कारण हो सकते हैं परन्तु महा तामसिक यथेच्छ मद्य मांस मैथुनादि सेवन करनेवाले मनुष्योंके लिये उन सब खराब वस्तुओंके साथ धर्मभावयुक्त साधन मिलाकर उन वस्तुओंका ही व्यवहार करना अनर्गल व्यवहारसे कुछ अच्छा अवश्य है। जिससे धीरे धीरे धर्मभाव बढ़कर वे सब बुरी आदतें छूट सकती हैं। यही इसका प्रथम रहस्य है। द्वितीयतः तन्त्रशास्त्रके रहस्य और अधिकारके न जाननेसे आजकल बहुत लोगोंके लिये तान्त्रिक साधन धर्मके आड़में पाप करनेका एक 'ज़रिया' बन गया है, योग्य गुरुके प्राप्त न होनसे अधिकारक परीक्षा भी नहीं होती और इनका फल यह हो रहा है कि बहुतसे पापी व ढोंगी लोग कपटसाधक बनकर सकल प्रकारके पाप कर रहे हैं और शास्त्रका प्रमाण देकर दूसरेको भी धोखा दे रहे हैं। दृष्टान्तरूपसे चालीमार्गको समझ सकते हैं। इस प्रकार अन्याय सर्वथा निन्दनीय है। इसमें तन्त्रका कोई दोष नहीं है, दोष उन कपटचारी पापियोंका ही है। अतः इसके लिये तन्त्रका खण्डन न होकर उन पापियोंका दमन होना चाहिए। तब ही देशका यथार्थ कल्याण होगा। तन्त्रके तामसिक साधनोंके द्वारा जो कहीं कहीं 'मुक्ति' 'तीर्थगमन' आदि उन्नत फलोंके विषयमें तान्त्रिक प्रमाण मिलते हैं उनमेंसे बहुतसे वचन तो उच्छृंखल तामसिक लोगोंको उनके अधिकारानुसार साधनमें प्रवृत्ति देनेके लिये 'प्ररोचक' वाक्य हैं।

और बहुतसे मुक्तिराज्यमें उन्नत होनेके विषयमें 'क्रमोन्नति' सूचक वाक्य हैं। अतः इन वचनोंसे भी किसीको भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। ये सब रहस्य बहुत ही सुन्दर और गूढ़ हैं। बात इतनी ही है कि जिस प्रकार पुराणकी भाषाओंका ज्ञान न रहनेसे और सब महापुराण, सब पुराण और सब उपपुराणको न पढ़नेसे पुराणोंके मतभेदों और रहस्योंका पता नहीं चलेगा, उसी प्रकार सब उपासनाके तन्त्र यथाक्रम पाठ न करनेसे तन्त्रोंके सम्बन्धकी सब शङ्काएँ दूर नहीं हो सकती, यह स्थिर सिद्धान्त है।

वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र, इन चार प्रकारके अध्यात्मग्रन्थों के साथ सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुगका यथाक्रम सम्बन्ध, चारों युगोंके मनुष्योंका अधिकारनिर्णय और तन्त्रशास्त्रोक्त आचारका अधिकारिनिर्णय आदि विषय तन्त्र शिरोमणि महानिर्व्वाण में शिवपार्वती संवादसे किस प्रकार वर्णन किया गया है सो नीचे लिखा जाता है।

श्रीआद्योवाच।

भगवन्! सर्व्वभूतेश! सर्व्वधर्म्मविदांवर!।
कृपावता भगवता सर्व्वाऽन्तर्यामिना पुरा॥
प्रकाशिताश्चतुर्वेदा सर्व्वधर्म्मोपबृंहिताः।
वर्णाऽऽश्रमाऽऽदिनियमा यत्र चैव प्रतिष्ठिताः॥
तदुक्तयोगयज्ञाऽऽद्यैः कर्मभिर्भुवि मानवाः।
देवान् पितॄन् प्रीणयन्तः पुण्यशीलाः कृते युगे॥
स्वाध्यायध्यानतपसा दयादानैर्जितेन्द्रियाः।
महाबला महावीर्य्या महासत्वपराक्रमाः॥
देवाऽऽयतनगा मर्त्याः देवकल्पा दृढव्रताः।
सत्यधर्मपराः सर्वे साधवः सत्यवादिनः॥

राजानः सत्यसंकल्पाः प्रजापालनतत्पराः।
मातृवत्परयोषित्सु पुत्रवत्परसूनुषु ॥
लोष्ठवत्परवित्तेषु पश्यन्तो मानवास्तदा।
आसन्स्वधर्मनिरताः सदा सन्मार्गवर्त्तिनः ॥
न मिथ्याभाषिणः केचिन्न प्रमादरताः क्वचित्।
न चोरा न परद्रोहकारका न दुराशयाः ॥
न मत्सरा नाऽतितृष्णा नाऽरिलुब्धा न कामुकाः।
सदन्तःकरणाः सर्वे सर्वदाऽऽनन्दमानसाः ॥
भूमयः सर्वसस्याऽऽढ्याः पर्जन्याः कालवर्षिणः।
गावोऽपि दुग्धसंपन्नाः पादपाः फलशालिनः ॥
नाऽकालमृत्युस्तत्राऽऽसीन्न दुर्भिक्षं न वा रुजः।
हृष्टाः पुष्टाः सदाऽऽरोग्यास्तेजोरूपगुणऽन्विताः ॥
स्त्रियो न व्यभिचारिण्यः पतिभक्तिपरायणाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः स्वाऽऽचारवर्त्तिनः ॥
स्वैः स्वैर्धर्म्मैर्यजन्तस्ते निस्तारपदवीं गताः।
कृते व्यतीते त्रेतायां दृष्ट्वा धर्म्मव्यतिक्रमम् ॥
वेदोक्तकर्म्मभिर्मर्त्या न शक्ताः स्वेष्टसाधने।
बहुक्लेशकरं कर्म्म वैदिकं भूरिसाधनम् ॥
कर्त्तुं न योग्या मनुजाश्चिन्ताव्याकुलमानसाः।
त्यक्तुं कर्त्तुं न चाऽर्हन्ति सदा कातरचेतसः ॥
वेदार्थयुक्तशास्त्राणि स्मृतिरूपाणि भूतले।
तदा त्वं प्रकटीकृत्य तपःस्वाध्यायदुर्बलान् ॥
लोकानतारयत्पापाद्दुःखशोकाऽऽपदप्रदात्।
त्वां विना कोऽस्ति जीवानां घोरसंसारसागरे।
भर्त्ता पाता समुद्धर्त्ता पितृवत्प्रियकृत्प्रभुः।
ततोऽपि द्वापरे प्राप्ते स्मृत्युक्तयुक्तमोज्झिते ॥

धर्म्मोऽर्द्धलोपे मनुजे आधिव्याधिसमाकुले।
संहिताद्युपदेशेन त्वयैवोद्धारिता नराः॥
आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्म्मविलोपिनि।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्म्मप्रवर्त्तके॥
न वेदाः प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः।
नानेतिहाससंयुक्तानां नानामार्गप्रदर्शिनाम्॥
बहुलानां पुराणानां विनाशो भविता विभो!।
तदा लोका भविष्यन्ति धर्म्मकर्मबहिर्म्मुखाः॥
उच्छृङ्खला मदोन्मत्ताः पापकर्म्मरताः सदा।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः॥
स्वल्पाऽऽयुर्मन्दमतयो रोगशोकभयाकुलाः।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाऽऽचारपरायणाः॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्ताऽपहारकाः।
परनिन्दापरद्रोहपरीवादपराः खलाः॥
परस्त्रीहरणे पापशङ्काभयविवर्जिताः।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः॥
विप्राः शूद्रसमाऽऽचाराः संध्यावन्दनवर्जिताः।
अयाज्ययाजका लुब्धा दुर्वृत्ताः पापकारिणः॥
असत्यभाषिणो मूर्खा दाम्भिका दुष्प्रपञ्चकाः।
कन्याविक्रयिणो व्रात्यास्तपोव्रतपराङ्मुखाः॥
लोकप्रतारणार्थाय जपपूजापरायणाः।
पाखण्डाः पण्डितम्मन्याः श्रद्धाभक्तिविवर्जिताः॥
कदाऽऽहाराः कदाऽऽचारा भृतकाः शूद्रसेवकाः।
शूद्राऽन्नभोजिनः क्रूरा वृषलीरतिकामुकाः॥
दास्यन्ति धनलोभेन स्वदारान्नीचजातिषु।
ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत्केवलं सूत्रधारणम्॥

नैव पानादिनियमो मद्यपाऽदन्यविवेचनम्।
धर्म्मशास्त्रे सदा निन्दा साधुद्रोहो निरन्तरम्॥
मत्कथाऽऽलापमात्रञ्च न तेषां मनसि क्वचित्।
त्वया कृतानि तन्त्राणि जीवोद्धरणहेतवे॥
निगमाऽऽगमजातानि भुक्तिमुक्तिकराणि च।

हे भगवन्! हे सर्वभूतेश! हे सर्वधर्मविदांवर! तुम बड़े ऐश्वर्यशाली, कृपासमुद्र और सबके अन्तर्यामी हो। तुम्हारे द्वारा ही सृष्टिके आदि कालमें चतुर्वेदोंका प्रकाश हुआ था, जिन वेदसमूह द्वारा सर्व प्रकारके धर्मोंकी वृद्धि और वर्णाऽऽश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा होती आई है, उन वेदोक्त याग यज्ञरूप कर्मसमूहसे पृथ्वी पर पुण्यशील मानवगण सत्ययुगके अन्तर्गत सदा धर्मसाधन करते हुए देवतागण और पितृगणोंकी परितृप्ति किया करते थे। उस सत्ययुगमें मनुष्यगण स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दानादि धर्मकार्यों द्वारा जितेन्द्रिय हुआ करते थे। वे महाबलशाली, महावीर्यवान् और अत्यन्त सत्यपरायण होते थे। वे धर्म्म पर ऐसे दृढ़ थे कि शक्ति रखने पर एवं अत्यन्त शक्तियुक्त होने पर भी साधु और सत्यवादी होते थे। उस युगके राजागण सत्यसंकल्पी और प्रजापालनतत्पर हुआ करते थे; वे परस्त्रियोंको मातृवत् और प्रजाओंको पुत्रवत् समझा करते थे। उस समयके मानवगण पराये धनको लोष्ठवत् समझते थे और अपने स्वधर्ममें सदा सर्वदा लिप्त रहकर सन्मार्गानुगामी हुआ करते थे। उस श्रेष्ठयुगमें कोई पुरुष भी मिथ्यावादी नहीं होता था; किसी कालमें प्रमोदसे भी कोई चौर्य्यवृत्तिधारी, जीव-दुःखदायी अथवा परस्त्रीगामी नहीं हुआ करते थे। उस समय पुरुषगण मात्सर्य्ययुक्त, अतिक्रोधी, अतिलोभी अथवा कामुक देख नहीं पड़ते थे, संपूर्ण मनुष्यगण सदा आनन्दमें मग्न रहा करते थे। उस उत्तम कालमें भूमि सस्यशालिनी, मेघसमूह यथाकालमें वर्षण-

कारी, गोसमूह बहु दुग्धवती और वृक्षसमूह प्रचुर फलवान् हुआ करते थे। उस समयमें किसी जीवकी भी अकालमृत्यु नहीं होती थी, रोग अथवा दुर्भिक्षका नाममात्र नहीं था। प्रजासमूह हृष्ट, पुष्ट, बलवान्, तेज, रूप और सद्गुणसंपन्न हुआ करते थे। स्त्रियोंमें व्यभिचारका नाममात्र नहीं था और वे सदा ही पतिभक्तिपरायण हुआ करती थीं। उस उत्तम सत्ययुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण अपने स्व स्व आचारोंके अनुगामी होकर निज निज वर्ण-मर्यादाके अनुसार धर्मसाधन करते हुए परम कल्याणको प्राप्त हुआ करते थे। जब सत्ययुग बीत चुका तो धर्ममें व्यतिक्रम होने लगा। एवं तब मानवगण वेदोक्त सब धर्मोंके ठीक ठीक अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होने लगे। तब भूरि साधनयुक्त वैदिक कर्ममें बहुत क्लेश देखकर उन कर्मोंसे मनको फेरने लगे, परन्तु वैदिक कर्मके त्यागसे पाप होनेके भयवशात् कर्मोंको एकबार ही त्याग न कर सके, प्रत्युत वे उन कठिन कर्मोंके सम्पादन करनेमें असमर्थ होकर सदा ही कातरचित्त रहा करते थे। हे नाथ! उसी समय तुमने वेदार्थयुक्त स्मृतिशास्त्रोंका प्रचार इस पृथ्वी पर किया था। उन श्रेष्ठ शास्त्रसमूह द्वारा तुमने दुःख, शोक, रोगप्रद पापसे जीवोंकी रक्षा की थी। त्रेतायुगके मनुष्योंके वेदोक्त तपस्या और स्वाध्यायमें असमर्थ होनेके कारण स्मृतिशास्त्रोक्त कर्मकाण्डोंने उनकी भली भाँति रक्षा की थी, एवं उस समयके जीवोंका उद्धार किया था। इस भयानक संसारसमुद्रमें तुम्हारे अतिरिक्त जीवसमूहोंके भरण-कर्त्ता, रक्षाकर्त्ता, उद्धारकर्त्ता और पिता की नाईं प्रियकारी प्रभु और कौन है? तदनन्तर द्वापरयुगकी उत्पत्तिमें जीवोंने स्मृति-शास्त्रोक्त सुकृतियोंका त्याग कर दिया, धर्माधर्मभाव लोपको प्राप्त हो गया, तब मनुष्यगण मानसिक क्लेश और शारीरिक व्याधियोंसे आकुलायित हो गये। तब तुम्हारे द्वारा ही महर्षि व्यास आदि रूपसे संहिता और पुराण आदि शास्त्र द्वारा संसारके जीवोंका उद्धार

हुआ था। तत्पश्चात् पापरूपी, स्वधर्मविलोपकारी, दुराचार-दुष्कर्म विस्तारकारी निकृष्ट कलियुगका आगमन होगा। तब वेदसमूहकी प्रभुता आर्योंके चित्त पर न रहेगी, स्मृति शास्त्रसमूहके शरण भी मनुष्यगण न आ सकेंगे, एवं नाना इतिहासपूर्ण सत्यपथप्रदर्शनकारी पुराणशास्त्र भी कार्य्यकारी न हो सकेंगे। हे प्रभो! इस प्रकार पुराण आदि शास्त्रोंके लोप होने पर मनुष्यगण जब धर्म कर्मविमुख होने लगेंगे और धर्मश्रृङ्खलाका तोड़कर मदमें उन्मत्त, पापकर्ममें रत, घोर-कामी, अतिलुब्धक, निर्दय, निष्ठुर, अति दुर्भाषी, शठ, अति अल्पायु विशिष्ट, मन्दबुद्धि, रोग शोकमें आकुल, श्रीहीन, बलहीन, नीच-आचार-परायण, नीचसंगमें रत, परवित्तापहारक, अतिनीच, परनिन्दापरायण, परद्रोहकारी आदि दोषोंसे युक्त होने लगेंगे, परस्त्रीहरणमें उनको कोई भी शङ्का न रहेगी और वे सदा असत् कर्म करनेमें निर्भय रहेंगे और सदा निधन, मलिन, दीन और चिररोगी होवेंगे। विप्रसमूह जब संध्यावन्दनाविरहित होकर शूद्राचारपरायण नीच जातियोंके याजक, महालोभी, महादुर्वृत्त, पापकारी, मिथ्यावादी, मूर्ख, महा-अभिमानी, दुष्ट, शास्त्रक्रयविक्रयकारी, कन्याविक्रयकारी, संस्कार-विहीन और तपस्या से पराङ्मुख होने लगेंगे। वे जीवोंके चित्त पर भ्रम डालनेके निमित्त दिखावटमें अतिपूजापरायण परन्तु अन्तरमें अतिघोर पापाचरण करनेवाले, अपनेको पण्डित करके माननेवाले, शास्त्रोंमें श्रद्धाहीन और ईश्वरमें भक्तिहीन होने लगेंगे। कलिके ब्राह्मणगण अशुद्ध तामसिक भोजन करनेवाले, नीचाचारपरायण, अपने ही पेट भरनेवाले, शूद्रोंकी सेवा करनेवाले, शूद्रअन्नभोजी और शूद्रस्त्रीमें सम्भोगकी इच्छा करनेवाले होने लगेंगे। इहलोकमें धनकी इच्छासे अपने स्त्रियों तकको नीच जातिमें समर्पण कर सकेंगे। इनमें ब्राह्मणका चिह्न केवल यज्ञसूत्रमात्र रहेगा, इन ब्राह्मणोंके पान भोजनका कोई नियम नहीं रहेगा और वे यथेच्छाचारी होवेंगे। वे श्रेष्ठकुलोद्भवगण तब सर्वदा वेद और धर्मशास्त्रोंकी निन्दा और

साधुओंसे द्रोह किया करेंगे। उनके मनमें सत्वसंकल्प अथवा सद्वार्त्ताका उदयमात्र नहीं होगा। इसी कारण जीवोंके कल्याणार्थ आपने उनके भोगसाधन और मुक्तिसाधन, एकाधारमें इन दोनों प्रकारके साधनके लिये वेद और शास्त्रके अनुकूल तन्त्रशास्त्रका प्रणयन किया है।

पूर्व्वकथित तन्त्रशास्त्रोक्त वचनके द्वारा ही यह सिद्ध होता है कि कैसे युगके कैसे अधिकारियोंके लिये तन्त्रोक्त विशेष विशेष साधनपद्धति और विशेष विशेष आचार, विशेष विशेष तन्त्रग्रन्थोंमें वर्णन किये गये हैं। तन्त्रशास्त्रके ग्रन्थ सूक्ष्म विचार द्वारा सात भागमें विभक्त हो सकते हैं। यथा—ज्ञानकाण्डप्रधान तन्त्र, कर्म्म-काण्डप्रधान तन्त्र, वैष्णव उपासनाप्रधान तन्त्र, सूर्य्य उपासनाप्रधान तन्त्र, शक्ति उपासनाप्रधान तन्त्र, गणपति उपासनाप्रधान तन्त्र और शिवोपासनाप्रधान तन्त्र। इनमेंसे शक्ति-उपासनाप्रधान तन्त्रोंकी संख्या कुछ अधिक है और उन्हींमें विशेष विशेष आचार और विशेष विशेष साधन कुछ ऐसे हैं कि जिनके विषयमें ऐसे लोग कुछ शङ्का कर सकते हैं कि जिन्होंने सब प्रकारके तन्त्रशास्त्रको नहीं पाठ किया है। फलतः कलिकालके अर्थ तन्त्रशास्त्रोंकी उपकारिता-के विषयमें तो किसीको सन्देह ही नहीं होना चाहिये।

येही सब शास्त्रजगत्‌में कोलाहलके कारण तथा उसके दूर करनेके उपाय हैं। इनके अनुसार पुरुषार्थ करनेसे अवश्य ही सुफल प्राप्त होगा तथा आर्यशास्त्रके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञान द्वारा संसार-में शान्ति और परम उन्नति संसाधित हो सकेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

दार्शनिक जगत् ।

धर्मजगत् और वेदादि शास्त्रजगत्की तरह दर्शनशास्त्रीय जगत्में भी सप्तज्ञान भूमि तथा सप्त अज्ञान भूमिके पार्थक्य ज्ञानके अभावसे अनन्त संग्राम और इन संग्रामोंके फलसे बहु सम्प्रदाय, पन्थ, मत मतान्तरोंकी वृद्धि तथा उनमें स्वाभिमानजन्य भीषण रागद्वेषकी उत्पत्ति होगई है। एक ओर तो आत्मानुभवशून्य दर्शनशास्त्रके शाब्दिक विद्वान् गण जो जिस दर्शनके पण्डित हैं उसीके सर्वापेक्षा प्राधान्यस्थापनके लिये अनन्त शब्दाडम्बरकी रचना करते हैं और दूसरी ओर आत्माके ही विविध भावज्ञानके परिणामसे उत्पन्न विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत तथा अद्वैत आदि सम्प्रदायके शिष्यगण दार्शनिक भूमिभेदके विषयमें अज्ञानताके कारण अपने अपने साम्प्रदायिक अभिमानसे ग्रस्त होकर दूसरे सम्प्रदायों पर कठिन कटाक्षविक्षेप करते हुए अनन्त मनोमालिन्यका विस्तार करते हैं। जब प्रकृतिके साथ आत्माका सम्बन्ध तथा उस सम्बन्धके लाघव गौरवके अनुसार आत्माके यथार्थ स्वरूपकी अनुभूतिमें तारतम्य है तो नाना सम्प्रदाय, पन्थ आदि की उत्पत्ति स्वाभाविक है। किन्तु इस स्वभाव तथा ज्ञानभूमिके अनुसार अपनी स्थितिको न समझकर, केवल साम्प्रदायिक अभिमान या पाण्डित्यके अभिमानके वशवर्ती होकर शास्त्रीय विवाद या रागद्वेषका विस्तार करना नितान्त दुःखजनक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इस कारण दार्शनिक जगत्में प्रपञ्चित कोलाहलके निवृत्त करनेके लिये सप्त अज्ञान भूमि तथा सप्त दार्शनिक ज्ञानभूमिके अनुसार परमात्मा, जीवात्मा तथा ईश्वर स्वरूपका अनुभव करना अतीव आवश्यक है। अब नीचे इन विषयोंका कथञ्चित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

सप्तज्ञानभूमि और सप्तअज्ञानभूमिके विषयमें तथा सप्तज्ञान भूमिके नाम और लक्षणादिके विषयमें श्रीधीशगीतामें ऐसा वर्णन है :—

श्रीगणपतिदेवने महर्षियोंसे कहा है कि—

मुमुक्षून् स्वस्वरूपं मे नूनं नेतुं निरापदम् ।
श्रुतिभिर्वर्णिताः पूर्वं सप्तैव ज्ञानभूमयः ॥
विश्वबन्धनकर्त्रीषु सप्तस्वज्ञानभूमिषु ।
अज्ञानान्धाः सदा जीवा आसज्जन्ते विमोहिताः ॥
श्रौतानां कर्मकाण्डानां साहाय्यात् साधकाः खलु ।
पूर्वं शरीरसंशुद्धिं मनःशुद्धिं ततः परम् ॥
कृत्वा मदुपासनया चित्तवृत्तीः प्रशम्य च ।
अधिकारं लभन्तेऽन्ते तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभम् ॥
ततश्च क्रमशो विप्राः ! सोपानारोहणं यथा ।
ज्ञानभूमीश्च सप्तैवमतिक्रम्य शनैः शनैः ॥
ज्ञानपूर्णान्तरात्मानो मामन्ते प्राप्नुवन्ति ते ।
ज्ञानक्रमविकाशैर्हि पूर्णाः स्वाभाविकैरतः ॥
सप्तैता ज्ञानभूम्यो मे परासिद्धेः कृपावशात् ।
स्वरूपज्ञानसम्लब्धेर्वहन्ते हेतुतामलम् ॥

हे विप्रो ! मुमुक्षुओंको मेरे स्वस्वरूपमें अनायास अवश्य पहुँचानेके लिये श्रुतियोंने पूर्वकालमें सात ज्ञानभूमियोंका वर्णन किया है । विश्वमें बन्धन प्राप्त करानेवाली सात अज्ञानभूमियोंमें अज्ञानान्ध जीव विमोहित होकर सदा फँसे रहते हैं । वैदिक कर्मकाण्डोंकी सहायतासे साधक पहले शरीरकी शुद्धि, पश्चात् मनकी शुद्धि करके अनन्तर मेरी उपासनासे चित्तवृत्तियोंको प्रशान्त करके अन्तमें दुर्लभ तत्त्वज्ञानका अधिकार प्राप्त करते हैं एवं तदनन्तर जिस प्रकार मकानकी छतपर सोपानारोहणके द्वारा चढ़ा जाता है, उसी प्रकार इन सात ज्ञानभूमियोंको क्रमशः शनैः शनैः अतिक्रमण करके और

ज्ञानपरिपूर्णाशय होकर, आत्मज्ञानी अन्तमें मुक्तको प्राप्त होते हैं। इसी कारण स्वभावसिद्ध ज्ञानके क्रमविकाशसे पूर्ण ये सातों ज्ञान-भूमियाँ मेरी परासिद्धिकी अत्यन्त कृपासे स्वरूपज्ञानप्राप्तिकी कारण-रूपा हैं। उन सात ज्ञानभूमियोंके और सात अज्ञानभूमियोंके, नाम और स्वरूप नीचे बताये जाते हैं :—

> सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत् ।
> सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥
> लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
> षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
> यावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते ।
> तावज्जीवैरतिक्रम्याः सप्तैवाज्ञानभूमयः ॥
> उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका ।
> स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
> तृतीयाऽण्डजजातेश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
> जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥
> पञ्चकोषमपूर्णत्वाधिकारिमानवेष्वहो ।
> सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रो ह्यज्ञानभूमयः ॥
> तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः ।

उन सात ज्ञानभूमियोंमें पहली ज्ञानदा, दूसरी सन्न्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पाँचवीं सत्पदा, छठी आनन्द-पदा और सातवीं परात्परा नामकी ज्ञानभूमि है। जब तक प्रथम ज्ञानभूमि 'ज्ञानदा' नहीं प्राप्त होती है तब तक जीवोंको सातों अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण करना ही पड़ता है। उद्भिज्जोंके चिदा-काशमें प्रथम अज्ञानभूमिका स्थान है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञान भूमिका स्थान है, अण्डजोंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञान भूमिका स्थान है और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञान-

भूमिका स्थान है एवं पाँच कोषोंकी पूर्णताके अधिकारी मनुष्य-योनिमें, शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार माना गया है। ये ही तीनों उत्तम मध्यम और अधम अज्ञानभूमियाँ कहाती हैं।

अधम अज्ञान भूमिके अवलम्बनमें जबतक मनुष्य फसा रहता है, अपराध करनेपर उसकी तिर्य्यग्योनिमें उत्पत्ति दण्डरूपसे हुआ करती है। मध्यम अज्ञान भूमिके अधिकारी मनुष्योंको पितृलोक, नरकलोक और सुख दुःखोंसे पूर्ण मृत्युलोककी प्राप्ति बार बार होती है और उत्तम अज्ञानभूमि ऊर्द्ध्व स्वर्लोकको प्रदान करती है। अधम अज्ञानभूमिप्राप्त मनुष्य नास्तिक देहात्मवादी अशुचि और अनार्य्य होते हैं। मध्यम अज्ञान भूमिके अधिकारी मनुष्य आस्तिक होनेसे उत्तम तत्वोंकी चिन्ता करते हुए देहसे आत्माकी पृथक्तापर सर्वथा विश्वास करते हुए भी ऐहिक इन्द्रिय सुखमें निरन्तर मग्न रहते हैं। उत्तम अज्ञान भूमिके पुण्यवान् अधिकारी आत्मासे अतिरिक्त शक्तिका अस्तित्व मानकर स्वर्गीय सुखके अधिकारी हुआ करते हैं। अधम अज्ञानभूमि तमःप्रधान, मध्यम अज्ञान भूमि तमोरजःप्रधान और उत्तम अज्ञानभूमि रजःसत्वप्रधान कही गई है। इसके अनन्तर शुद्ध सत्वगुणके यथाक्रम विकाशके फलस्वरूप पुण्यवान् मनुष्योंके चित्ताकाशमें देवदुर्लभ सातों ज्ञानभूमियोंके अधिकारका भलीभांति निश्चय ही उदय होता है और क्रमशः सातों ज्ञानभूमियाँ साधकके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्वगुणकी वृद्धि निरन्तर भली भाँति करती हुई अन्तमें गुणातीत नित्य कैवल्यपदमें सुखपूर्वक पहुँचा देती हैं। इन सातों ज्ञानभूमियोंका साक्षात्सम्बन्ध, सातों वैदिक दर्शनोंके साथ यथाक्रम रक्खा गया है। प्रत्येक वैदिक दर्शनके श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा यथाक्रम जो अनुभव होता जाता है, यथाक्रम जो सिद्धान्तका उदय तत्वज्ञानी दार्शनिक पण्डितके हृदयमें होता जाता है और इन ज्ञानभूमियोंमें यथाक्रम आरोहण करते करते जिज्ञासु ज्ञानी व्यक्तिको आत्मतत्वका जैसा अनु-

भव होना सम्भव है उसका रहस्य श्रीधीरगीतामें ऐसा कहा गया है :—

यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्याया भूमिकायाश्चाऽनुभवः परिकीर्त्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः॥
मायाविलसितञ्चैतद्दृश्यते सर्व्वमेव हि।
न तत्र सोऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मैवेद जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः!॥

मुझे जो कुछ जानता था सो सब कुछ जान लिया है, यह प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव है, मुझे जो कुछ त्यागना था सो सब त्याग दिया है यह दूसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है, मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो कर ली है यह तीसरी ज्ञानभूमिका अनुभव है, मुझे सब कुछ मायाकी लीला दिखाई देती है मैं उसमें मोहित नहीं होता यह चतुर्थ ज्ञानभूमिका अनुभव है, जगत् ब्रह्म है यह पञ्चम ज्ञान भूमिका अनुभव है, ब्रह्म ही जगत् है यह षष्ठ ज्ञान भूमिका अनुभव है और मैं ही अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ यह सप्तम ज्ञान भूमिका अनुभव है। इसी भूमिको प्राप्त करके साधक ब्रह्मरूप हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठो! इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

जिस प्रकार किसी मकानकी छतपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ होती हैं उसी प्रकार स्वरूपज्ञानमें पहुँचनेके लिये तत्त्व ज्ञानकी ये

सात ज्ञानभूमियाँ सात पौढ़ियाँ हैं । ज्ञानदानाम्नी प्रथम ज्ञानभूमिमें मुमुक्षुगण अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं, उस समय जिज्ञासु स्थूल अवयवकोही परमाणुस्वरूपसे निश्चयपूर्वक नित्य मानकर स्थूल अवयवके विभागोंको षोडश संख्यामें देखकर वादकी सहायतासे विचारकर अथवा पर्य्यालोचनारूपी नेत्रोंके द्वारा सृष्टिको देख करके कुलालके समान परमात्माको केवल सृष्टिके कर्त्ता रूपसे अनुमान करनेमें समर्थ होते हैं। इस प्रथम ज्ञानभूमिमें तत्वज्ञानीके हृदयरूपी क्षेत्रमें आत्मज्ञानरूपी बीजका अङ्कुर अवश्य उत्पन्न हो जाता है, इस कारण ज्ञानिगण इस ज्ञानभूमिको 'ज्ञानदा' कहते हैं क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षुको ज्ञानरत्न देती है। इस ज्ञानभूमिमें पहुँच जानेसे और किसी न किसी प्रकारसे आत्मा की उपासनामें नियमपूर्वक लगे रहनेसे अवश्य मुमुक्षुओंके चित्तमें ज्ञानवायुसे हिलाई हुई अज्ञानवृक्षकी जड़ सर्वथा शिथिल हो जाती है। सन्यासदा नाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमिमें प्रतिष्ठित मुमुक्षुगण स्थूल शरीरको कुछ और भी निकटसे देखते हुए स्थूल अवयवोंमें ही मेरी सूक्ष्मशक्तियोंका निरन्तर अनुभव करते हुए धर्म्माऽधर्म्मका निर्णय करके अधर्म त्याग करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, इसी कारण इस ज्ञानभूमिका नाम 'संन्यासदा' कहा जाता है। योगदानाम्नी तीसरी ज्ञानभूमिमें मुमुक्षुगण चित्तवृत्तिनिरोधका उत्तम अभ्यास करते हुए संयमके द्वारा परमात्मा की शक्तिको और एकतत्वके अभ्यासके द्वारा परमात्मा अलग अलग रूपसे जब देखनेमें प्रवृत्त होते हैं तब साधकोंमें सूक्ष्मदृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्षका उदय होने लगता है। इसी कारण विज्ञगण इस ज्ञानभूमिको योगदा कहते हैं क्योंकि यह भूमि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगको भलीभाँति प्रदान करती है। लीलोन्मुक्तिनाम्नी चौथी ज्ञानभूमिमें पहुँचकर मुमुक्षुगण आत्माकी लीलामयी अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके तत्वको भलीभाँति पहचान जाते हैं, उस समय लीलामयी प्रकृति

अपनी लीलामें उनको पुनः नहीं फसाती है, इस कारण पण्डितगण इस ज्ञानभूमिको 'लीलोन्मुक्ति' कहते हैं। जब मुमुक्षुगण सत्पदानाम्नी पाँचवीं ज्ञानभूमिको प्राप्त करके अपने अन्तःकरणमें अभेदज्ञानको प्राप्त करने लग जाते हैं उस समय उनको अनुभवशक्ति विशेष बढ़ने लगती है इसमें कुछ विचारनेकी बात नहीं है। आत्मामें और प्रकृतिमें एकत्व होनेसे जो अभेद है और कारण स्वरूप तथा कार्य्यस्वरूपमें जो अभेद है उसको वैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा स्पष्ट समझनेमें समर्थ होते हैं और जगदुत्पत्तिकारक कर्म्मका रहस्य भली भाँति समझ कर जगत् ही मैं ही हूँ अर्थात् जगत् ही ब्रह्म है। इस प्रकारसे ब्रह्मको निस्सन्देह देखकर दृश्यमान कार्य्यब्रह्मकी सत्यता जान लेते हैं, इस कारण विद्वान् लोग इस ज्ञानभूमिको 'सत्पदा' कहते हैं क्योंकि इस ज्ञानभूमिके द्वारा सद्भावका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आनन्दपदानाम्नी षष्ठ ज्ञानभूमिमें पहुँच कर भक्त मुमुक्षुगण ब्रह्ममें ही जड़मय कर्म्मराज्य और चेतनमय दैवराज्यको एकाधारमें देखनेमें जब समर्थ होते हैं तब आत्माके रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करते हुए ब्रह्मको ही जगद्रूपमें देखकर अद्वैत आनन्दका उपभोग करते हैं; इस कारण इस ज्ञानभूमिको विद्वान् लोग आनन्दपदा कहते हैं क्योंकि साधकगण इस भूमिमें आनन्दको प्राप्त करते हैं। परात्परानाम्नी सप्तमी और अन्तिम ज्ञानभूमिमें पहुँच कर ज्ञानी भक्तगण कार्य्यकारणकी भेददृष्टिको लय करके ब्रह्म स्वरूपमें लय हो जाते हैं और उस समय भेदज्ञान के लयके साथही साथ उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें सर्वभूतोंमें ऐक्य उत्पन्न करनेवाले अद्वैतभावके उत्पादक एवं अज्ञानान्धकारके नाशक अविभक्तज्ञानका उदय होता है इसमें सन्देह नहीं, उस समय ज्ञानी भक्तोंमें और ब्रह्ममें भेदभाव नष्ट हो जाता है और वे स्वरूपज्ञानके अवलम्बनसे सत्यके ही स्वरूपमें लीन हो जाते हैं, इसलिये बुधगण इस ज्ञानभूमिको 'परात्परा' कहते हैं।

केवल भूमिभेद, अधिकारभेद और पुरुषार्थभेद होनेके कारण ही इन ज्ञानभूमियोंमें विरोधाभास प्रतीत होता है। पर्वतवासी मनुष्य जिस प्रकार अपनी गमनशैलीकी प्रशंसा और समतलवासी मनुष्योंकी गतिकी निन्दा करते हुए उनको अपने अनुरूप चलनेकी शैलीको अवश्य सिखाया करते हैं; उसी प्रकार एक ज्ञान भूमिका दर्शनशास्त्र दूसरी ज्ञानभूमिके दर्शनशास्त्रकी विज्ञानशैलीका कहीं खण्डन करता है, वह दूसरे मतका खण्डन नहीं है यह निश्चय है, प्रत्युत सर्वथा स्वमतका पोषक है; इसलिये ज्ञानी भक्तगण उस खण्डनको मण्डन समझते हैं। मनुष्य जब रात्रिके आकाशका वर्णन करता है तब स्वतः ही दिनके आकाशकी निन्दा अवश्य हो जाती है और कवियोंके द्वारा दिवाकाशकी प्रशंसा होने पर रात्रिके आकाशकी निन्दा स्वतः ही हो जाती है; उसी प्रकार इन सप्त-ज्ञानभूमियोंके सात दर्शनोंमें कहीं कहीं निन्दा और स्तुतिके वाक्य प्राप्त होते हैं जिनसे अल्पबुद्धियोंका मन क्षुब्ध होता है। केवल ज्ञानभूमियोंकी पृथक्तासे ही आत्मा चिन्मयस्वरूपमें पृथक् पृथक् दिखाई पड़ता है। यह पृथक्ता ज्ञानभूमियोंके कारण है तत्वतः नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य एक सोपानके द्वारा दूसरे सोपान पर क्रमशः आरोहण करता हुआ छत पर चढ़ ही जाता है, उसी प्रकार शास्त्रनिरत भक्तगण ब्रह्म तक पहुँच ही जाते हैं। शास्त्रान्तरोंके मतका भेद भी ऐसा ही जानना चाहिए। अध्यात्म-भावोंसे पूर्ण शास्त्रसमूहके ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेके कारण और अधिकारिभेदके लक्ष्यसे कहे जानेके कारण परस्पर इनका यथार्थ विरोध नहीं है अर्थात् सब एक ही हैं। वेदान्त शास्त्रने मायाको ब्रह्मकी आश्रयभूता और अनादि मानकर भी सान्त माना है इसी कारण यह शास्त्र जगत्‌को निःसन्देह मिथ्याकर प्रमाणित कर सका है। दैवीमीमांसा नामक उपासनाकाण्ड-सम्बन्धी हितकर भक्तिशास्त्रमें मायाको ब्रह्मशक्ति मानकर ब्रह्म और मायामें अभेद

बताया है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्‌में अभेद प्रसिद्ध है। जैसे मेरे साथ मेरी शक्तिका कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार निश्चय ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें भेद नहीं है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं। जैसे मेरीशक्ति मुझमें कभी अव्यक्त रहती है और कभी मुझसे व्यक्त (प्रकट) होकर अलग प्रतीत होती है उसी प्रकार उपासना शास्त्रके अनुसार सृष्टि-दशामें द्वैतवाद और मुक्तिदशामें अद्वैतवाद दोनों ही सिद्ध होते हैं। इस विज्ञानके अनुसार द्वैत और अद्वैतवादका कहीं किसी प्रकार कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार सांख्य आदि दर्शन शास्त्रोंके साथ वेदान्तका समन्वय भलीभांति होता है इसलिये शास्त्रोंमें विरोध की कल्पना उचित नहीं है।

ऊपर वर्णित सप्तज्ञान भूमियोंके साथ यथाक्रम न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन, योगदर्शन, सांख्यदर्शन, कर्ममीमांसादर्शन, दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शन अर्थात् वेदान्तदर्शनका सम्बन्ध है। दर्शनशास्त्रज्ञ बुद्धिमान् व्यक्ति, पूज्यपाद महर्षियोंकी असाधारण गवेषणापर ध्यान देनेसे और ऊपर लिखित ज्ञानभूमियोंके साथ सप्तवैदिक दर्शनोंकी विचारप्रणाली और लक्ष्यके मिलानेसे इस सिद्धान्तका रहस्य अति सुगमतासे हृदयङ्गम कर सकेंगे।

ब्रह्मके स्वरूपलक्षणको वर्णन करनेके लिये सब श्रुतियें एकवाक्य होकर बोलती हैं कि ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप प्रकृतिसे परे और मन, वाणी या बुद्धिसे अगोचर है। मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है कि:—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

ब्रह्म चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, पाणिपादवान् नहीं है, शरीरधर्मी नहीं है, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय और समस्त संसारके कारण हैं, जहाँ सकल विषय, सकल शब्द, सकल चिन्ता, सकल बुद्धिवृत्ति, सकल इन्द्रिय और विशेष, अविशेष, लिङ्ग, अलिङ्गरूप प्राकृतिक विभागका अन्त है वह ब्रह्म है। यही श्रुति

प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप है। परन्तु इस स्वरूपकी यथार्थ विवृत्ति प्रत्येक दर्शनमें क्यों नहीं मिलती? क्यों नहीं प्रत्येक दर्शनमें नित्य सत्य निर्गुण ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित है? दर्शनोंमें प्रतिपाद्य विषयकी भिन्नता क्यों दृष्टिगोचर होती है? अभ्रान्त विज्ञानमूलक दर्शन शास्त्र-समूह ऐसे भेदभावपूर्ण क्यों हैं? इसके तत्त्वानुसन्धान करनेसे यह तत्त्व शाखारुन्धती न्यायसदृश मालूम होता है। सप्तर्षिमण्डलान्तर्गत किसी सूक्ष्म ताराका नाम अरुन्धती है। वरवधूको एकदम अरुन्धती दिखाई जाय तो उनके देखनेमें नहीं आती, इसलिये विवेकी दर्शयिता प्रथमतः दर्शकको अरुन्धतीके पासके किसी स्थूल नक्षत्रको दिखाकर कहते हैं कि यही अरुन्धती है। पश्चात् उसके पासके और उससे सूक्ष्म किसी एक नक्षत्रको दिखाकर कहते हैं कि पहले जो नक्षत्र दिखलाया था वह अरुन्धती नहीं थी, पर यह अरुन्धती है। इस रीतिसे दर्शककी दृष्टि सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नक्षत्र पर डलवाकर अन्तमें अरुन्धती दिखलाई जाती है। इसी प्रकार दर्शनशास्त्रसमूह भी हैं। स्थूलतरसे स्थूल ताराओंको देखते हुए अन्तमें सूक्ष्मतम तारा अरुन्धतीके दर्शनके सदृश, क्रमोन्नत ज्ञानभूमिका अवलम्बन करते हुए प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण आत्माके विविध भावोंको अनुभव करते करते सप्तम ज्ञानभूमिमें पहुँचकर तत्त्वज्ञानी महापुरुष आत्मस्वरूपकी पूर्णतया उपलब्धि कर सकते हैं, वेदान्त प्रतिपाद्य निष्कल, निरञ्जन, शान्त और तुरीय दशाके निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करके ब्रह्म स्वरूप हो सकते हैं, संसारजाल खण्ड-विखण्ड कर सकते है, और चिद्भाव और आनन्दभावमें मग्न हो सकते हैं। अनन्त शास्त्रसिन्धुको मथन करके यही सत्यवस्तु उपलब्ध हुई है। वेद जलद-गम्भीर शब्दसे इसी सत्यकी घोषणा कर रहे हैं। सब दर्शन-शास्त्र इसी परमतत्त्वको लक्षीभूत करके अपनी अपनी भूमि पर चल रहे हैं। परन्तु प्राकृतिक-आवरण जनित बुद्धिमालिन्यके कारण इस परमतत्त्वका विकाश तत्काल नहीं होता है, अज्ञानान्धकारसे

आच्छन्न हृदयाकाशमें इस साथ सुधाकरकी किरण आल अली प्रकाशित नहीं होती है। जहाँ अविद्यारूप घनघटाका पूर्ण प्रभाव है वहाँ आत्म सुधाकर पूर्णरूपसे आच्छन्न है और वहीं नास्तिकताका पूर्ण विकाश है इसीलिये नास्तिक देहात्मबुद्धि हुआ करते हैं। नास्तिक्य मत पर विचार करनेसे हम लोग क्या देखते हैं? चार्वाक, लोकायतिक, दिगम्बर इत्यादि नास्तिकोंका मत यह है कि—

देहमात्रचैतन्यमेवाऽऽत्मा।
अथ चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्यनलाऽनिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
यावज्जीवेत्सुखंजीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

देहसे अतिरिक्त आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अन्नकणाओंके मिलानेसे जिस प्रकार मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्नि, इन चारों भूतोंके मिलनेसे आत्मा उत्पन्न हो जाती है और मृत्युके समय जब ये चार भूत अलग अलग हो जाते हैं तो साथ ही साथ आत्मा भी नष्ट हो जाता है। देहके नाशके साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाता है। पीछे कुछ नहीं रहता है। इसलिये ऋण लेकर भी घी पीना चाहिये जिससे शरीर पुष्ट रहे और दीर्घायु हो। इस प्रकार देहात्मभावयुक्त चित्तके लिये तत्काल अविद्यामेघनिर्मुक्त शुद्ध सच्चिदानन्दरूप निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करना असम्भव है। इसलिये "स्थूलोऽहं" "कृशोऽहं" इत्यादि नास्तिक्यवादमूलक युक्ति आस्तिक दर्शनोंमें खण्डित होकर दार्शनिक भूमिकी उन्नतिके अनुसार परमात्माका यथार्थरूप प्रकट किया जाता है। और तदनुसार उससे उन्नतर ज्ञानभूमिके दर्शनोंमें आत्मा स्थूलशरीर नहीं है, आत्मा सूक्ष्मशरीर नहीं है, आत्मा कारणशरीर नहीं है, आत्मा इन तीनों शरीरोंके धर्मसे युक्त नहीं है इत्यादि

सिद्धान्तसमूह निश्चय होकर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्व्वव्यापक परमात्माका यथार्थरूप प्रकटित होता है। ज्ञानकी उच्चकक्षा पर आरोहण करनेके लिये दर्शनशास्त्रसमूह सोपानस्वरूप हैं, इसलिये जो दर्शन जिस कक्षाका ज्ञान बतलाता है उसमें आत्मा और प्रकृतिका स्वरूप वैसा ही वर्णित होगा, और उस भूमि पर प्रतिष्ठित मुमुक्षु उतना ही आत्मतत्व जान सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करना यद्यपि सब दर्शनोंका लक्ष्य है तथापि ज्ञानभूमियोंके भेदसे सिद्धान्तोंमें अवश्य ही भेद पाये जाते हैं। इस ज्ञानभूमियोंके अनुसार सिद्धान्तोंके भेदको और रीतिसे भी समझ सकते हैं। पृथिवीसे सूर्य्य ९२०००००० नौ करोड़ बीस लाख मील दूर पर है। अगर कोई मनुष्य भूपृष्ठसे आरम्भ करके सूर्यका फोटो लेता हुआ ऊपर की ओर चले तो पृथिवी परसे खींचा हुआ जैसा सूर्य्यका फोटो होगा, उससे उन्नत स्थान परसे खींचा हुआ फोटो वैसा न होकर उससे भिन्न होगा और उससे भी उन्नत स्थानसे लिया हुआ फोटो पहलेसे भिन्न और बड़ा होगा, एवं अन्तमें ठीक स्थानसे सूर्य्यका फोटो लेनेसे यथार्थ फोटो मिलेगा। सूर्य्य एक ही है, परन्तु भूमि (फोटो खेंचनेके स्थान) के ऊँची नीची होनेसे फोटो अलग अलग हुए। सातों दर्शन ठीक उसी तरहसे परमात्माके फोटो लेनेवाले हैं, अर्थात् सभीका लक्ष्य परमात्माका स्वरूप प्रतिपादक होनेपर भी ज्ञानभूमिके भेदके अनुसार परमात्माके भिन्न भिन्न भावोंका प्रतिपादन होता है। तदनुसार इतर दर्शनभूमियोंमें प्रकृतिका सम्बन्ध विद्यमान रहनेके कारण परमात्माके तटस्थ लक्षणका क्रमोन्नतज्ञान होता है और सप्तम भूमिमें आकर वेदान्तप्रतिपाद्य स्वरूप लक्षणबोध निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होता है, वह कैसे सम्भव है सो नीचे दिखाया जाता है।

प्रथमतः "कृशोऽहं" "गौरोऽहं" इत्यादि स्थूल देहात्मबुद्धि जीवमें रहा करती है, इस विषयमें पहिले ही कहा जा चुका है अतः

पुनरुक्ति निष्फल है। इस देहात्मवादकी भूमिसे क्रमशः उच्चभूमि पर आनेवाले साधकका चित्त धीरे धीरे आस्तिक भूमि पर अग्रसर होता है। अतः इस प्रकारकी अवस्थाके साधकको एकाएक "तत्वमसि" "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि परमसूक्ष्म आत्मतत्वका उपदेश किया जाय तो यह उपदेश निष्फल हो जायगा और उसकी पुनः नास्तिक भूमिमें पतन की सम्भावना हो जायगी। इसलिये न्याय और वैशेषिक दर्शनमें प्रथम अधिकारीके लिये सुख दुःखादि अन्तःकरण धर्मविशिष्ट आत्मतत्वका उपदेश किया गया है। जो जिज्ञासु पहिले देहको ही आत्मा करके जानता था, उसको प्रथमतः इतना ही समझना ठीक है कि आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है और ज्ञान सुख दुःख इच्छा द्वेष इत्यादि अन्तःकरण-धर्म आत्माके हैं। इसका कारण यह है कि जब उक्त प्रकारका ज्ञान व विश्वास जिस जिज्ञासुके हृदयमें पहिलेसे ही दृढ़ है उसको देहातिरिक्त आत्मा है, इस ज्ञान को समझानेके समय उस विश्वासके विरुद्ध नहीं लेजाना चाहिये।

सांख्यप्रवचनके भाष्यकार विज्ञान भिक्षुने भी इस विषयमें कहा है। यथाः—

न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखीदुःखीत्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेनाऽऽत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशाऽसम्भवात्। तदीयं ज्ञानं देहाद्यात्मतानिरसनेन व्यावहारिकं तत्त्वज्ञानं भवत्येव। यथा पुरुषे स्थाणुभ्रमनिरासकतया करचरणादिमत्त्वज्ञानं, तद्वद्व्यवहारतस्तत्त्वज्ञानमपि।

एकाएक परमसूक्ष्म आत्मतत्वमें प्रवेश करना असम्भव है इसलिये आत्माकी स्थूल शरीरके साथ एकता तो खण्डन करके लोकसिद्ध सुख दुःखादिकोंके अनुवादपूर्वक न्याय और वैशेषिक दर्शनमें केवल स्थूल देहसे पृथक् आत्माको अनुमान कराया गया है

और अन्तःकरणके सुख दुःखादि धर्म्मके साथ आत्माका सम्बन्ध रक्खा गया है। एतादृश ज्ञान देहात्मवादको दूर करके व्यावहारिक तत्वज्ञानमात्र उत्पन्न करता है। जैसा कि करचरणादिज्ञानसे पुरुषमें स्थाणुका भ्रम दूर होता है। इसी तरह साधक जब नास्तिक्यभूमिसे उन्नत होकर आत्मज्ञान राज्यमें कथञ्चित् प्रवेश लाभ करते हैं तब साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन आत्माका और उन्नतर ज्ञान प्रकट करते हैं। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शनका सिद्धान्त यह है कि आत्मा सुख दुःखादि धर्म्मविशिष्ट नहीं है, ये सब अन्तःकरणके धर्म्म हैं। पुरुष असङ्ग और कूटस्थ है। जैसा साङ्ख्यमें कहा है कि:—

असङ्गोऽयं पुरुषः।

श्रूयते च—

सूर्य्यो यथा सर्व्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्व्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

पुरुष असङ्ग है। जैसे सूर्य्य सकल प्राणिमात्रके चक्षुरूप होने पर भी चाक्षुष दोषोंसे लिप्त नहीं होते हैं, ऐसे ही सर्वभूतान्तरात्मा पुरुष भूतगत सुख दुःखके द्वारा लिप्त नहीं होता है।

यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः।
रक्तकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः॥

जिस प्रकार स्फटिकमणिके सामने लाल रङ्ग लानेसे स्फटिकमणि लाल दीखने लगती है, परन्तु वास्तव में स्फटिक स्वच्छ है, लाल नहीं है, उसी तरह अन्तःकरण के सान्निध्यमें प्राप्त पुरुषमें सुख दुःख आदिके भोक्तृभावका उपचार होता है। इस प्रकार भोक्तृभाव औपचारिक है, तात्त्विक नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्लिप्त और निष्क्रिय है, यह बात श्रुतिसिद्ध है। मलिन दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बित होनेसे

दर्पणगत मालिन्य जैसा मुखमें प्रतीत होता है, ऐसा ही बुद्धिगत सुख दुःखादि व्यावहारिक दशामें निर्लिप्त और निष्क्रिय पुरुष पर प्रतीत होते हैं। समस्त क्रिया पुरुष प्रतिबिम्ब युक्त अन्तःकरणके द्वारा ही सिद्ध होती है। वास्तवतः पुरुष निर्गुण निष्क्रिय कर्तृत्वभोक्तृत्वादि-शून्य है। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन उल्लिखित भावसे आत्माका असङ्गत्व सिद्ध करने पर भी एकात्मवाद सिद्ध नहीं कर सकते। साङ्ख्यदर्शनके अनुसार पुरुष प्रतिपिण्डमें भिन्न भिन्न है। यथा.—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।

बहु पुरुष स्वीकार न करनेसे जन्मादिकी व्यवस्था नहीं होती।

तथा च कारिकायाम्:—

जन्ममरणकरणानाम् प्रतिनियमात् अयुगपत्
प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्य्ययाच्च ।

साङ्ख्य कारिकामें कहा है कि सब पुरुषोंका एक ही साथ जन्ममरण या इन्द्रियवैकल्य दृष्टिगोचर नहीं होता। सबकी प्रवृत्ति एक ही समय दृष्टिगोचर नहीं होती। एक पुरुषमें एक गुण प्रबल है और दूसरे पुरुषमें दूसरा गुण प्रबल है, अतः पुरुष बहु हैं। तत्वसमासके वृत्तिकारने इस विषयमें विस्तृत वर्णन किया है। यथा.-

सुखदुःखमोहसंकरविशुद्धकरणापाटवजन्ममरणकरणानाना-नात्वात्पुरुषबहुत्वं सिद्धं लोकाश्रमवर्णभेदाच्च। यद्येकः पुरुषः स्यादेकस्मिन्सुखिनि सर्व्वे एव सुखिनः स्युः, एकस्मिन्दुःखिनि सर्व्व एव दुःखिनः स्युः, एकस्मिन्मूढे सर्व एवमूढाः स्युः, एकस्मिन्संकीर्णे सर्व्वे एव संकीर्णाः स्युरेकस्मिन्विशुद्धे सर्व्वे विशुद्धाः स्युः, एकस्य करणपाटवे सर्व्वेषां करणपाटवं स्यात्, एकस्मिञ्जाते सर्व्वं जायेरन्, एकस्मिन्मृते सर्व्वे म्रियेरन्निति न चैक इतश्च बहवः पुरुषाः सिद्धाः ।

सुख, दुःख, मोह, शुद्धाशुद्धि, इन्द्रियवैकल्य, जन्म, मृत्यु, करणप्रभेद, वर्णाश्रम और लोकोंका तारतम्य देखकर बहु पुरुषवाद सिद्ध होता है। यदि पुरुष बहुत नहीं होते तो एकके सुखसे सब सुखी हो जाते। एकके दुःखसे सब दुःखी, एकके मोह होनेसे सबको मोह, एककी शुद्धिसे सबकी शुद्धि और एकके इन्द्रियवैकल्यसे सबको इन्द्रियवैकल्य होता। एकके जन्मसे सबका जन्म, और एकके मरणसे सबकी मृत्यु होती, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः पुरुष बहु हैं। इस तरहसे अनुमान प्रमाणके द्वारा साङ्ख्य दर्शनने बहु पुरुषवाद सिद्ध किया है। केवल अनुमान ही नहीं परन्तु यह बात अनुभवसिद्ध भी है। क्योंकि साङ्ख्यज्ञानभूमिमें जो आत्माकी उपलब्धि होती है सो जीव शरीरमें कूटस्थदशामें होती है। यह उपलब्धि तटस्थज्ञानकी है। साङ्ख्यज्ञानभूमिमें व्यापक और अद्वितीय परमात्मा ईश्वरकी उपलब्धि नहीं होती है, परन्तु प्रत्येक पिण्ड में पृथक् पृथक् जो कूटस्थ चैतन्य है उसकी उपलब्धि होती है। इसलिये साङ्ख्यका बहु पुरुषवाद उसकी ज्ञानभूमिके अनुकूल है। इस दशामें प्रकृतिका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता है, प्रकृतिका अस्तित्व रहता है इसलिये साङ्ख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि व अनन्त कहा है। इस दशा में पुरुष अपने स्वरूपको ऐसा देखलेता है कि वह प्रकृतिसे बद्ध नहीं है, उससे पृथक है और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, प्रकृतिका सम्बन्ध स्फटिकमणिवत् औपचारिक है, यथार्थतः नहीं है। इस प्रकार ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटीके साथ ही साङ्ख्यभूमिमें पुरुष का ज्ञान होता है।

इसके बाद मीमांसात्रयकी भूमि प्रारम्भ होती है। इनमें ब्रह्मकी स्वरूप लक्षणवेद्य अद्वितीय सत्ताका प्रतिपादन किया गया है। यह अद्वितीयता कार्य्य ब्रह्मके भावसे प्रारम्भ होकर प्रकृतिके लयके साथ ही साथ कारण ब्रह्ममें पर्य्यवसित होती है। कर्मका सम्बन्ध जगत्से है, इसलिये धर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसामें जगत्को ही ब्रह्म मान-

पर अद्वितीयताकी सिद्धिकी गई है। कर्म्ममीमांसाका विज्ञान साधक को प्रकृतिविलयमुखेन द्वैतमय जगत्‌ने अद्वैतमायमय ब्रह्मकी ओर ले जाता है। इस ज्ञानभूमिका साधक जगत् अर्थात् कार्य्यब्रह्म को कारणब्रह्मरूप कर जानकर उसीमें अपनी सत्ताको विलीन करके अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त करता है। इस भूमिमें तटस्थसे स्वरूपकी ओर साधककी गति होती है। ज्ञाननदीकी यह कल्याणमयी गति वेदान्त प्रतिपाद्य सच्चिदानन्द सागरकी ओर है और इसको समाप्ति वहीं जाकर होती है। इसके अनन्तर दैवीमीमांसा या उपासनाभूमिकी मीमांसा ब्रह्मकी उस अद्वितीयताको प्रकृतिकी ओर से प्रगट करके स्वरूपकी ओरसे दिखाती है। तदनुसार ब्रह्म ही जगत् है "वासुदेवः सर्व्वम्" यह ज्ञान उपासनाभूमिको सुशोभित करता है। यह मध्यभूमिका ज्ञान है। इसमें आत्माका यथार्थ ज्ञान उन्हींमें विलीन प्रकृतिके ज्ञानके साथ होता है। यहाँ तटस्थ-ज्ञान स्वरूपमें विलीनता प्राप्त होनेके मुखमें अवभासित होता है अर्थात् स्वरूपमें विलीन होना प्रारम्भ होने लगता है। उपनिषदोंमें इन दोनों भूमियोंके भावका वर्णन बहुत मिलता है। यथा मुण्डकोपनिषद् में:—

अधश्चोर्द्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

महासत्ता अधः ऊर्द्ध्व सर्व्वत्र व्याप्त है, यह महान् विश्व ब्रह्मका ही रूप है।

यह समस्त वर्णन कर्म्म मीमांसा-प्रतिपाद्य "जगत् ही ब्रह्म है" इस विज्ञान को स्पष्टतया प्रकट करता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में कई मन्त्र मिलते हैं जिनके द्वारा "ब्रह्म ही जगत् है" यह दैवीमीमांसादर्शनका विज्ञान स्पष्टतया प्रमाणित होता है। यथाः—

तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥

वह ही अग्नि है, आदित्य है, वायु चन्द्र और उज्ज्वल नक्षत्र है, वही प्रकृति जल और प्रजापति है। यह सब दैवीमीमांसादर्शन-भूमि

अर्थात् षष्ठभूमिका ज्ञान है जिसमें परमात्माकी व्यापकता नित्यता निर्लिप्तता और अद्वितीयता कार्य्यब्रह्मके साथ एकीकरण मुखेन उपलब्ध हुआ करती है।

तदनन्तर सप्तमभूमि अर्थात् वेदान्तभूमिका ज्ञान प्रारम्भ होता है। इसमें तटस्थ ज्ञानका गन्धमात्र भी नहीं है क्योंकि वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। साङ्ख्यभूमिमें जिस प्रकार पुरुष निर्लिप्त और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होने पर भी प्रकृतिके साथ स्फटिकमणिवत् औपचारिक सम्बन्धसे युक्त है, वेदान्तमें ऐसा नहीं है। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्ममें प्रकृति या मायाका अवभास बिलकुल नहीं है। वह स्वरूप मायाके राज्यसे बाहर है। माया उनके नीचे ईश्वरभावमें प्रतिफलित हुआ करती है। जैसा कि श्रुतिमें वर्णन है :—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्, पादोऽस्य सर्व्वभूतानि त्रिपा-
दस्याऽमृतं दिवि ॥

परमात्माके चार पाद हैं, उनके एक पादमें समस्त सृष्टि विलसित है, परन्तु और तीन पाद सृष्टिसे बाहर और अमृत हैं। यही तीन पाद ब्रह्मभाव है। इनमें सांख्यदर्शनकी रीति पर बहु पुरुषवाद नहीं है क्योंकि जिस मायाके साथ सम्बन्ध रहनेसे तटस्थ दशा में व्यापक और अद्वितीय आत्माका ज्ञान साङ्ख्यभूमिमें बाधित होता है, वह माया ही वेदान्त भूमिमें नहीं है, यहां मायाका लय है, इसलिये साङ्ख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि और अनन्त कहने पर भी वेदान्तमें मायाको अनादि और सान्त कहा है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्मकी स्वरूप दशामें मायाका सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता है और इसी लिये सर्व्वत्र एकाकार अद्वितीय शुद्ध सत्-चित्-आनन्दरूप परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। सांख्यकी रीतिपर यहां आत्मामें भोक्तृत्वका उपचार नहीं है, निर्गुण ब्रह्म कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्धसे रहित है और देशतः कालतः एवं वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है।

कालपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म नित्य है, देशपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म विभु है और वस्तुपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म पूर्ण है। वेदान्त राजयोगीको इसी निर्गुण परब्रह्मभावका ज्ञान कराता है। इस दशामें साधक निर्विकल्प समाधिमें अधिरूढ़ हो जाते हैं। यह दशा मौन व्याख्याप्रकटित है अर्थात् शब्द इसको वर्णन नहीं कर सकता है, इसलिये श्रुतिमें इस भावका वर्णन "नेति नेति" शब्दसे किया गया है। यथाः—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।

"प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं
मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः"।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"।

परब्रह्म मन वाणीसे अगोचर और प्रपञ्चसे बाहर है, वहाँ प्रपञ्चमयी मायाका लय है, इत्यादि।

इसी प्रकारसे श्रुतियोंमें वेदान्तभूमिप्रतिपाद्य ब्रह्मका स्वरूप लक्षण प्रतिपादन किया गया है। इसकी उपलब्धि करनेसे साधक कृतकृत्य हो जाता है, संसार जाल छिन्न करके मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है, यहाँ ही ज्ञान यज्ञकी पूर्णाहुति है, जीवनयज्ञका अवसान है। अतः ज्ञानभूमिके भेदानुसार परमात्माके भाव और अनुभवमें भिन्नता एवं अन्तमें स्वरूपका यथार्थ अनुभव श्रुति और दार्शनिक सिद्धान्तके अनुकूल है यह प्रमाणित हुआ। साधक इस रहस्यके समझने पर पथच्युत नहीं होता है। और दार्शनिक जगत्‌का अज्ञानजन्म निखिल कोलाहल भी यहाँ पर एक बार ही शान्त हो जाता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

उपसंहार।

पूज्यचरण दूरदर्शी महर्षिगण 'नवीन भारतके' सङ्कटमय समयके आविर्भावसे पूर्व ही ज्ञानदृष्टिके द्वारा विपत्तिमेघको दूरसे देखकर प्रतीकारके कैसे कैसे उपाय बता गये हैं सो इन दोनों खण्डोंमें विस्तारके साथ वर्णित किया गया। धर्मका अन्तिम लक्ष्य एक होनेपर भी युगानुसार मनुष्यहृदयमें धर्मभाव तथा धर्माधिकारका तारतम्य होता रहता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसी तारतम्यके अनुसार ही आर्यशास्त्रमें कहीं उत्तम कल्प, कहीं अनुकल्प और कहीं आपत्कल्पका विधान सुविचारपरायण महर्षियोंने किया है। उत्तालतरङ्गसमाकुल संसारसमुद्रमें दिग्भ्रान्त जीवनतरणीको पार उतारनेके लिये महर्षिगणप्रतिपादित आर्यशास्त्र ही ध्रुवतारा है और ज्ञानदर्शी मुनिगणके वचनोंमें ही त्रिविधतापसन्तप्त जीवनमें सुशीतलसुधासिञ्चनकी शक्ति भरी पड़ी है। इसलिये प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारके अनुसार किसी कल्पको ही शरण मनुष्य क्यों न लेवें, लक्ष्य उनका यही रहना चाहिये कि, उत्तमकल्पके द्वारा ही उत्तम गति प्राप्त होती है और आपदादि कल्प केवल कालके आक्रमणसे सामयिक परित्राणके अर्थ तात्कालिक उपायमात्र हैं। अतः जातीय जीवनशक्तिको अक्षुण्ण रखनेके लिये महर्षिवचनानुसार उत्तम कल्पकी ओर ही अधिक लक्ष्य रखना कर्तव्य है और गौण-कल्प या अनुकल्प केवल गौणविचारकोटिमें ही प्रविष्ट होने योग्य है। तथापि इस विशालग्रन्थमें अधिकारभेदके सामञ्जस्यके लिये वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, समाजसंस्कार आदि प्रबन्धोंमें सभी कल्पोंका विवेचन निष्पक्षरूपसे किया गया है और अन्तमें देशकालपात्रविचारसे सुष्ठु समाधान कर दिया गया है। धर्म-

जगत्, साम्यजगत्, राजनैतिकजगत् आदि ग्रन्थोंमें प्रतापसे इन सब जगतोंमें कैसे कैसे कोलाहल आजकल और किस सञ्जीवनीबूटीके प्रयोगसे समस्त कोलाहल विराट् हिन्दु कलेवर पुनः निरामय तथा विपुलोन्नतिमय बन हैं इसीका रहस्य निर्देश किया गया है। हिन्दुजाति पराधीनतापाशबद्ध होनेके कारण ऐसी दुर्दशाग्रस्त हो गयी है कभी कभी उसे अपनी माता पिता तथा जन्मभूमिका रहती है। अपने कलाकौशल, युद्धविद्या, शिल्पशास्त्र महिमाको यह जाति प्रायः स्मरण ही करना भूल गयी है। प्राचीन विद्याएं तो इसे स्वप्नवत् अलीक तथा प्रतीत होती हैं। इस दशामें इसे अपने होश सम्हालनेमें देना परम कर्त्तव्य जानकर 'आर्यजातिका आदिवासस्थान नेता' आदि ग्रन्थोंके द्वारा इस ओर हिन्दुजातिकी दृष्टि की गयी है। इस प्रकारसे प्राचीन नवीन सभी भावोंके पूर्ण करके 'नवीन भारत' को सर्वाङ्गसम्पूर्ण बनानेका विशेष किया गया है। यदि सहृदय गवेषणापरायण पाठकगण हृद्गत भावको हृदयङ्गम करके मनोयोगपूर्वक इस ग्रन्थका पाठ करेंगे और एतदनुसार विचारसरणीको करनेके लिये पुरुषार्थ करते रहेंगे तो हिन्दुजगत्का परमकल्याण ससाधित होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

सम्पूर्ण।

सनातनधर्मकी पुस्तकें।

धर्मकल्पद्रुम।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रंथ है। हिन्दू जाति आज पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी चाहती है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्मग्रंथकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अंग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायगे। अबतक इसके छः खण्डोंमें जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं.—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म, कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ ज्ञानयज्ञ महायज्ञ वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र (वेदोपांग स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता) आर्य्यजाति समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म, आपद्धर्म्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व, ऋषि, देवता और पितृतत्त्व,

जगत्, शास्त्रजगत्, राजनीतिजगत् आदि प्रबन्धोंमें
प्रलापसे इन सब जगतोंमें कैसे कैसे कोलाहल आरम्भ
और किस सर्जीवनीबूटीके प्रयोगसे समस्त
विराट् हिन्दु कलेवर पुनः निरामय तथा
है इसीका रहस्य निर्देश किया गया है। हिन्दुजाति
पराधीनतापाशबद्ध होनेके कारण ऐसी दुर्दशाग्रस्त हो
कभी कभी उसे अपना माता पिता तथा जन्मभूमितक ही
रहती है। अपने कलाकौशल, युद्धविद्या, शिल्पशास्त्र
महिमाको यह जाति प्रायः स्मरण ही करना भूल गयी है।
प्राचीन विद्याएं तो इसे स्वप्नवत् अलीक तथा
प्रतीत होती हैं। इस दशामें इसे अपने होश सम्हालनेमें
देना परम कर्त्तव्य जानकर 'आर्यजातिका आदिवासस्थान'
नेता' आदि प्रबन्धोंके द्वारा इस ओर हिन्दुजातिकी दृष्टि
की गया है। इस प्रकारसे प्राचीन नवीन सभी भावोंके
पूर्ण करके 'नवीन भारत' को सर्वाङ्गसम्पूर्ण बनानेका विशेष
किया गया है। यदि सहृदय गवेषणापरायण पाठकगण
हृद्गत भावको हृदयङ्गम करके मनोयोगपूर्वक इस
ग्रन्थका पाठ करेंगे और तदनुसार विचारसरणिको
करनेके लिये पुरुषार्थ करते रहेंगे तो हिन्दुजगत्में
परमकल्याण ससाधित होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

सम्पूर्ण।

सनातन धर्मकी पुस्तकें।

धर्मकल्पद्रुम।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दुधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दु जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायगे। अबतक इसके छः खण्डोंमें जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म, कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ ज्ञानयज्ञ महायज्ञ, वेद, वेदांग दर्शनशास्त्र (वेदोपांग स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता) आर्य्यजाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म, आपद्धर्म्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व, ऋषि, देवता और पितृतत्त्व,

इर होकर छप चुका है। यह ग्रंथ भी बी. ए. क्लासका पाठ्य। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षिप्तमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यहग्रन्थ हिन्दुशास्त्रोंकी बातें दर्पणवत् प्रकाशित करनेवाला है। यह ग्रन्थ द्वितीय वार्षिक एफ ए क्लासका पाठ्य है। [यन्त्रस्थ]

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

एन्ट्रेंस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी यह एक उत्तम धर्मकी पुस्तक है। इसमें सनातन धर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें भी कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोडश संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रंथके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरह जान सकेंगे। मूल्य १)

आचारचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। प्रातः कालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या किस लिये प्रत्येक हिन्दुस्तानको अवश्य ही पालने चाहिये रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है, और आधुनिक समयके इसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्वअङ्कित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गयी है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गयी हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका ।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर ।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठी कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १)

धर्मप्रश्नोत्तरी ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अति संक्षिप्तरूपसे इसी पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गयी है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयंगम कर सकेंगे। भाषा भी अति सरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ वीं

इस पुस्तकको मगावें। यह स्कूलकी ४ थी कक्षाकी पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाकी पाठ्य है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ~)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्य व्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिए। मूल्य ।) चार आना।

राजशिक्षा सोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रंथ बनाया गया है; परन्तु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातन धर्मके अंग और उसके तत्व अच्छी तरह बताये गए हैं। मूल्य ≥) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इस [illegible] का अनुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे [illegible] पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि, बालक और वृद्ध समान रूपसे इसमें साधनविषयक शिक्षालाभ कर सकते हैं। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका सार संग्रह इस ग्रंथमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझानेके लिए प्रत्येक सनातन धर्मावलम्बीके लिए यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान ।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत ही हितकारी है । मूल्य ≥) आना ।

उपदेश पारिजात ।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है । सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसे कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये भिन्न भिन्न योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है, इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं । संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है, और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है । मूल्य ॥) आठ आना ।

कल्कि पुराण ।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है ? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर, दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है । वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है । विशुद्ध हिन्दीअनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है । मूल्य १॥)

योगदर्शन ।

हिन्दीभाष्यसहित । इस प्रकारका हिन्दीभाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है । सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीकानिर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो । इस भाष्यके निर्माणमें पाठक उक्त विषयकी पूर्णता देखेंगे । प्रत्येक सूत्रका भाष्य, प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने

जीवोंके धर्माभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानो एक महान पथ निर्माण कर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुगम, परिवर्तित सरल किया गया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य।

इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं। यथा—आर्य्यजातिकी परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ साधन। यह प्रकरण [illegible] की उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सना वलम्बीको इस ग्रन्थका पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़ तत्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला भी छप चुका है। मूल्य १।)

निगमागमचन्द्रिका।

प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकती हैं। इन दोनों भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धी ऐसे ऐसे प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें वे इन पुस्तकोंको मगावें। प्रत्येकका मूल्य १)

मंत्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एक मात्र ग्रन्थ है इसमें नास्तिकोंके मूर्त्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रु०।

हठयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।) आना।

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीसहित। यह मूल वेदान्त ग्रंथ श्रीशंकराचार्य्यकृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना।

स्तोत्रकुसुमाञ्जली।

इसमें पञ्चदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति गङ्गादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मू० ।) आना।

दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग।

वेदके तीन काण्ड हैं। यथाः-कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, ज्ञानकाण्डका वेदान्तदर्शन कर्मकाण्डका जैमिनीदर्शन और भरद्वाजदर्शन और उपासनाकाण्डका यह अङ्गिरादर्शन है। इसका नाम दैवीमीमांसा दर्शन है। यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथा.—प्रथम रसपाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टिपाद, तीसरा स्थितिपाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति तथा उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। इस प्रथम भागमें इस दर्शनशास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-भाष्यसहित प्रकाशित हुए हैं। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है,

जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजीपर संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १)

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये गीताएं-श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये सन्यासगीता और ...कोंके लिये गुरुगीता भाषानुवादसहित छप चुकी हैं। महामण्डलने इन सात गीताओंका प्रकाशन निम्नलिखित उद्देश्योंसे किया है:-१ म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे अधर्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको महकारत्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहङ्कारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा, जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है, और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है, उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २ य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा उस समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। श्रीमहामण्डलप्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राज योगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परमतत्वका

स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीसहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रंथ है। विष्णुगीता मूल्य १) सूर्य्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ।॥) शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य ।॥) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबन्ध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

सनातन धर्म दीपिका।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

इस ग्रन्थमें धर्म, नित्यकर्म उपासना, अवतार, श्राद्धतर्पण, यज्ञोपवीत, संस्कार, वेद और पुराण, वर्णधर्म, नारीधर्म, ब्रह्मचर्य महिमा, शिक्षादर्श, गो सेवा, देशसेवा, तीर्थ सेवा, व्रतोत्सव रहस्य आदि बहुतसे विषय शास्त्रीय प्रमाण तथा वैज्ञानिक युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। (यन्त्रस्थ.)

धर्म कर्म दीपिका।

यह अपने ढंगका एक अनूठा ग्रंथ है। इसमें धर्म कर्मका रहस्य बड़े ही स्पष्ट रूपसे प्रश्नोत्तरकी रीतिसे दर्शाया गया है। प्रत्येक प्रश्नका समाधान शक्ति गीता, शम्भु गीता, विष्णु गीता, धीश गीता, आदिसे भगवद् वचनों ही के द्वारा कराया गया है। संस्कृतमें श्लोक देकर नीचे सरल और अति ललित हिन्दी भाषामें अर्थ दिया गया है। कर्म कर्त्ता और कारयिता दोनों ही के बड़े कामकी पुस्तक है। मूल्य ॥) मात्र है।

वर्णाश्रम संघ और स्वराज्य।

इसमें वर्णाश्रमसंघ और स्वराज्यका विस्तृत निरूपण, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, स्वराज्यकी आवश्यकता आदि विषय प्रश्नोत्तरके रूपमें दर्शाये गये हैं। प्रत्येक भारतीयको इसकी एक प्रति रखनी चाहिये। मूल्य ≈) मात्र है।

जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १)

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये गीताएं-श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, और श्रीशम्भुगीता एवं सन्यासियोंके लिये सन्यासगीता और ...कोंके लिये गुरुगीता भाषानुवादसहित छप चुकी हैं। महामण्डलने इन सात गीताओंका प्रकाशन निम्नलिखित उद्देश्योंसे किया है -१ म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे अधर्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको महकारत्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा, जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है, और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है, उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २ य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा ३य समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। सन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। श्रीमहामण्डलप्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राज योगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परमतत्वका

स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीसहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रंथ है। विष्णुगीता मूल्य १) सूर्य्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ।॥) शंभुगीताका मूल्य १) संन्यास गीताका मूल्य ।॥) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पाँच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबन्ध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

सनातन धर्म दीपिका।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

इस ग्रन्थमें धर्म, नित्यकर्म उपासना, अवतार, श्राद्धतर्पण, यज्ञोपवीत, संस्कार, वेद और पुराण, वर्णधर्म, नारीधर्म, ब्रह्मचर्य महिमा, शिक्षादर्श, गो सेवा, देशसेवा, तीर्थ सेवा, व्रतोत्सव रहस्य आदि बहुतसे विषय शास्त्रीय प्रमाण तथा वैज्ञानिक युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। (यन्त्रस्थ.)

धर्म कर्म दीपिका।

यह अपने ढंगका एक अनूठा ग्रंथ है। इसमें धर्म कर्मका रहस्य बड़े ही स्पष्ट रूपसे प्रश्नोत्तरकी रीतिसे दर्शाया गया है। प्रत्येक प्रश्नका समाधान शक्ति गीता, शम्भु गीता, विष्णु गीता, धीश गीता, आदिसे भगवद् वचनों ही के द्वारा कराया गया है। संस्कृतमें श्लोक देकर नीचे सरल और अति ललित हिन्दी भाषामें अर्थ दिया गया है। कर्म कर्त्ता और कारयिता दोनों ही के बड़े कामकी पुस्तक है। मूल्य ।॥) मात्र है।

वर्णाश्रम संघ और स्वराज्य।

इसमें वर्णाश्रमसंघ और स्वराज्यका विस्तृत निरूपण, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, स्वराज्यकी आवश्यकता आदि विषय प्रश्नोत्तरके रूपमें दर्शाये गये हैं। प्रत्येक भारतीयको इसकी एक प्रति रखनी चाहिये। मूल्य ≡) मात्र है।